अद्वैत वेदान्त

इतिहास तथा सिद्धान्त

डॉ. राममूर्ति शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, शास्त्री

भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के उपासक

राष्ट्रपति

महामहिम श्री वराहगिरि वेंकटगिरि

को

सविनय, सादर

ब्रह्म वेदान्तवाक्यैरेवावगम्यते

—शङ्कराचार्य

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः

—गौडपादकारिका, १।१०

भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा

—गौडपादकारिका, २।३३

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्॥

—गौडपादकारिका, २।३६

पुरोवाक्

वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद का सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की परम्परा में अति प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित रूप आचार्य शंकर ने प्रदान किया तथापि इसका प्रारूप वेदों तकमें मिल जाता है। अद्वैत-विषयक विचार समस्त संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व ही भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनेकता में एकता के दर्शन कर लिये थे। सृष्टि की समस्त विविधता के पीछे एकता है, जिससे उसका उद्भव हुआ है और जिसमें उसे समा जाना है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति यह उन्होंने जान लिया था। इस तथ्य को भी उन्होंने हृदयंगम कर लिया था कि परमार्थतत्त्व वस्तुतः एक है, उसे ही भिन्न नामों से पुकारा जाता है—एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। मायोपहित वह तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों को अपना लेता है—मायोपहिततत्त्वस्य विवर्तो बहुधामतः। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए माया के स्थान पर कालशक्ति को स्वीकार किया है और जन्म इत्यादि विकारों को तज्जन्य माना है—

> अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
> जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥

इस कालशक्ति की वेदान्त-सम्मत विक्षेप और आवरणशक्तियों के समकक्ष प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्तियों को उन्होंने स्वीकार किया है। किंच उनकी कालशक्ति का अद्वैत वेदान्त की माया से भी मूल भेद है। जबकि माया ब्रह्म से पृथक् है, कालशक्ति शब्द ब्रह्म से अभिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने भर्तृहरि-सिद्धान्त को शब्दाद्वैतवाद की संज्ञा दी है। वह समीचीन ही है।

अद्वैतवाद के अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। इस सिद्धान्त ने अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी में इस पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से कोई भी एक ऐसा ग्रन्थ नहीं था जिसमें इस महत्त्वपूर्ण दर्शन का सांगोपांग सैद्धान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादन हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना महत्त्व है। विद्वान् ग्रन्थकार का अद्वैतवाद का अध्ययन तलस्पर्शी है। उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में बहुत परिश्रम किया है। न केवल अद्वैतवाद को ही अपितु अन्य भारतीय दर्शनों को भी हृदयंगम कर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। मुझे आशा है कि विद्वत्समाज इसका समुचित आदर करेगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डा० सत्यव्रत शास्त्री
एम्. ए., एम्. ओ. एल्., पी-एच्. डी., व्याकरणाचार्य

उपस्थापन

अनुभूति एवं विचार मानवीय अन्तर्जगत् के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। दोनों ही पक्षों के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा अत्यधिक स्पष्ट है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैतभाव की प्रतिष्ठा तो इसी से समझी जा सकती है कि विश्व का परिष्कृत-भावभूमि-सम्पन्न प्रत्येक मानव अद्वैत-भाव एवं उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति को अपने जीवन की चरम उपलब्धि मानता है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैत वेदान्त की उक्त प्रतिष्ठा लौकिक एवं अलौकिक, दोनों ही दृष्टियों से है। जहां तक, अद्वैत वेदान्त दर्शन की वैचारिक प्रतिष्ठा की बात है, भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम एवं अमूल्य निधि—संहिताओं से ही अद्वैतसम्बन्धी विचार का दर्शन आरम्भ हो जाता है। आधुनिकतम विचारप्रधान एवं विश्वजनीन साहित्य के अन्तर्गत भी कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक होगा, जिसने अपने प्रयोजनीय लक्ष्य के मूल में अद्वैतपरक विचार का शिलान्यास न किया हो।

शास्त्रीय दृष्टि से भी अद्वैत दर्शन का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियां, यद्यपि अद्वैत वेदान्त की यत्किंचित् विरोधिनी हैं, परन्तु फिर भी इन पर उपनिषद्वर्ती अद्वैतपरक विचारसूत्रों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस्लामी दर्शन, यूनानी दर्शन एवं यूरोपीय दर्शन को भी भारतीय अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त से अमूल्य देन प्राप्त हुई है और इस देन को क्रमशः, डा० ताराचन्द एवं कामिल हुसैन, मेगस्थनीज और शोपेनहार आदि समालोचकों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन के महत्त्व की दिशा तो अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु यह आश्चर्य है कि इतने महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अनुशीलन व्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूप में पूर्ण नहीं हो सका है, जबकि ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन ही किसी सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप का परिचायक होता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, डा० दासगुप्त जैसे विद्वान् ने यदि कुछ प्रयत्न किया भी है, तो वह न्यून रूप में ही। परन्तु यह डा० दासगुप्त के अध्ययन की न्यूनता कदापि नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि डा० दासगुप्त का उद्देश्य भारतीय दर्शन जैसे विशाल शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास लिखना था, केवल अद्वैत वेदान्त का नहीं। अपने उद्देश्य की पूर्ति में डा० दासगुप्त पूर्णतया सफल हुए हैं, यह इस लेखक की निःसंदिग्ध मान्यता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, महा-महोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का भी कार्य स्तुत्य है। तन्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कविराज जी ने 'अच्युत' पुस्तिका के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म ऐतिह्य प्रस्तुत किया

है, परन्तु कविराज जी ने भी अठारहवीं शताब्दी तक के अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का ही उल्लेख किया है। अद्वैत वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों की समालोचना तो इस पुस्तिका में अनुपलब्ध ही है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन के दृष्टिकोण से, बंगला लेखक आशुतोष शास्त्री का 'वेदान्त-दर्शन-अद्वैतवाद' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इस ग्रन्थ के अन्तर्गत भी सिद्धान्त-समालोचना एवं तुलनात्मक-दृष्टिकोण की न्यूनता बनी रही है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक पूर्णता का भी उक्त ग्रन्थ में अभाव ही है। जहां तक, अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, कोई ऐसा ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया, जिसमें अद्वैत वेदान्त की न्याय आदि भारतीय-दर्शनपद्धतियों, वैष्णवदर्शनपद्धतियों, ग्रीकदर्शन, यूरोपीय दर्शन एवं इस्लामी दर्शन के साथ तुलनात्मक विवेचना उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद की शक्त्यद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञावाद, बौद्धविज्ञानवाद एवं शून्यवाद, योगवासिष्ठ के अद्वैतवाद, भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं गौड-पादाचार्य के अजातवाद आदि सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक समीक्षा भी, मेरे विचार से अत्यन्त अलभ्य ही है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन की उपर्युक्त न्यूनताओं के कारण ही इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार हो गया है। इन भ्रान्त धारणाओं का फल यहां तक हुआ है कि समालोचकों ने बौद्ध दर्शन के शून्यवाद को अद्वैतवाद एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया है। ऐसी ही अनेक विषमताओं के फलस्वरूप अद्वैत वेदान्त-सिद्धांत का मूल स्वरूप एवं महत्त्व दिन-प्रतिदिन आच्छन्न होता जा रहा है, यह स्पष्ट ही है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की उपर्युक्त महत्ता, उसके अपेक्षित अनुशीलन की अपूर्ति एवं अव्यवस्था, प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखन के मूल कारण हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के इतिहास एवं सिद्धान्तों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। दूसरे शब्दों में, यही इस प्रबन्ध की मौलिकता कही जा सकती है।

उपर्युक्त प्रयत्न के फलस्वरूप प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक महत्त्व एवं मूल्यांकन के सन्दर्भ में, अद्वैत वेदान्त का न्यायादि भारतीय दर्शन पद्धतियों, यूनानी दर्शन, विविध यूरोपीय दर्शन पद्धतियों एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे विश्व-दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त की महत्ता स्पष्ट हुई है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा के सैद्धान्तिक स्वरूप की समीक्षा भी, इस अध्याय के अन्तर्गत वर्तमान है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का भारतीय एवं विदेशीय दर्शन के सिद्धान्तों के साथ साम्य एवं सम्बन्ध स्पष्ट हुआ है। द्वितीय अध्याय से इस प्रबन्ध का ऐतिहासिक पक्ष प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में, ऋग्वेद से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य और काश्यप तक के काल का अद्वैत दर्शन का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता, तन्त्र-साहित्य, योगवासिष्ठ एवं उपर्युक्त बादरि आदि ऋषियों एवं आचार्यों के सिद्धान्तों में अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि की गवेषणा की गई है। उपर्युक्त ग्रन्थों एवं आचार्यों के सिद्धान्तों के अन्तर्गत अद्वैत दर्शन का अव्यवस्थित एवं असैद्धान्तिक इतिहास ही उपलब्ध होता है। परन्तु यह निश्चित है कि इन ग्रन्थों एवं आचार्यों की देन के द्वारा अद्वैत

वेदान्त की अत्यन्त पुष्ट पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है। तृतीय अध्याय में, पहले, शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी, टंक, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दरपाण्ड्य तथा गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के गुरु—गोविन्द भगवत्पाद की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में विचार किया गया है और फिर अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग विवेचन किया गया है। यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती साहित्य के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के सबल पृष्ठाधार का निर्माण तो हो चुका था, परन्तु अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित प्रतिपादन शंकराचार्य ने ही किया था। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद से सम्बद्ध ब्रह्म, जीव एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का सालोचन विवेचन किया गया है और इसके पश्चात् शंकराचार्य के पश्चाद्वर्ती सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पतिमिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोध भट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मा, विमुक्तात्मा, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि अठारहवीं शताब्दी तक के आचार्यों की दार्शनिक देन का निरूपण किया गया है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादकों में, पंचानन-तर्करत्न एवं महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री की दार्शनिक देन का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोबा आदि के व्यावहारिक अद्वैतवाद का निरूपण भी इस अध्याय के अन्तर्गत उपलब्ध है। इसके साथ-साथ अद्वैत वेदान्त के भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षकों का उल्लेख भी इस अध्याय के अन्त में वर्तमान है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत अद्वैतवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए, सगुण-निर्गुण, जगन्मिथ्यात्व, अज्ञान, अनिर्वचनीयख्यातिवाद, कार्य-कारणवाद, विवर्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद एवं सृष्टि-दृष्टिवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। पंचम अध्याय के अन्तर्गत भी अद्वैतवाद के दार्शनिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए अधिष्ठानवाद, अध्यासवाद, ईश्वरोपासनासम्बन्धी सिद्धान्त, मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त तथा वृत्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत 'काश्यां मरणान्मुक्ति' के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वैष्णवदर्शनपद्धतियों का विवेचन है। इस सम्बन्ध में, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य स्वामी, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण एवं अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्णतया तुलनात्मक अंश है। फलतः, इस अध्याय में, अद्वैतवाद की शाक्तों के शक्त्यद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद, योगवासिष्ठ के कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं गौडपादाचार्य के अजातवाद के साथ तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा वेदान्तिक अद्वैतवाद के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं का निराकरण भी हुआ है। उदाहरण के लिए, शंकराचार्य के सम्बन्ध में प्रचलित 'प्रच्छन्न बौद्धत्व' वाली धारणा का निराकरण, इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। अष्टम अध्याय, इस ग्रन्थ का उपसंहार रूप है। इस अध्याय में अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक विकास एवं स्वरूप के सम्बन्ध में एक विहंगम-दृष्टिपात किया गया है और इसके पश्चात् अद्वैतवाद दर्शन की विशेषताओं एवं उनके दार्शनिक तथा व्यावहारिक महत्त्व का निरूपण किया गया है। इस

सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवाद एक सफल जीवन-दर्शन का सिद्धान्त है।

उपर्युक्त विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन करते समय, लेखक ने प्रधानतया संस्कृत के मूल एवं टीका-ग्रन्थों का ही आश्रय लिया है, परन्तु आलोचनापद्धति के अन्तर्गत लिखे गए, अंग्रेजी, बंगला एवं हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में उपलब्ध ग्रन्थों से भी लेखक को पूर्ण सहायता मिली है। अपने कथन की पुष्टि एवं प्रामाणिकता के लिए लेखक ने संस्कृत के मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त डा० दासगुप्त और डा० राधाकृष्णन आदि समालोचक विद्वानों के ग्रन्थों को निःसंकोचभाव से उद्धृत किया है। यह लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है, जिनके ग्रन्थों का उसने प्रबन्ध-लेखन के सम्बन्ध में कुछ भी उपयोग किया है।

विषय की असाधारणता एवं उसकी क्षेत्रगत विशालता के कारण, अनुसन्धान काल में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों एवं सन्दिग्धताओं का उत्पन्न होना, कम-से-कम इस लेखक के लिए तो स्वाभाविक ही था। इस सम्बन्ध में लेखक ने भारतीय दर्शन के अनेक विद्वानों से परामर्श प्राप्त कर अपनी अपूर्णताओं के पूर्ण करने की चेष्टा की है।

अनुसन्धान काल के अन्तर्गत, अद्वैत वेदान्त के विशेषज्ञ विद्वान् जगद्गुरु शंकराचार्य, श्रीकृष्णबोधाश्रम जी महाराज (ज्योतिर्मठ) से जो आशीर्वाद, सत्परामर्श एवं प्रेरणा मिली है, उसके लिए मैं श्री शंकराचार्य जी के प्रति श्रद्धावनत हूं। इनके अतिरिक्त काशी में सुमेरुमठ (शंकराचार्य-मठ) के अधीश्वर पूज्यपाद स्वामी आनन्दबोधाश्रम जी महाराज का मैं अत्यधिक ऋणी हूं कि उनके आश्रम में सौविध्यपूर्वक दीर्घ काल तक रहकर वेदान्त का अध्ययन कर सका हूं। भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन्, महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ जी कविराज एवं डा० मंगलदेव जी शास्त्री (एम० ए०, डी० फिल०) का मैं अत्यधिक ऋणी हूं कि इन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय प्रदान कर प्रोत्साहित किया है।

श्रद्धेय डा० गोविन्दशरण जी त्रिगुणायत (एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०) से प्रस्तुत शोधकार्य में अपूर्व साहाय्य एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं कृतज्ञताज्ञापन पर्याप्त नहीं समझता।

संस्कृत-जगत् के प्रख्यात विद्वान् पद्मभूषण, डा० वे० राघवन, पंडित बदरीनाथ जी शुक्ल, डा० सिद्धेश्वर जी भट्टाचार्य एवं डा० एन० के० देवराज से भी वर्तमान शोधकार्य के सम्बन्ध में अनेक मूल्यवान् सुझाव उपलब्ध हुए हैं। इन सम्मान्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मुझे हर्ष है।

सम्मान्य डा० सत्यव्रत जी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, व्याकरणाचार्य, पी-एच० डी० (मनमोहन नाथ दर प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने अधिक व्यस्त रहने पर भी जो इस ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने का अनुग्रह किया है, वह उनके विद्वत् स्वभावजन्य स्नेह का ही परिणाम है। डा० सत्यव्रत जी से दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग को जो प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलता रहता है, वह किसी से छिपा नहीं है। उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना नितान्त स्वाभाविक है।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् एवं अनुरागी परमादरणीय डा० रामकरण जी शर्मा (निदेशक, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली तथा ऑफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी (संस्कृत), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के महान् सौजन्य से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त शिक्षा मन्त्रालय की ओर से जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया गया है, उसका मैं वस्तुतः ऋणी हूं। पी-एच० डी० तथा

डी० लिट्० उपाधियों के निमित्त किए गए शोधकार्य में विद्वत्सेवी श्री शम्भुनाथ जी खन्ना (मुरादाबाद) से जो सौविध्य प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। अपने परिवार के सदस्यों में धर्मपत्नी श्रीमती चेतन शर्मा, भ्रातृव्य श्रीकृष्ण शर्मा, अनुज वाचस्पति एवं आत्मज सुनीलकुमार का भी इस कृत्य में येन केन प्रकारेण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं इनका सर्वथा शुभैषी हूं। श्री रोहिताशकुमार शर्मा ने इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तैयारकरने में सहयोग दिया है, इसके लिए मैं इनके प्रति श्रेयस्काम हूं।

सरस्वती भवन पुस्तकालय, काशी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता, गोयनका लाइब्रेरी, काशी, दिल्ली विश्वविद्यालय लाइब्रेरी तथा के० जी० के० कॉलेज लाइब्रेरी, मुरादावाद के अधिकारियों से अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है, अतः ये सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

विद्वत्प्रेमी श्री कन्हैयालाल मलिक, प्रोप्राइटर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली बहुशः धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का अवसर दिया है। राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स के अध्यक्ष श्री श्यामकुमार जी गर्ग का भी मैं कृतज्ञ हूं कि उन्होंने इस ग्रन्थ को सुचारु रूप से मुद्रित करने में पूर्ण सहयोग दिया है। यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी ग्रन्थ में त्रुटियों का पाया जाना असम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में शुद्धि-पत्र भी दे दिया गया है, परन्तु इसका अपर्याप्त होना आश्चर्यजनक नहीं है। अन्त में, नीरक्षीर-विवेकी विद्वानों एवं जिज्ञासुजनों की सेवा में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का मुझे अपार हर्ष है।

संस्कृत विभाग (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—राममूर्ति शर्मा

२ : अद्वैतवाद का अव्यवस्थित इतिहास

३ : अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

४ : अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन, पूर्वार्द्ध

५ : अद्वैतवाद का स्वरूप-विवेचन, उत्तरार्द्ध

६ : अद्वैतवाद तथा अन्य विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद—तुलनात्मक अध्ययन

७ : अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन

८ : उपसंहार

परिशिष्ट

संकेत-निर्देश-सूची

अ० वे० सं०	अथर्व वेद संहिता
ई० उ०	ईशावास्य उपनिषद्
उ० सा०	उपदेश साहस्री
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ०	कठ उपनिषद्
गौ० का०	गौडपाद कारिका
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
पा० टि०	पाद टिप्पणी
प्र० पा० भा०	प्रशस्त पाद भाष्य
ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र
ब्र० सू० शा० भा०	ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० भा० वा०	बृहदारण्यक भाष्य-वार्त्तिक
म० का०	मध्यमक कारिक
मा० उ०	माण्डूक्य उपनिषद्
मा० का० वृ०	माध्यमिक कारिका वृत्ति
यो० वा०	योग वासिष्ठ
ल० सू०	लङ्कावतार सूत्र
वि० प्र० सं०	विवरण प्रमेय संग्रह
वे० सि० मु०	वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा० भा०	शांकर भाष्य
शा० भा० क० उ०	शांकर भाष्य कठ उपनिषद्
शा० भा० छा० उ०	शांकर भाष्य छान्दोग्य उपनिषद्
शा० भा० बृ० उ०	शांकर भाष्य बृहदारण्यक उपनिषद्
शा० भा० मा० उ०	शांकर भाष्य माण्डूक्य उपनिषद्
शा० भा० मा० का०	शांकर भाष्य माण्डूक्य कारिका

Abbreviation	Full form
सि० ले० सं०	सिद्धान्त लेश संग्रह
D. S. V.	Deussen's System of Vedanta
E. R. E.	Encyclopaedia of Religion & Ethics
J. A. O. S.	Journal of the American Oriental Society
S. B. S. B. E.	Shankar Bhashya, Sacred Books of the East

अद्वैत वेदान्त

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान

भारतीय एवं विदेशीय दर्शन के क्षेत्र में वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यों तो, संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद अद्वैतवाद, शाक्तयद्वैतवाद, शैवागम के अद्वैतवाद, बौद्ध अद्वैतवाद, योगवासिष्ठगत कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, भर्तृहरि-प्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद, गौड़पादीय अद्वैतवाद, मायावादपुष्ट शाङ्कर अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद एवं निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तों में अद्वैत शब्द का योग एवं अद्वैतवाद सिद्धान्त का न्यूनाधिक स्पर्श मिलता है, परन्तु इन समस्त सिद्धान्तों में, शाङ्कर अद्वैतवाद के अन्तर्गत अद्वैतवाद का जो पूर्णतया सैद्धान्तिक, सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण प्रतिपादन मिलता है, उसका उपर्युक्त अन्य सिद्धान्तों में कहीं अल्प और कहीं अत्यल्प रूप ही उपलब्ध होता है। अतः यहां स्पष्ट रूप से यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि दर्शन के क्षेत्र में शाङ्कर अद्वैतवाद का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि जब वेदान्तदर्शन की चर्चा होती है तो उससे प्रायः शाङ्कर दर्शन का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है और यही कारण है कि साधारणतया वेदान्तदर्शन से अद्वैत दर्शन का ही आशय ग्रहण किया जाता है।[१]

यहां अद्वैतवाद के अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार करना उपयुक्त होगा। **अमरकोश**[२] में बुद्ध के लिए अद्वयवादी शब्द का प्रयोग किया गया है।

हलायुधकोश[३] के अन्तर्गत भी अद्वयवादी का उल्लेख मिलता है। यहां अद्वयता से एकमात्र आत्मा की ही सत्यता का आशय ग्रहण किया गया है।[४] **वाचस्पत्यम्** में अद्वैत शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

द्विधा इतम् द्वीतं तस्य भावः द्वैतम् भेदो—नास्ति द्वैतं भेदो यत्र (तदद्वैतम्)।

---

१. *Dr. S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. 1, p. 429

२. अमरकोश, १।१४

३. हलायुधकोश, १।८५

४. अद्वयं सर्वमेव चित्स्वरूपं नात्मनोऽन्यत् किंचनेति वदति।
हलायुधकोश विवृति, पृ० ११४, (सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, शकाब्द १८७९)

प्रकार कह सकते हैं कि अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य का सम्बन्ध घनिष्ठ है।[१] शङ्कराचार्य ने अद्वैतवाद के प्रतिपादन के द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन किया था।[२] शङ्कराचार्य ने अद्वैततत्त्व को निर्गुण सत्य के रूप में स्वीकार किया था।[३]

जगत् की स्थिति का विवेचन शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर किया था।

जहां तक दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद के स्थान, महत्त्व एवं देन की बात है, विभिन्न भारतीय एवं विदेशीय दर्शन-पद्धतियों के लिए अद्वैतवाद ने कुछ-न-कुछ देन अवश्य दी है। इस देन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत ग्रन्थ में अद्वैतवाद का विविध भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय स्वतः हो जायगा। इसके अतिरिक्त वैदिक सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या एवं समन्वय अद्वैतवाद के पोषक शाङ्कर वेदान्त में मिलता है वैसा न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योगदर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।[४]

वैदिक सिद्धान्तों के समन्वय की प्रतिष्ठा जैसी अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मिलती है, वैसी विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद आदि वैष्णव सिद्धान्तों के अन्तर्गत अप्राप्य है। यही नहीं, शाङ्कर वेदान्तसम्मत अद्वैत सिद्धान्त इतना विस्तृत है कि उसके परवर्ती विशिष्टाद्वैतवाद एवं द्वैतवाद सिद्धान्तों की भी स्थिति उसमें आसानी से देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहना समीचीन ही होगा कि विविध वैष्णव दर्शन-पद्धतियों के विकास में शाङ्कर अद्वैतवाद का अत्यन्त महान् योग है। वस्तुतः शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों—किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।[५]

उपर्युक्त भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त इस्लामी दर्शन को भी अद्वैत वेदान्त से दार्शनिक देन प्राप्त हुई है। जैसा कि, इसी अध्याय में आगे चल कर स्पष्ट होगा,

---

१. "अद्वैतवेदान्त वोलिले शङ्कराचार्य के वूझाय एवं शङ्कराचार्य वोलिले अद्वैत वेदान्त वूझाय।" (आशुतोषशास्त्री, वेदान्तदर्शन—अद्वैतवाद (प्रथम खंड), पृ० १४७, (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय)।

२. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।—विवेकचूडामणि २०

३. *Thibaut, S.B.E*: Vol. XXXIV, Introduction, p. XXX (Oxford clarendon Press, 1890)

४. Indian Historical quarterly, Vol. VI (1930) p. 108, (S. K. Mukherjee's article—Sankara on the relation between the Vedas and Reason).

५. The Vaishnavites, the Savites & the Saktas, the Mimanskas, the Vishishtadvaitas & the Dvaitas, the Vaidikas, the Tantrikas & the Mantrikas, all these, & others yet to come, irrespective of their faith or creed or practice have a place in the wonderful system of philosophy, evolved & perfected by the revered Sankara. (*Indian Historical*; Quarterly, p. 692, 1920)

अद्वैत वेदान्त एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है, इसीलिए इस दर्शन के डा० ताराचन्द और कामिलहुसैन आदि समालोचकों ने इस्लामी दर्शन पर दर्शन का प्रभाव निःसङ्कोच स्वीकार किया है।[१]

इस प्रकार भारतीय दर्शन एवं इस्लामी दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का धिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में भी अद्वैत वेदान्त का स्थान एवं महत्त्व किसी प्रकार कम है। इतना ही नहीं, ग्रीक दार्शनिकों तथा फ्रांस एवं जर्मनी आदि देशों के अनेक दार्शनिक अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी स्पष्ट है। इस प्रभाव का उल्लेख इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठ किया जाएगा।

ग्रीक दर्शन पर अद्वैत वेदान्त के प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त ही है भारतीय औपनिषद वेदान्त के मुक्ति आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें ग्रीक दार्शनिकों ने रूप में ग्रहण किया था।[२] यही कारण है कि क्सेनोफेन, डीलस, परमेनिद्, ज़ेनो, प्लेटो और अर के दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद सिद्धान्त के बहुत-कुछ समान हैं। इन सिद्धान्तों के साम्य वैषम्य का उल्लेख भी इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

जहां तक डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्निज़, बर्कले, काण्ट, फिकते, शेलिंग, हेगल, शोपेनह आदि पाश्चात्य दार्शनिकों और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रश्न है, इन दार्शनिकों अद्वैतवाद दर्शन से अत्यन्त प्रौढ़ एवं स्पष्ट देन प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध में शोपेनहार प्रभृ पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों की यह न्यायशीलता उल्लेखनीय है कि उन्होंने औपनिषद वेदान एवं अद्वैतवाद के समर्थक शाङ्कर वेदान्त की देन एवं महत्ता को स्वीकार करने में प्रसन्नता क अनुभव किया है।[३]

जैसा कि इस अध्याय के अन्तर्गत आगामी विवेचन से स्पष्ट हो जायगा, बर्कले, काण्ट एवं हेगल आदि दार्शनिकों पर भारतीय अद्वैतवाद का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेखक के उक्त मत का युक्तिपूर्ण निर्णय प्रथम, षष्ठ एवं सप्तम अध्याय के अन्तर्गत किये गए तुलनात्मक विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

अब हम इस अध्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा विविध

---

१. डा० ताराचन्द एवं कामिलहुसैन का लेख Growth of Islamic thought in India (HISTORY OF PHILOSOPHY, p. 491).

२. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 16 (Routledge and Reganpaul, 1955 (Works, Calcutta, Ed. I, pp. 20, 125, 127.)

३. *Schopenhaur* : Preface to the first edition of The World as Will & Idea, Translated by Huldane & Kemp; *Frederick Schlegel* : Indian Language, Literature & Philosophy, p. 471 तथा देखिए—मनसुखराम सूर्यराम, विचार-सागर, पृ० ५

पाश्चात्य दार्शनिकों एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त

अद्वैतवाद और न्यायदर्शन के तौलनिक विवेचन के लिए न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

न्यायदर्शन के गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिए न्याय शब्द का अर्थ भी अत्यन्त विचारणीय है। न्यायदर्शन का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं औपनिषद शास्त्रार्थों और विद्वानों के वाद-विवादों में मिलता है जिनमें विद्वान् लोग एक-दूसरे को परास्त करना ही अपने वैदुष्य का चरम लक्ष्य समझने लगे थे। मेरा विचार है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों में विद्वानों की रुचि इतनी बढ़ गई होगी कि उन्होंने इस शास्त्रार्थ-प्रणाली को पृथक् अध्ययन का विषय बना लिया होगा। यही शास्त्रार्थ जातुचित् "वाको वाक्य" के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। आपस्तम्ब ने, जो विद्वान् बूहलर (Buhler) के मतानुसार, ईसा-पूर्व तीसरी शती में वर्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है। इस तथ्य का उल्लेख बोडस (Bodas) महोदय ने अपने "हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ इण्डियन लॉजिक" नामक लेख के अन्तर्गत किया है।

प्राचीन काल में न्याय के लिए 'आन्वीक्षिकी' विद्या का व्यवहार होता था। 'आन्वीक्षिकी' का उल्लेख उपनिषदों[१], रामायण[२], महाभारत[३], मनुस्मृति[४], गौतमधर्मसूत्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। न्याय शब्द का एक प्राचीन अर्थ किसी वस्तु का औचित्य-निर्णय भी है। इसी आधार पर भाष्यकार वात्स्यायन और वाचस्पतिमिश्र ने न्याय की परिभाषा—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' (विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा करना ही न्याय है) स्वीकार की है।[७] प्राचीन काल में न्यायशास्त्र 'हेतुशास्त्र,' 'हेतुविद्या,' 'तर्कविद्या', 'तर्कशास्त्र', 'वाद-विद्या', 'न्यायविद्या', 'प्रमाणशास्त्र', 'तक्की', 'विमंसी' आदि अभिधानों से भी प्रसिद्ध रहा है। मेरा विचार है कि न्याय के इस प्राचीन रूप में केवल तर्कशास्त्री की ही योजना थी। अध्यात्मदर्शन इस प्राचीन न्याय का अंग नहीं था।

प्राचीन और नव्य न्याय

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो सहस्र वर्ष प्राचीन है। इस दर्शन की दो प्रसिद्ध धाराएँ हैं। पहली धारा के उद्गम-स्थल, सूत्रकार गौतम के सूत्र हैं और दूसरी धारा का उत्पत्ति-स्थान बारहवीं शती के उपाध्याय गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि है। प्रथम धारा प्राचीन न्याय की प्रवर्तक है और दूसरी नव्य न्याय की। प्रथम धारा (प्राचीन न्याय) षोडश पदार्थों के निरूपण के कारण 'पदार्थमीमांसात्मक' अर्थात् 'कैटेगोरिस्टिक' प्रणाली कहलायेगी। दूसरी

---

१. बृहदारण्यक, उ०, १२।४।५; छा० उ०, ७।१।२
२. अयोध्याकाण्ड, १००-३९
३. शान्तिपर्व, १८०।४७
४. शांतिपर्व, ७।४३
५. शांतिपर्व, ११।३
६. शांतिपर्व, १।२-७
७. वात्स्यायन-न्यायभाष्य, १।१।१; वाचस्पति : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १।१।१

(नव्य न्याय) प्रणाली के अन्तर्गत प्रमाणों की मीमांसा होने के कारण उसे 'प्रमाणमीमांसात्मक' अर्थात् 'एपिस्टेमोलोजिकल' कहा जाएगा।

प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर

प्राचीन और नव्य न्याय की मूल दृष्टियों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन न्याय अध्यात्म-प्रधान है और नव्य न्याय शुष्क तर्कप्रधान। यों, प्राचीन न्याय में भी तर्क की कम योजना नहीं है; 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक की प्रमेय-योजना वस्तुतः तर्क की ही साधिका है। परन्तु बौद्धों के साथ हुए प्रतिवाद के फलस्वरूप नव्य न्याय की तार्किक भूमि अधिक सुन्दर एवं आकर्षक है। इसका कारण यह है कि प्राचीन न्याय का ध्येय मुक्ति था और नव्य न्याय का केवल शुष्क तर्क।

न्यायदर्शन की प्रक्रिया

भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए भिन्न-भिन्न प्रमाणों की योजना की गई है। उदाहरण के लिए, चार्वाक ने एकमात्र 'प्रत्यक्ष' को ही प्रमाण स्वीकार किया है; वैशेषिकों तथा बौद्धों ने प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त शब्द-प्रमाण को भी स्वीकार किया गया है। मीमांसक प्रभाकर मिश्र ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान तथा अर्थापत्ति, ये दो प्रमाण और माने हैं। मीमांसक कुमारिल तथा वेदान्तियों ने उपर्युक्त प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के अतिरिक्त अभाव-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। पौराणिकों ने प्रत्यक्षादि छः के साथ साथ 'संभव' और 'ऐतिह्य' को मिलाकर आठ प्रमाण माने हैं।[1] अब रही न्यायदर्शन की बात। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ने प्रमेय[2] ज्ञान के लिए चार प्रकार के प्रमाणों[3] को स्वीकार किया है।[4] ये चार प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द हैं। न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'आत्मा,' 'शरीर,' 'इन्द्रिय,' 'अर्थ,' 'बुद्धि,' 'मनस्,' 'प्रवृत्ति,' 'दोष,' 'प्रेत्य भाव,' 'फल,' 'दुःख' तथा 'अपवर्ग', ये बारह प्रमेय माने गए हैं।[5] इन १२ प्रमेयों तथा ४ प्रमाणों के ज्ञान के द्वारा पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् साधक को संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन चौदह पदार्थों का ज्ञान भी परम तत्त्व के ज्ञान के लिए परमावश्यक है।

---

१. विस्तृत देखिए—उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० १८३ (सूचना विभाग, उ० प्र० लखनऊ, १९५७)

२. प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वे 'प्रमेय' कहलाते हैं।

३. मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

४. न्यायसूत्र, १।१।३

५. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।

—न्यायसूत्र, १।१।९

न्यायदर्शन में आत्मा और मुक्ति का स्वरूप

न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण है ।[१] यहां आत्मा से जीवात्मा का ही तात्पर्य है, परमात्मा का नहीं । यही जीवात्मा बद्ध आत्मा है । सुख-दुःख के वैचित्र्य के कारण जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है । यह आत्मा विभु और नित्य है । प्रत्येक जीवात्मा प्रति शरीर में पृथक् रूप से सुख-दुःख आदि का भोक्ता है । मुक्त होने पर भी जीवात्मा स्वतन्त्र रूप से एक-दूसरे से भिन्न ही रहता है । इस प्रकार नैयायिक अनेकजीववाद का ही समर्थक है । ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये चौदह जीवात्मा के गुण हैं ।[२] सूत्रकार ने आत्मा के मोक्ष के सम्बन्ध में कहा है – **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**, अर्थात् दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं ।[३] यहां अत्यन्त से पुनर्जन्म के बन्धन के नाश का अभिप्राय है ।[४] मुक्तावस्था में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, इन नव गुणों का मूलोच्छेद हो जाता है । न्यायमंजरीकार ने मुक्त आत्मा के स्वरूप का परिचय देते हुए लिखा है कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित तथा अखिल गुणों से विरहित रहता है । मुक्त आत्मा ऊर्मिषट्क को पार कर लेता है । ऊर्मिषट्क से भूख-प्यास, लोभ-मोह तथा शीत-आतप का तात्पर्य है । मुक्त आत्मा दुःख-क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है ।[५]

नैयायिक की अन्यथाख्याति

ख्यातिवाद भारतीय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है । भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न ख्यातियों को स्वीकार किया गया है । विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज सत्ख्यातिवाद, प्रभाकर मीमांसक अख्यातिवाद, विज्ञानवादी बौद्ध आत्मख्यातिवाद, शून्यवादी बौद्ध असत्ख्यातिवाद और शाङ्कर-वेदान्तानुयायी अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को स्वीकार करते हैं ।[६] नैयायिक अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थक है । अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रम विपर्ययमूलक है न कि विषय-मूलक । भाष्यकार वात्स्यायन ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—"तत्त्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धि-निवर्त्यते नार्थः[७]" अर्थात्, तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों-का-त्यों वर्तमान रहता है। इस प्रकार किसी वस्तु के धर्मो का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथा-ख्याति है ।

न्यायदर्शन और असत्कार्यवाद

न्यायदर्शन में कार्य-कारण का विचार करते समय असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को

---

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा । —तर्कसंग्रह, आत्मनिरूपण ।
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०
३. न्यायसूत्र, १।१।२२
४. अत्यन्तमिति पुनरावृत्तिराहित्यम् । —न्यायभाष्य, १।१।२२
५. न्यायमंजरी, पृ० ७७
६. विस्तृत देखिए—डा० राममूर्ति शर्मा : शङ्कराचार्य, प्र० सं०, पृ० १४३-१६१
६. न्यायभाष्य, ४।२३।५
७. ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्घात

स्वीकार किया गया है। नैयायिकों के अनुसार कारण का लक्षण—अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्,[१] अर्थात् किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना हो और जो अन्यथासिद्ध[२] न हो, किया गया है। कार्य का लक्षण नैयायिकों ने 'कार्य प्रागभाव-प्रतियोगी' अर्थात् 'प्रागभाव के प्रतियोगी की संज्ञा कार्य है' किया है। असत्-कार्यवादी होने के कारण नैयायिक कारण में कार्य की सत्ता को नहीं स्वीकार करता। कारण में कार्य की सत्ता न स्वीकार करने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम असत्कार्यवाद पड़ा है।

अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

वैसे तो, अद्वैतवेदान्त दर्शन न्यायदर्शन का प्रतिपक्षी दर्शन है। अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत न्यायदर्शन के—कार्य-कारणवाद, परमाणुवाद, समवायसम्बन्ध एवं नैयायिक की जाति आदि का प्रबल खण्डन किया है। परन्तु अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन के सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध होते हुए भी दोनों की दार्शनिक विचारधाराओं की मूल पृष्ठभूमियों में पर्याप्त साम्य है। क्लेशमय संसार के प्रति असारता का दृष्टिकोण, मिथ्याज्ञानानुभूति की विचारधारा और ईश्वर एवं मुक्ति-सम्बन्धी विवेचन दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में मिलते हैं। यह बात दूसरी है कि वेदान्ती की दृष्टि से अविद्या-निवृत्ति आत्मबोध होने पर होती है और नैयायिक की दृष्टि से संशयादि चतुर्दश पदार्थों, प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों और आत्मा आदि द्वादश प्रमेयों का ज्ञान होने के पश्चात्।[३] जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के मतानुसार मिथ्या माया मोक्षमार्ग में बाधक है, उसी प्रकार न्याय-दर्शन के अनुसार भी मिथ्या ज्ञान ही अपवर्ग का प्रथम बाधक कारण है।[४] न्यायदर्शन में मोक्ष की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोष, दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के नष्ट होने पर जन्म और जन्म का विनाश होने पर दुःख का नाश होता है।[५] जगत् की सत्ता का आधार भी दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक-सा ही प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि वेदान्त-दृष्टि से यदि जगत् की सत्ता माया पर आधारित है तो नैयायिक की दृष्टि से परमाणु पर। इसी तथ्य को प्रकाश में लाते हुए दार्शनिक विज्ञान-भिक्षु ने अपने योगवार्तिक में बृहद्वाशिष्ठ के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए लिखा है :

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणुम्॥

---

१. दीपिका, पृ० २५ तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका, १६
२. जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, उसे अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे घट-निर्माण में दण्ड, दण्डरूप, आकाश, कुलालपिता तथा मृत्तिकावाहक गर्दभ अन्यथासिद्ध हैं। क्योंकि इनके बिना भी घट-निर्माण हो सकता है।
३. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। —न्यायसूत्र, १।१।१
४. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः।
—न्यायसूत्र, १।१।२
५. विशेष देखिए—महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुवाद एवं व्याख्या न्यायसूत्र, १।१।२ (Sacred Books of the Hindus, vol. viii, p. 2 & 3; (Panini office, Allahabad, 1930)

न्याय और अद्वैतवेदान्त की मुक्ति

नैयायिक उद्योतकर ने जो निःश्रेयस् के अपर निःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्, ये दो भाग किए हैं,[१] वे भी अद्वैतवेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-सम्बन्धी विचारधाराओं के अत्यन्त समीप हैं। उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त अपर निःश्रेयस् जीवन्मुक्ति और परनिःश्रेयस् विदेहमुक्ति की विचारधारा है। उद्योतकर ने अपर निःश्रेयस् के रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपर निःश्रेयस् तत्त्वज्ञान के पश्चात् ही उपलब्ध हो जाता है।[२] यही अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति का स्वरूप है। अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति के अनुसार अविद्यानिवृत्ति के फलस्वरूप आत्मबोध होने पर जीव बन्धन से मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले गतकर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना ही पड़ता है।[३] जहां तक परनिःश्रेयस् का प्रश्न है, वाचस्पति ने अपनी तात्पर्यटीका में परनिःश्रेयस् को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक परनिःश्रेयस् की उपलब्धि नहीं होती।[४] ठीक यही बात शङ्कराचार्य ने विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में कही है। आचार्य का कथन है कि जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है।[५] इन रहस्यों के विवेचन से न्याय और अद्वैत दर्शन का मुक्तिगत साम्य स्पष्ट झलकता है। यह तथ्य और भी विचारयोग्य है कि मुक्तिविषयक उपर्युक्त चर्चा न्याय-दर्शन के परवर्ती सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद में ही नहीं मिलती, अपितु औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत भी मुक्ति का विशद विवेचन मिलता है।[६]

प्रो० डायसन के कथनानुसार, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेद का अध्ययन उपनिषद्-दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता,[७] परन्तु यह कथन तर्कप्रतिष्ठित नहीं है कि जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति (न्यायदर्शन के अनुसार अपरनिःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्) की प्रबल पृष्ठभूमि हमें औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत उपलब्ध होती है। नैयायिक के अपर-निःश्रेयस् अर्थात् जीवन्मुक्ति के स्वरूप का दर्शन छान्दोग्य उपनिषद् की उस उक्ति में होता है जिसमें कहा गया है कि जैसे कमल के पत्ते में पानी नहीं लगता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी पापकर्म नहीं लगता।[८] उपनिषद् दर्शन के अनुसार ज्ञानी

---

१. न्यायवार्तिक, १।१।१

२. यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। —न्यायवार्तिक, १।१।१

३. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।१।१५

४. परनिःश्रेयसं न तावद् भवति यावदुपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते।
—तात्पर्यटीका, पृ० ८१

५. ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।१५

६. बृ० उ०, १।४।१०, ४।४।६,७,२२; छा० उ०, ८।४।१; मु० उ० ३।१३, ३।२।९; तै० उ०, २।९; कौ० उ०, १।४, ३।१; मै० उ०, २।७, ६, ३४

७. *Deussen*: Philosophy of Upanishads E. T., p. 356 (Edinburgh, T. & T. Clark, 38, George Street)

८. छा० उ०, ४।१४।३

इसी जगत् में ब्रह्मज्ञान अर्थात् मुक्ति-लाभ कर लेता है।[१] औपनिषद विदेहमुक्ति और अद्वैत वेदान्त-सम्मत विदेहमुक्ति में अवश्य भेद है। औपनिषद विदेहमुक्ति के अनुसार जीव इस जगत् में मुक्त होने पर भी देह-त्याग होने पर स्वर्गलोक को जाता है।[२] अद्वैत वेदान्त में मुक्ति का यह स्वरूप उपपन्न नहीं होता, क्योंकि परवर्ती वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करनेवालों का प्रत्यगात्मा है।[३] इस प्रकार औपनिषद दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रतिपादित विदेह-मुक्ति अथवा नैयायिक के परनिःश्रेयस् में अन्तर होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य ही होगा कि नैयायिकों का मुक्ति का सिद्धान्त औपनिषद दर्शन से ही गृहीत है।[४] अतः हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि न्यायदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त पर औपनिषद अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है।

अद्वैतवेदान्त और न्यायसम्मत मुक्ति में पर्याप्त साम्य होते हुए भी अन्तर की एक विशाल रेखा भी है और वह यह कि अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में जिस ब्रह्मानन्द की अनुभूति का वर्णन है, उसका न्यायदर्शन की मुक्ति में अभाव है। न्यायदर्शन में उक्त विचार का समर्थन भाष्यकार वात्स्यायन और वार्तिककार उद्योतकर ने बड़े बलपूर्वक किया है।[५] नैयायिकों के कथन का तात्पर्य है कि सुख के रागात्मक होने के कारण वह (सुख) बन्धन का साधन है। अतः अपवर्ग को सुखात्मक मानने से बन्धन की निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है। मुझे नैयायिकों का यह तर्क समीचीन नहीं लगता। भाष्यकार वात्स्यायन ने "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—"तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः" अर्थात् समस्त सांसारिक दुःखों और जन्म ग्रहण करने के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना ही मोक्ष है। यहां यह विचारणीय है कि जब भाष्यकार वात्स्यायन मोक्ष में दुःख की अत्यन्त विमुक्ति मानते हैं तो उन्हें दुःख की निवृत्ति के फलस्वरूप आनन्दोपलब्धि भी स्वीकार करनी ही होगी।[६] नैयायिकों की आनन्द के रागात्मक होने की शङ्का के समाधान में यह कहा जाएगा कि ब्रह्मानन्द कोई सांसारिक रागादि से युक्त सुख नहीं है। उसका स्वरूप इन्द्रियातीत होने के कारण अनिर्वचनीय है। परन्तु अनिर्वचनीयता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मानन्द शून्यता का रूप है।

उपर्युक्त विचारदृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त की मान्यताओं में परस्पर विरोध होते हुए भी किंचित् साम्य है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन के मुक्ति जैसे सिद्धान्त पर औपनिषद अद्वैत का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस दिशा में

---

१. बृ० उ०, ४।४।६, ४।४।७
२. बृ० उ०, ४।४।८
३. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।३।७
४. *R. D. Ranade* : Constructive Survey of Upanishadic Philosophy. p. 190 (Oriental Book Agency, Poona, 1926)
५. न्यायसूत्र १।१।२२ पर भाष्यकार और वार्तिककार का मत।
६. अतः इस सम्बन्ध में डा० दासगुप्त (इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३६६) जैसे विद्वानों का यह कथन कि, मुक्तावस्था आनन्दावस्था कदापि नहीं हो सकती, उचित नहीं प्रतीत होता।

गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट तथा शब्द है।[१] प्रशस्तपाद-निर्दिष्ट 'अदृष्ट' गुण के धर्म तथा अधर्म भेद से दो भेद हैं। अतः कणाद-निर्दिष्ट सत्रह तथा प्रशस्तपाद-उल्लिखित सात गुणों को मिलाकर गुणों की संख्या चौबीस है। इस प्रकार वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत चौबीस गुणों का भी विवरण मिलता है।

वैशेषिक का परमाणुकारणवाद

वैशेषिक दर्शन-पद्धति के अनुसार प्रलय-काल में सभी कार्य-द्रव्यों का नाश हो जाता है। उसके पश्चात् ये द्रव्य परमाणु-रूप में आकाश में वर्तमान रहते हैं। उस काल में प्रत्येक जीवात्मा अपने वर्तमान तथा पूर्व जन्म के संस्कारों सहित 'अदृष्ट' रूप में धर्म और अधर्म के साथ वर्तमान रहता है। यह तत्त्वज्ञानिक शान्ति की अवस्था होती है। उस काल में सृष्टि का कार्य नहीं होता। जीवों के कल्याणार्थ परमात्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है और उसका यह फल होता है कि जीवों के 'अदृष्ट' कार्योन्मुख होते हैं। वैशेषिकदर्शन की 'अदृष्ट' सम्बन्धी कल्पना अत्यन्त विलक्षण है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति,[२] वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना,[३] अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की आद्यस्पन्दनात्मक क्रिया, ये सब अदृष्ट के द्वारा जन्य हैं। परन्तु अदृष्ट तो जड़ है। इसीलिए परवर्ती वैशेषिकदर्शन में अदृष्ट के सहकारित्व से ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि-क्रिया स्वीकार की गई है।[४] परमेश्वर की इच्छा से अदृष्ट की सहायता से जब परमाणुओं में स्पन्दन होता है तो अणुपरिमाण विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है। जो अणुपरिमाण विशिष्ट होने के कारण स्वयं अतीन्द्रिय हैं, ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु) की उत्पत्ति होती है। त्रसरेणु महत् परिमाण वाला है, अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। परमाणु और द्व्यणुक अतीन्द्रिय हैं। घर की छत के छेद से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तो उनमें दृश्यमान जो छोटे-छोटे कण होते हैं वे ही त्रसरेणु कहलाते हैं। त्रसरेणु का छठा भाग ही परमाणु कहलाता है। चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और फिर जगत् की सृष्टि आरम्भ हो जाती है। वैशेषिकदर्शन में जगत् की उत्पत्ति का यही क्रम है।

ईश्वर

वैशेषिकदर्शन में ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद मिलता है। वैशेषिकदर्शन के दो सूत्रों (१।१।३ एवं २।१।१८) में अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर-सम्बन्धी संकेत मिलता है। पहले सूत्र (१।१।३)[५] में 'तत्' शब्द से ईश्वर का ही संकेत प्रतीत होता है। दूसरे

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १० (मेडिकल हाल, सं० १९५१)
२. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम्। —वै० सू०, ५।१।१५
३. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। —वै० सू०, ५।२।७ (कलकत्ता, १८८७)
४. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २०
५. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। —वै० सू०, १।१।३

सूत्र (२।१।१८)[1] के अन्तर्गत 'असमद्विशिष्ट' शब्द से ईश्वर एवं महान् सन्तों का बोध होता है।[2] परन्तु सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। प्रशस्तपाद-प्रभृति परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने तो ईश्वर की सत्ता निःसंकोच स्वीकार की है। प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत स्वीकार किया है।[3] गुणरत्न का कथन है कि वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से 'पाशुपत' कहलाते थे।[4] नैयायिकों के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे शिव के भक्त होते थे।[5] अतः वैशेषिक की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में सन्देह नहीं करना चाहिए।

वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलनात्मक समीक्षा

वैशेषिक और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर-विरोध होते हुए भी कुछ-एक स्थलों पर साम्य भी मिलता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः ब्रह्मसूत्र और वैशेषिक-सूत्र की रचना समकालिक ही है। इस कथन की प्रामाणिकता इससे सिद्ध है कि दोनों ही ग्रन्थों में एक-दूसरे के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। बादरायण ने, ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत परमाणु-वाद की चर्चा की है।[6] वैशेषिकदर्शन के रचयिता कणाद ने तो अपने वैशेषिकसूत्र में अद्वैत सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जो अविद्यावाद या मायावाद अद्वैत वेदान्त का आधार-भूत सिद्धान्त है, उसका स्पष्ट निर्देश वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत किया गया है।[7] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा करते समय अविद्या का विस्तृत विवेचन किया है। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के विद्या तथा अविद्या, ये दो भेद किए हैं। विद्या 'प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्ष' भेद से चार प्रकार की है।[8] अविद्या के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न रूप से चार भेद हैं।[9] इनमें विपर्यय के अन्तर्गत अद्वैती के अध्यारोपवाद की पूर्ण झलक मिलती है। भाष्यकार प्रशस्तपाद के अनुसार अवस्तु में वस्तु का ग्रहण विपर्यय कहलाता है।[10] यदि देखा जाए तो यह वेदान्त का अध्यारोपवाद ही है। आरोप का लक्षण 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' (अवस्तु में वस्तु का ज्ञान) है।[11] यही भ्रम का स्वरूप है।

इस प्रकार वैशेषिकदर्शन और अद्वैतवेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुए भी यत्किंचित् समानता भी मिलती है। वैशेषिक के अविद्या-विवेचन जैसे स्थलों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव उपर्युक्त आलोचन से स्पष्ट सिद्ध होता है।

सांख्य और अद्वैतवेदान्त दर्शन

सांख्यदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा—सांख्यदर्शन अत्यन्त बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक दर्शन है। प्रो० गार्बे का तो यहां तक कहना है कि मानवीय मस्तिष्क का पूर्ण स्वातन्त्र्य और उसका अपनी शक्तियों के प्रति पूर्ण विश्वास, विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम सांख्यदर्शन के अन्तर्गत ही प्रदर्शित हुआ है।[1] इसी विद्वान् ने एक और स्थल पर सांख्यदर्शन को भारतवर्ष के दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दर्शन कहा है।[2] यद्यपि प्रो० गार्बे का कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु फिर भी यह तो स्वीकार्य ही है कि सांख्यदर्शन शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसीलिए प्राचीन विद्वानों की भी 'न हि सांख्यसमं ज्ञानम्' आदि उक्तियां प्रसिद्ध हैं।

सांख्य का अर्थ—सांख्य के अर्थ के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक विचारधाराएं मिलती हैं।

१. व्याकरणिक व्युत्पत्ति के अनुसार सम् उपसर्गपूर्वक ख्याञ् धातु से 'संख्या' शब्द बनता है जिसका अर्थ सम्यक् विचार है। इसी को 'प्रकृतिपुरुषविवेक' एवं 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं। इस प्रकार संख्या अथवा विवेक-ज्ञान के सांख्य के मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा है।

२. शङ्कराचार्य ने शुद्ध आत्मतत्त्व के विज्ञान को सांख्य कहा है।[3]

३. कतिपय विद्वान् गणना-अर्थवाची संख्या शब्द के आधार पर 'सांख्य' की व्युत्पत्ति करते हैं। इस व्युत्पत्ति का आधार यह है कि सांख्य के अन्तर्गत तत्त्वों की गणना प्रधान रूप से की गई है। कदाचित् उक्त परिभाषा का मूल आधार महाभारत का निम्न श्लोक ही रहा होगा :

> दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
> कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥ महाभारत

४. डा० राधाकृष्णन् का विचार है कि सांख्य शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दार्शनिक विचार के लिए ही प्रयुक्त होता था, न कि तत्त्वगणना के लिए,[4] जैसा कि उक्त मतानुयायियों का विचार है।

मेरे विचार से डा० राधाकृष्णन् का ही मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि तत्त्वादि की गणना तो प्रायः सभी भारतीय दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत मिलती है। अतः तत्त्व-गणना (संख्या) के आधार पर 'सांख्य' की व्युत्पत्ति करना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता।

---

१. Philosophy of Ancient India, P. 30
२. It is the most significant system of Philosophy that India has produced. (Sankhya pravachanbhashya, XIV)
३. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते। —विष्णुसहस्रनाम पर शाङ्करभाष्य
४. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 527

सांख्यदर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप—सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। प्रो० डायसन प्रभृति विद्वानों ने सांख्यदर्शन का मूल उद्‌गम उपनिषदों में स्वीकार किया है।[१] उपनिषदों के अन्तर्गत सांख्य सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन मिलता है।[२] सांख्यदर्शन का यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो उसके निम्नलिखित रूप निर्धारित किये जा सकते हैं :

१. उपनिषद् तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीतावर्ती सांख्य—(१०००-८०० ई०-पूर्व) इस काल का सांख्य वेदान्त-मिश्रित सांख्य है। इस सांख्य के अन्तर्गत ईश्वरवाद का भी पूर्ण समर्थन मिलता है।

२. महाभारतवर्ती तथा पौराणिक सांख्य—(लगभग ३००-२०० ई०-पूर्व) महाभारत तथा पुराणवर्ती सांख्य में वेदान्त का मिश्रण नहीं पाया जाता। इस सांख्य का अपना स्वतंत्र रूप है।

३. चरक सांख्य—चरक का सांख्य भी महाभारत तथा पौराणिक सांख्य से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। पुरुष को अव्यक्तावस्था में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव स्वीकार करना तथा मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा मानना आदि चरक सांख्य की अनेक विशेषताएं, महाभारत में भी उपलब्ध होती हैं।[३] चरक पंचशिख के अनुयायी थे।[४]

४. ब्रह्मसूत्र तथा सांख्यकारिका का सांख्य—(२०० ई०-पूर्व से ३००) इस सांख्य की प्रधान विशेषता निरीश्वरवादिता है। इसमें प्रकृति तथा पुरुष को चरमतत्त्व मानकर जगत् की व्याख्या की गई है।

५. विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य—(१६ वीं शती) विज्ञानभिक्षु एक सामंजस्यवादी दार्शनिक विद्वान् थे। इन्होंने सांख्य में पुनः ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की थी तथा वेदान्त और सांख्य का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया था।

गुणरत्न ने तत्त्वरहस्यदीपिका में मौलिक्य तथा उत्तर नाम के दो सांख्य सम्प्रदायों की चर्चा की है।[५] मौलिक्य सांख्य के अनुसार प्रत्येक आत्मा के लिए एक पृथक् प्रधान की कल्पना की गई है, जैसाकि मौलिक्य नाम से ही विदित होता है। यह प्राचीन सांख्य का स्वरूप है। महाभारत तथा चरककालीन सांख्य भी मौलिक्य सांख्य का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। उत्तरसांख्य, सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य का स्वरूप है। यहां उत्तरसांख्य का ही विवेचन हमारा प्रधान विषय है।

सांख्यदर्शन और कार्यकारणवाद

कार्य-कारण सिद्धान्त सांख्यदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। सांख्य के कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार कार्य और कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य अपने मूलरूप में

---

१. *Deussen* : Philosophy of the Upanishads, p. 239
२. श्वे० उ०, ४।५-१०-१६; ६।१०-१३; छा० उ०, ६।४।१; कठ० उ०, १।३।१०
३. महाभारत, १२।२१६
४. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ३१३
५. तत्त्वरहस्यदीपिका, पृ० ६६

उत्पत्ति से पूर्व भी अव्यक्त रूप से कारण में वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य की अव्यक्तावस्था कारण तथा व्यक्तावस्था कार्य है। अतः तत्त्वतः कार्य और कारण में भेद नहीं है। कार्य की सत्ता के अव्यक्त रूप से कारण में रहने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है। इसे परिणामवाद भी कहते हैं। क्योंकि सांख्य के अनुसार कार्य, कारण के परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के उक्त सिद्धान्त की पूर्णरूपेण पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है :

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥
(सांख्यकारिका, ६)

ईश्वरकृष्ण की उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत सांख्यसत्कार्यवाद की समर्थक पांच युक्तियां मिलती हैं :

१. **असदकरणात्**—जो वस्तु कारण में पहले से विद्यमान नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र का यह कथन नितान्त संगत प्रतीत होता है कि नील वस्तु को सहस्रों शिल्पियों द्वारा भी पीत नहीं बनाया जा सकता।[1] यदि ऐसा हुआ होता तब तो आकाशकुसुम जैसे असम्भव पदार्थों की भी उत्पत्ति होने लगती।

२. **उपादानग्रहणात्**—कार्य की सत्ता कारण के तत्त्वों पर पूर्णरूप से आधारित होती है। जैसे, दूध से ही दही और तन्तुओं से ही वस्त्र की उत्पत्ति संभव है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न हुआ होता तो किसी कारण से भी किसी कार्य की उत्पत्ति हो जाया करती।

३. **सर्वसंभवाभावात्**—सर्व कारणों से सर्व कार्यों की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

४. **शक्तस्य शक्यकरणात्**—शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध है कि कार्य की सत्ता कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती है।

५. **कारणभावात्**—वस्तुतः कार्य और कारण में ऐक्य है। अव्यक्तावस्था में जो कारण है वही व्यक्तावस्था में कार्य है। इस प्रकार सृष्टि उद्भाव का परिणाम है और प्रलय अनुद्भाव का। अनुद्भावावस्था में कार्य कारण में ही लीन हो जाता है।[2]

प्रकृति

दर्शन और साहित्य के विवेच्य विषयों में प्रकृति का प्रमुख स्थान है। अद्वैत वेदान्त में प्रकृति माया-रूप से वर्णित हुई है। सांख्य में, अव्यक्त और प्रधान प्रकृति की अपर संज्ञाएं हैं। व्यासभाष्य में प्रकृति की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है :

"निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं अलिङ्गं प्रधानम्।"

(व्यासभाष्य, २।१६)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार न प्रकृति की सत्ता ही है और न असत्ता ही। न वह सद्रूप है और न असद्रूप। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह शशविषाण की तरह नितान्त असद्रूपा

---

१. नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। —तत्त्वकौमुदी, पृ० ६
२. नाशःकारण लयः। —सांख्यसूत्र, १।१२१

है। इसके अतिरिक्त प्रकृति अव्यक्त एवं अलिंग है। सांख्यसूत्र के अन्तर्गत आचार्य कपिल ने 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६४) अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है, कहकर प्रकृति की परिभाषा की है। सांख्यकारिका में प्रकृति को अहेतुक, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, लिंगरहित, निरवयव, स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, विवेकरहित, विषयरूपा, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[1]

प्रकृति-तत्त्व के बिना सांख्यदर्शन का शरीर उसी प्रकार निर्जीव है, जिस प्रकार माया-तत्त्व के बिना अद्वैतदर्शन का। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की महती उपयोगिता स्वीकार करते हुए उसकी अस्तित्व-सिद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियां दी हैं :

१. जगत् की सत्ता सीमित है। सीमित वस्तु के लिए असीमित पदार्थ का ही आधार अपेक्षित होता है। सीमित का आधार सीमित कदापि नहीं हो सकता।

२. सांख्यदर्शन के अन्तर्गत त्रिविध गुणों की साम्यावस्था स्वीकार की गई है। जागतिक पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र वर्तमान रहती है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह का जनक है। अतः जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति का एक ऐसा मूल कारण होना चाहिए, जिसमें उक्त विशेषताएं उपलब्ध हों।

३. कारण शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था ही है। इसलिए समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना संगत ही है।

४. कारण और कार्य की सत्ता पृथक्-पृथक् है। स्वयं कारण कार्य नहीं हो सकता। अतः जगत्-रूप कार्य के लिए प्रकृति-रूप कारण का मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

५. विश्व की एकरूपता के कारण समस्त विश्व का कोई एक ही कारण सम्भव है। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का, प्रकृति का परिणाम होना युक्तियुक्त ही है।[2]

गुण

हमने ऊपर प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने की चर्चा की है। परन्तु सांख्य की गुण-सम्बन्धी मान्यता वैशेषिक से भिन्न है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार सत्त्व, रज और तम को गुण कहने का यही तात्पर्य है कि वे प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने वाले हैं। विज्ञानभिक्षु ने गुण की परिभाषा देते हुए कहा है कि पुरुष को बन्धन में डालने वाले त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने के कारण ही इन्हें गुण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार गुण (रस्सी) के द्वारा पशु को बन्धन में बांधा जाता है उसी प्रकार सांख्य के गुण भी पुरुष को बन्धन में बांधते हैं।[3] महत्तत्त्व या व्यष्टिरूप से बुद्धि, प्रकृति का प्रथम विकार है। यही जगत् की उत्पत्ति में बीजरूप है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि, सुख-दुःख एवं मोहस्वरूपा है। अतः प्रकृति में भी इन गुणों का होना स्वाभाविक है। यद्यपि इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि प्रकृति के विकारों के द्वारा इनकी सत्ता सिद्ध होती है।

प्रथम सत्त्वगुण प्रीतिरूप, लघु तथा प्रकाशक है।[4] द्वितीय रजोगुण दुःखोत्पादक, चल

---

१. सांख्यकारिका, १०-११
२. सांख्यकारिका, १५-१६
३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १।६१
४. तत्त्वकौमुदी, १३

और उपष्टम्भक (कार्य का प्रवर्तक) होता है। यही संसार की अखिल सक्रियता का मूल रजोगुण के चलत्व के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद और माठर ने कई दृष्टान्त दिए हैं। गौडप और माठर का कथन है कि बैल का नशे में होना, लड़ना अथवा किसी पुरुप का ग्राम : और जाने की आकांक्षा करना या किसी स्त्री से प्रेम करना रजोगुण की चलत्व सम्बन्ध विशेपता के ही फल हैं।[1] तृतीय गुण, तमोगुण है। तमोगुण मोहरूप, गुरुत्वमय तथा वरण: होता है। सत्त्व, रजस् और तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन हैं।[2] इन्हीं : सुख, दुःख तथा मान्द्य की उत्पत्ति होती है। सांख्य के उपर्युक्त तीनों गुणों का अस्तित्व पृथक् न होकर उनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।[3] अतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणयुक्त है। यह बात दूसरी है कि किसी एक गुण के प्राधान्य के कारण कोई पदार्थ उसी प्रधान गुण के नाम से जाना जाता है। जिस वस्तु में जिस गुण की प्रधानता रहती है, उसी गुण का उस वस्तु में प्रकाशन होता है, अन्य गुण उस वस्तु में गुप्त रूप से वर्तमान रहते हैं। जिस प्रकार कि विश्राम करते समय मनुष्य में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण गुप्त रीति से वर्तमान रहते हैं; चलते समय मनुष्य-शरीर में रजोगुण का प्राधान्य रहता है और तमोगुण की गुप्त स्थिति होती है।[4] ये तीनों गुण आपस में उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार दीपक में प्रकाश, तेल एवं वर्तिका परस्पर सम्बन्धित हैं।[5] पृथक् रूप से कोई भी गुण अपना कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रखता। डा० बी० एन० सील का विचार है कि सत्त्वगुण में भौतिक पिंडत्व एवं गुरुत्वाकर्षण का अभाव है। इसमें न अवरोधक शक्ति है और न क्रियाशक्ति। इसके विपरीत तमोगुण में भौतिक पिण्डत्व भी है और अवरोधक शक्ति भी। परन्तु सत्त्वगुण-प्रकाशित बुद्धितत्त्व और तमोगुणवर्ती भौतिक तत्त्व में क्रियात्मकता का अभाव है। अतएव मात्र सत्त्व और तमस् में उत्पादन की क्रिया का अभाव है। इस क्रियात्मकता की पूर्ति रजोगुण करता है। रजोगुण ही शक्ति का मूल प्रवर्तक है। इसमें तमोगुण की अवरोधक शक्ति को जीतने की ही शक्ति नहीं है, अपितु बुद्धि को भी तदपेक्षित शक्ति देने की सामर्थ्य है।[6]

सांख्य के गुणों का यह वैशिष्ट्य है कि वे इन्द्रियातीत होने के कारण दृष्टि-पथ में नहीं आते। उनका जो रूप दृष्टिगोचर होता है वह मायिक एवं तुच्छ है।[7]

पुरुष

सांख्यदर्शन के अन्तर्गत प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व पुरुष है। यद्यपि प्रकृति

१. *Sovani* : A Critical Study of the Sankhya System, p. 206
२. योगसूत्र, २।१८
३. सांख्यकारिका, १२
४. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 246
५. सांख्यकारिका, १३
६. *Dr. B.N. Seal* : The Positive Sciences of the Hindus, p. 4, (Longmans, 1912)
७. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ षष्टितन्त्र

और पुरुष के संयोग से ही संसार की सृष्टि होती है परन्तु फिर भी सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष की विशेषताएं प्रकृति से एकदम विरुद्ध हैं। सांख्य की प्रकृति यदि त्रिगुणात्मिका है तो पुरुष त्रिगुणातीत, प्रकृति यदि विवेक-रहिता है तो पुरुष विवेकी, प्रकृति यदि विषय है तो पुरुष विषयी, प्रकृति यदि जड़ है तो पुरुष चेतन और यदि प्रकृति प्रसवधर्मवाली है तो पुरुष अप्रसवधर्मी है।[1] पुरुष के त्रिगुणातीत होने के कारण उसमें रजोगुण से उत्पन्न होने वाली सक्रियता का अभाव है। अतएव वह अकर्ता है। परन्तु अकर्ता होते हुए भी पुरुष नित्यमुक्त होने के कारण मध्यस्थ अथवा साक्षी अवश्य है।[2] सांख्याचार्यों ने पुरुष-सिद्धि के लिए निम्नलिखित कई युक्तियां दी हैं :

१. समस्त जागतिक पदार्थ संघातमय हैं। अतः जगत् के इस समस्त वस्तु-संघात का किसी अन्य के प्रयोजन के लिए होना स्वाभाविक है। अन्यथा इस वस्तु-संघात की उपयोगिता ही क्या होगी? यह अन्य तत्त्व पुरुष है।

२. संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः एक ऐसे तत्त्व की भी आवश्यकता है जो त्रिगुण-विरहित हो।

३. प्रकृतिजन्य जड़जगत् का चेतन अधिष्ठाता परम अपेक्षित है। राजा की तरह सांख्य का पुरुष भी अधिष्ठाता के रूप में जगत् का नियन्ता है।

४. संसार के समस्त विषय भोग-योग्य हैं। अतः इनका भोक्ता होना भी आवश्यक है।

५. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होना किसी ऐसे पदार्थ का सूचक है, जिसकी विशेषताएँ त्रिगुणात्मक प्रकृति से विपरीत हों। यह पदार्थ पुरुष है।[3]

पुरुषबहुत्व

वेदान्त के विपरीत सांख्यदर्शन पुरुषबहुत्व का समर्थक है। सांख्य का तर्क है कि जन्म-मरण की भिन्नता तथा त्रैगुण्य का विपर्यय पुरुषबहुत्व का साधक प्रमाण है। यदि एक पुरुष हुआ होता तब तो समस्त पुरुषों का जन्म तथा मृत्यु एक काल में ही हुए होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसके साथ ही साथ त्रैगुण्य-विपर्यय होने के कारण पुरुषों में गुण-सम्बन्धी भिन्नता पाई जाती है। कोई पुरुष सत्त्वबहुल है, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल। इसी-लिए कपिल, आसुरि, पंचशिख एवं पतंजलि आदि सांख्याचार्यों ने पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया है।[4]

प्रकृति, पुरुष एवं सृष्टि

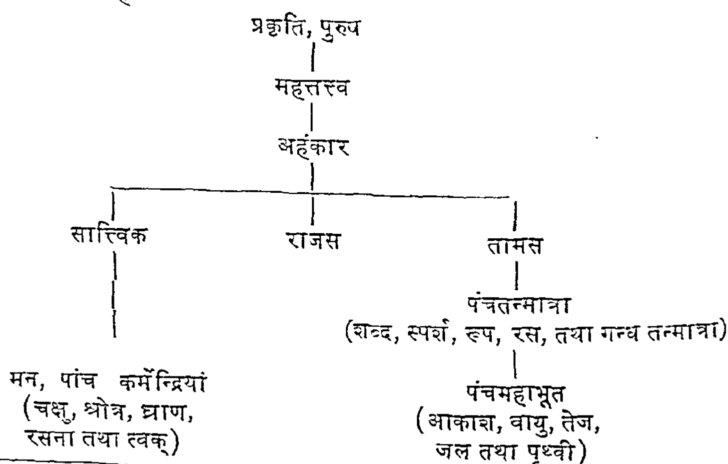
प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सांख्य की रहस्यभरी समस्या है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परन्तु दोनों के संयोग में एक आपत्ति यह है कि दोनों ही विपरीत लक्षण वाले हैं। इस आपत्ति का समाधान सांख्य ने बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है।

---

१. सांख्यकारिका, ११
२. सांख्यकारिका, १९
३. सांख्यकारिका, १७
४. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 42

सांख्य ने प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्धे और लंगड़े का रोचक दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति तो है परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान नहीं है, लंगड़े व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति नहीं है परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान है, की सहायता से अपने स्थान पर पहुंच जाता है और उस लंगड़े व्यक्ति को भी यथास्थान पहुंचा देता है; उसी प्रकार जडात्मिका प्रकृति भी सक्रिय होने के कारण निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष के संयोग से कार्य में प्रवृत्त होती है।[1] इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में एक शंका होती है और वह यह कि जड़ प्रकृति में सक्रियता कैसे सिद्ध हो सकती है ? इस शंका का समाधान करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में लिखा है कि जिस प्रकार वत्स (बछड़ा) की वृद्धि के लिए जड़ रूप पदार्थ दूध में भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति में भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।[2] जब जड़ वृक्षों में ही फल उत्पन्न करने की शक्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है तो प्रकृति की ही सक्रियता में क्या आश्चर्य है।

उपर्युक्त अन्धे और लंगड़े पुरुष के दृष्टान्त के अनुसार चेतन पुरुष की अध्यक्षता में जड़ प्रकृति सृष्टि का कार्य करती है। प्राचीन सांख्य में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त काल नामक एक तृतीय तत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।[3] प्राचीन सांख्य के अनुसार काल ही प्रकृति के क्षोभ का कारण है। परन्तु परवर्ती सांख्य के अनुसार प्रकृति की प्रवृत्ति का कारण स्वभाव है। पुरुष के सामीप्य से प्रकृति में जो प्रथम विकार उत्पन्न होता है उसका नाम महत्तत्त्व है। इसी को व्यष्टि में बुद्धि कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य तामसी बुद्धि के। महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के वैकृत (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) रूप से तीन भेद हैं। तैजस की सहायता से सात्त्विक अहंकार से ११ प्रकार की इन्द्रियों—पांच कर्मेन्द्रियों, पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति होती है। सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास का निम्न प्रकार है :



१. सांख्यकारिका, २१
२. सांख्यकारिका, ५७
३. श्रीमद्भागवत ३।६।२ तथा विष्णुपुराण, प्रथमांश, २।२६

तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां
(वाक्, पाणि, पाद,
पायु तथाउ पस्थ)

इस प्रकार सांख्य में प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय, ये २५ तत्त्व स्वीकार किये गए हैं।

मुक्ति

जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त में जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण अविद्या है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी पुरुष के बन्धन और मोक्ष का कारण अविवेक है। जैसे कि अद्वैतमत में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के अनुसार जीव ब्रह्मरूप है वैसे ही सांख्य का पुरुष भी स्वभावतः मुक्त है। परमार्थतः पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अविवेक के कारण ही पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध होता है। पुरुष और प्रकृति के इस अविवेकजन्य सम्बन्ध का यह फल होता है कि प्रकृतिजन्य दुःख का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है और इस दशा में पुरुष सांसारिक दुःखों का भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार यदि अविवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन है तो विवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का वियोग मोक्ष है।[1] विवेक-सिद्धि का उपाय व्यक्त, अव्यक्त तथा 'ज्ञ' (पुरुष) का ज्ञान है। इसका ज्ञान होने पर प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति हो जाती है। यह स्मरणीय है कि प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष की मुक्ति के लिए ही है।[2] प्रकृति के व्यापार को स्पष्ट करते हुए ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की उपमा एक नर्तकी से दी है जो रंगस्थल में अपना नृत्य दिखाकर स्वतः निवृत्त हो जाती है।[3] प्रकृति की सुकुमारता के विषय में कहा गया है कि वह ऐसी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के सामने अनुभूत होने पर फिर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती। प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष की मुक्ति स्वतः सिद्ध है।

जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति

अद्वैतवेदान्त की ही तरह सांख्य में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, मुक्ति के दो भेद मिलते हैं। सांख्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था में पुरुष को यह दृढ़ ज्ञान हो जाता है कि मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूं, अकर्ता हूं तथा संग-रहित हूं।[4] यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कुम्भकार के चक्र का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कुलाल-व्यापार की निवृत्ति के पश्चात् भी चक्र पूर्वसंस्कार के अनुसार कुछ काल तक चलता रहता है, उसी तरह प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता

---

१. यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव।
—सांख्यप्रवचनभाष्य, १।७२

२. सांख्यकारिका, ५६

३. सांख्यकारिका, ५९

४. सांख्यकारिका, ६४

ही रहता है।[1] यही दृष्टान्त शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के अन्तर्गत दिया है।[2] विदेह-मुक्ति के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का कथन है कि शरीर के नाश हो जाने पर पुरुष दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। यही विदेहमुक्ति की अवस्था है। विज्ञानभिक्षु भी विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं।[3]

ईश्वर

साधारणतया सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। साधारण ही नहीं, डा० दासगुप्त प्रभृति कतिपय सम्मानित विद्वानों का तो यहां तक कथन है कि सांख्यदर्शन में ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।[4] डा० दासगुप्त ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर का यह कथन प्रामाणिक प्रतीत होता है कि कपिल एकेश्वरवाद के विरोध में कोई तर्क नहीं देते। प्रो० मैक्समूलर की दृष्टि में कपिल का यही विचार है कि वे (कपिल) ईश्वर-सिद्धि के लिए तार्किक प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक कान्ट के अत्यन्त समीप हैं। प्रो० मैक्समूलर का कथन है कि कपिल ने ईश्वर का खण्डन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।[5]

अतः यह विचार तर्क-प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता कि सांख्य में ईश्वर का खण्डन किया गया है। डा० राधाकृष्णन् 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'' (सांख्यसूत्र ३।५७) के आधार पर सांख्य में एक व्यवस्थापक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं जो सृष्टि-काल में प्रकृति के क्रमबद्ध विकास की व्यवस्था करता है।[6] सांख्यदर्शन में यद्यपि कर्तृत्वशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती, परन्तु जगत् के साक्षीरूप में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है। साक्षी ईश्वर के सान्निध्य मात्र से ही प्रकृति जगत् के व्यापार में उसी प्रकार लग जाती है, जिस प्रकार कि चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से ही लोहे में गति उत्पन्न कर देता है।[7] विज्ञानभिक्षु ने तो सांख्य को निरीश्वर न मानकर सेश्वर ही माना है।[8] इस प्रकार परवर्ती सांख्य में ईश्वरवाद का समर्थन ही मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मूल सांख्यदर्शन में न ईश्वरवाद का खण्डन ही किया गया है और न अनीश्वरवाद का मण्डन। सांख्यसूत्र में तो ईश्वरवाद की यत्किंचित् झलक भी मिलती है जो विज्ञानभिक्षु के भाष्य में और भी विकसित हो गई है।

---

१. सांख्यकारिका, ६७
२. ब्र० सू० शा० भा०, ४।१।१५
३. सांख्यप्रवचनभाष्य, ५।११६
४. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 218.
५. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 88.
६. *Dr. S. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 317-318
७. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। —सांख्यसूत्र, १।९६
८. प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धिः। —सांख्यप्रवचनभाष्य, ३।५७

दर्शन में सृष्टि का कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग रूप अविवेक है। जैसे कि, वेदान्त में अविद्या-निवृत्ति होने के पश्चात् जीव बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य में प्रकृति और पुरुष के पार्थक्य का विवेक होने पर पुरुष प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[1] इस प्रकार वेदान्त और सांख्य दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का मूल कारण अविद्या ही है। क्योंकि अविवेक भी अविद्या का ही रूप है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वेदान्त और सांख्य का मूल आधार वैदिक विचारधारा होने के कारण, आरम्भ में इन दोनों का रूप समान ही था। परन्तु कालान्तर में इन दोनों की विचारदृष्टियों में भेद हो गया। वेदान्ती तो पूर्णतया वैदिक मतावलम्बी होने के कारण अद्वैत मत का मण्डन करता गया, परन्तु सांख्यवादी ने वैदिक पथ को छोड़कर साधारणजनहितार्थ वैदिक सिद्धान्तों में परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। वेदान्त के एकात्मवाद के स्थान पर पुरुषबहुत्ववाद और जगत् की मायिक सत्यता की जगह अनित्य सत्यता स्वीकार करना सांख्य के प्रमुख परिवर्तन थे।

अध्ययन की उक्त दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि सांख्य और वेदान्त के सिद्धान्तों में अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। औपनिषद अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी सांख्य-सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परन्तु यह भी निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए कि अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन के सूक्ष्म अध्येता के लिए इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक भिन्नता भी अत्यन्त मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन

योगदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा : सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में इतना अधिक साम्य है कि वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानों ने योग को सेश्वर सांख्य और सांख्य को निरीश्वर सांख्य कहा है।[2] सर्वदर्शनसार गीता में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि बालबुद्धि वाले ही सांख्य और योग, इन दोनों को अलग-अलग विरुद्ध फलदायक बतलाते हैं, विद्वान् लोग नहीं।[3] वैसे तो सांख्य और योग इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के आधार कपिल और पतंजलि के सूत्र होने के कारण दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है, परन्तु दोनों दर्शन-पद्धतियों में कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में भेद-निरूपण करते समय विद्वानों की दृष्टि, जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, ईश्वरवाद की ओर गई है। सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में ईश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा करते समय यह कहा जा चुका है कि सांख्य में भी व्यवस्थापक ईश्वर की ओर संकेत मिलता है।[4] पश्चाद्वर्ती विज्ञानभिक्षु आदि ने तो सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की ही है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का कथन है कि सांख्य में ईश्वर के दिदृक्षु जन सांख्य के 'पुरुष' को देख सकते हैं।[5] इसके अतिरिक्त गीता में भगवान् श्री

१. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 70
२. तत्त्ववैशारदी ४।३; योगवार्तिक १।२४ (मेडिकल हाल, काशी १८८४ ई०); सांख्यप्रवचनभाष्य, ५।१।१२
३. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। —गीता, ५।४
४. सांख्यसूत्र, ३।५७
५. *Max Muller* : Indian Philosohy, Vol. III, p. 93

कृष्ण ने सांख्य और योग की एकता 'एकं सांख्यं च योगं च'[1] कहकर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है। यह तो निःसंकोच स्वीकार्य है कि योगदर्शन की स्थिति भारतवर्ष में योगाभ्यास एवं ध्यान के रूप में पुरातन काल से चली आ रही है। गीता में भी योग को पुरातन कहा गया है।[2] इसकी पुरातनता को सिद्ध करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है कि इस योग को मैंने सर्वप्रथम सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार क्षत्रियों की परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को उत्तरकाल में राजर्षियों ने जाना।[3] इसके पश्चात् यह योग बहुत काल तक लुप्त हो गया।[4] गीता के उक्त उद्धरण से योग की प्राचीनता स्पष्ट झलकती है।

योग शब्द का अर्थ

सूत्रकार पतंजलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[5] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, कहकर दी है। इस शब्द की निष्पत्ति 'युज्' धातु (जिसका प्रयोग समाधि अर्थ में होता है) से होती है। वास्तव में योग का चरम उद्देश्य समाधि ही है। योग के अर्थ के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस शंका का समाधान किया है कि योग शब्द का अर्थ दो वस्तुओं का योग (Union) है अथवा वियोग (Disunion)। प्रो० मैक्समूलर ने योग शब्द का अर्थ वियोग ही स्वीकार किया है।[6] प्रो० मैक्समूलर यदि योग शब्द की निष्पत्ति 'युज्' (समाधौ) से मान लेते तो उनके सामने योग शब्द के अर्थ के विषय में उक्त समस्या उपस्थित न हुई होती। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर ने भी जो योग का अर्थ संयोग दिया है, वह अयुक्त है।[7] क्योंकि योग का प्रतिपाद्य जीव का किसी अन्य से संयोग न होकर आत्म-स्वरूपावबोध ही है। मैक्समूलर का 'वियोग' अर्थ संयोग की अपेक्षा कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पातंजल योग-मार्ग में भी प्रकृति और पुरुष का वियोग तो मिलता ही है। वृत्तिकार भोज ने भी योगदर्शन के आरम्भ में मंगलाचरण करते समय पतंजलि के उक्त मत की ओर संकेत किया है।[8] मेरे विचार से तो बाह्य वृत्तियों के विरोध और निरोध के फलस्वरूप समस्त वृत्तियों और संस्कारों का प्रविलय होने पर ही योग की उत्पत्ति होती है। अतः यदि देखा जाए तो योग वियोग का फल है न कि स्वतः वियोग ही। योग तो समाधि का ही स्वरूप है।[9]

वैसे तो हठयोग, मंत्रयोग और लययोग आदि योग के कई भेद मिलते हैं, परन्तु दार्श-

---

१. गीता ५।५

२. योगः प्रोक्तः पुरातनः। —गीता, ४।३

३. गीता—४।१, २

४. योगो नष्टः परन्तपः। —गीता, ४।२

५. योगसूत्र, १।२

६. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 94

७. History of Indian Literature, p. 238-39

८. पतंजलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥ (योगदर्शन, मंगलाचरण का तृतीय श्लोक)

९. योगः समाधिः। —योगभाष्य, १।१

निक दृष्टि से केवल पतंजलि के राजयोग का ही अधिक महत्त्व है। अतः यहां पातंजल दर्शन के अनुसार ही योग की आलोचनात्मक व्याख्या की जाएगी।

योगदर्शन में चित्त का स्वरूप

योगदर्शन में चित्त से मन, बुद्धि और अहंकार का तात्पर्य है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणामी है। सत्त्व, रज और तम — इन तीनों गुणों के उद्रेक के अनुसार चित्त की निम्नलिखित तीन अवस्थाएं होती हैं

१. प्रख्याशील
२. प्रवृत्तिशील
३. स्थितिशील

प्रथम अवस्था का चित्त सत्त्वप्रधान होता हुआ रज और तम से संयुक्त होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। द्वितीय अवस्था में तमोगुण से युक्त चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से संयुक्त हो जाता है। तृतीय अवस्था में तम के क्षीण होने पर केवल रजस् के अंश से युक्त होने पर चित्त सर्वत्र प्रकाशमान होता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से व्याप्त होता है। प्रथम (प्रख्याशील) अवस्था में चित्त में केवल ऐश्वर्य-प्राप्ति की तीव्र इच्छा ही रहती है, परन्तु तीसरी स्थितिशील अवस्था में चित्त को ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पांच भूमियां अथवा अवस्थाएं स्वीकार की गई हैं। ये भूमियां —क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध हैं।[1] इन पंचभूमियों का स्वरूप-निर्धारण निम्न प्रकार से किया जाएगा

(१) क्षिप्त— क्षिप्त का साधारण अर्थ, चचल है। क्षिप्तावस्था में चित्त चंचल होकर संसार के सुख-दुःखादि के लिए व्यथित रहता है। इस अवस्था में रजोगुण का प्राधान्य रहता है।

(२) मूढ—चित्त की मूढावस्था मे तमोगुण का उद्रेक होता है। इस दशा में चित्त में विवेक-शून्यता रहती है। अतः मूढावस्था में विवेक न होने के कारण पुरुष क्रोध इत्यादि के द्वारा विरुद्ध कृत्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

(३) विक्षिप्त—तत्त्ववैशारदी के अन्तर्गत वाचस्पति मिश्र ने विक्षिप्त की परिभाषा 'क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्'[2] कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार विक्षिप्त की स्थिति क्षिप्त से विशिष्ट है। क्षिप्त की अपेक्षा विक्षिप्त की यह विशेषता है कि क्षिप्त में तो रजोगुण का प्राधान्य रहता है, परन्तु विक्षिप्तावस्था में रजोगुण की अपेक्षा सतोगुण का उद्रेक रहता है। सतोगुण के आधिक्य के कारण विक्षिप्तावस्था का चित्त कभी-कभी स्थिरता धारण कर लेता है। इस अवस्था में दुःख-साधनों की ओर प्रवृत्ति न होकर सुख के साधनों की ओर ही प्रवृत्ति रहती है।

उक्त तीनों अवस्थाएं समाधि के लिए अनुपयोगी होने के कारण हेय हैं।

(४) एकाग्र —एकाग्रावस्था वह अवस्था है, जिसमें चित्त की वाह्य वृत्तियों का निरोध

---

१. ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चितस्य भूमयः चितस्यावस्थाविशेपाः।
—भोजवृत्ति, योगसूत्र १।१

२. तत्त्ववैशारदी, १।१

हो जाता है।[१]

(५) निरुद्ध—पांचवीं निरुद्धावस्था है। निरुद्धावस्था में चित्त के समस्त संस्कारों तथा समस्त वृत्तियों का प्रविलय हो जाता है।[२]

उक्त अन्तिम दो ही चित्त की ऐसी भूमियां हैं जिनकी समाधि के लिए अपेक्षा है।

योगसूत्र के लेखक पतंजलि ने चित्त की पांच वृत्तियां भी मानी हैं। ये पाँच वृत्तियां —प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति हैं।[३]

वृत्तियों का स्वरूप-विवेचन : वृत्तियां संस्कारों की और संस्कार वृत्तियों के निर्माता हैं। योगदर्शन में निम्नलिखित पांच प्रकार की वृत्तियां बतलाई गई हैं।

१. प्रमाण : जहां तक प्रमाण वृत्ति का प्रश्न है, सांख्यदर्शन की तरह ही योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण माने गए हैं। परन्तु योग के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ वैशिष्ट्य है। योगदर्शन के अनुसार चित्त इन्द्रिय-द्वार से बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग प्राप्त करता है और विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरण के लिए, वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घट को जानता हूं, इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। अनुमान तथा शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में सांख्य और योग दोनों में ऐकमत्य है।

२. विपर्यय : सूत्रकार पतंजलि ने 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' (योगसूत्र १।८) की उक्ति के द्वारा विपर्यय को मिथ्या ज्ञान का रूप दिया है। इस विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आता है।

३. विकल्प : विकल्प की उत्पत्ति शब्द-ज्ञान से होती है, परन्तु विकल्प में सत्य ज्ञान की शून्यता रहती है। उदाहरणार्थ, शशशृंग को सुनकर शब्दार्थ का ज्ञान तो होता है, परन्तु उसमें वस्तु के सत्य ज्ञान की शून्यता ही रहती है, क्योंकि शश (खरगोश) के सींग नहीं देखे जाते। भाष्यकार व्यास ने विकल्पवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए चैतन्ययुक्त पुरुष का दृष्टान्त दिया है। उनका कथन है कि 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' अर्थात् पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, इस वाक्य में पुरुष और चैतन्य इन दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो चैतन्य से चैतन्यात्मक पुरुष कदापि भिन्न नहीं है।[४] अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्प रूप है।

उपर्युक्त पाँच चित्तवृत्तियों के निरोध से ही तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यंतिकी निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार चित्त-वृत्ति के निरोध के उपाय अभ्यास तथा वैराग्य हैं। वैराग्य के द्वारा चित्तरूप नदी का पापस्रोत रोका जाता है और विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक-स्रोत का उद्घाटन होता है। अतएव वैराग्य और अभ्यास चित्तवृत्ति के निरोध के मूल कारण हैं।

संस्कार : जैसा कि कह चुके हैं वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का निर्माण होता है। जब चित्त में वृत्तियां उत्पन्न होकर क्षीण हो जाती हैं तो वे अपने सूक्ष्म रूप में, संस्कार रूप में शेष रह जाती हैं। इस प्रकार वृत्तियां संस्कार की निर्मात्री हैं। इन संस्कारों से ही उद्बोधन-हेतु की उपस्थिति में वृत्तियों का निर्माण होता है। इस प्रकार संस्कार और वृत्तियों का यह चक्र सतत चलता रहता है।

योगदर्शन का क्लेश-सम्बन्धी दृष्टिकोण

योगदर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान के कारण ही चित्त में क्लेश की उत्पत्ति होती है। योगदर्शन के भाष्य में कहा गया है कि क्लेश ही गुणों के अधिकार को दृढ़ बनाते हैं तथा महत् तत्त्व एवं अहंकारादि की परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं। क्लेश ही आपस में अनु-ग्राहक बनकर कर्मों के फलों—जाति, आयु तथा भोग—को निष्पन्न करते हैं।[1] क्लेश और कर्म आपस में एक-दूसरे के सहयोगी हैं। कर्म क्लेशों के उत्पादक हैं तथा क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। ये क्लेश निम्नलिखित पाँच हैं :

१. अविद्या
२. अस्मिता
३. राग
४. द्वेष और
५. अभिनिवेश

१. अविद्या : अविद्या अज्ञान का स्वरूप है। अविद्या के सम्बन्ध में योगदर्शन के भाष्य-कार व्यास ने कहा है कि अनित्य, अशुचि, दुःखरूप तथा अनात्म वस्तुओं में नित्यता, शुचिता, सुखता तथा आत्मता की बुद्धि रखना अविद्या है।[2] यही अविद्या क्लेश-सन्तान का बीज है तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। अविद्या का विस्तृत विवेचन आगे अद्वैत वेदान्त की अविद्या से तुलना करते समय किया जायगा।

२. अस्मिता : अस्मिता का साधारण अर्थ अहंबुद्धि है। दृक् और दर्शनशक्ति की एकात्मता अस्मिता है। दृक्शक्ति पुरुष है तथा दर्शनशक्ति बुद्धि है। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन दोनों की एकात्मता स्वीकार करना ही अस्मिता है। इनमें पुरुष भोक्ता है तथा बुद्धि भोग्य। भोक्ता और भोग्य की एकत्व कल्पना से ही भोग की कल्पना होती है। उन दोनों के स्वरूप का ज्ञान (भिन्नता का ज्ञान) हो जाने पर तो कैवल्य ही हो जाता है।[3]

३. राग : सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे राग कहते हैं।

---

१. योगभाष्य, २।३
२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। —योगभाष्य, २।५
३. योगभाष्य, २।६

४. द्वेष : दुःखाभिज्ञ पुरुष को दुःख की स्मृति के आधार पर दुःख के साधनों के सम्बन्ध में जो क्रोध की भावना उत्पन्न होती है, उसे द्वेष कहते हैं।

५. अभिनिवेश : अभिनिवेश का तात्पर्य मृत्यु-भय से है। यह मृत्यु-भय प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रूप से होता है। अभिनिवेश (मृत्युभय) के सम्बन्ध में भाष्यकार का यह मत कुछ संदिग्ध प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अत्यंत मूढ़ प्राणियों को मृत्युभय लगा रहता है, उसी प्रकार पूर्व और पर के अन्त को जानने वाले विद्वानों को भी मृत्युभय बना रहता है। अपने मत के समर्थन में भाष्यकार का कथन है कि कुशल और अकुशल दोनों में ही मृत्यु-दुःख के अनुभव के कारण उत्पन्न होने वाली यह (मृत्युभय की) वासना समान ही है।[१] भाष्यकार के उक्त मत में यह अंश समुचित नहीं प्रतीत होता कि विद्वान् को भी मृत्यु-भय बना रहता है। भाष्यकार के मत के सम्बन्ध में उक्त शंका वाचस्पति मिश्र को भी हुई थी। उन्होंने कहा था कि यह तो ठीक है कि अज्ञानी को मृत्यु का भय रहता है, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता कि ज्ञानी में भी मृत्युभय बना रहता है। ज्ञानी में तो ज्ञान के द्वारा मृत्यु-भय की वासना का विध्वंस हो जाना चाहिए।[२] मेरे विचार से, विद्वान् से भाष्यकार का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से प्रतीत होता है जिसे आनुमानिक या वाचिक ज्ञान तो है, परन्तु अनुभव नहीं। अतः कैवल्योपनिषद् में परमतत्त्व के वेत्ता जिस विद्वान् की चर्चा की गई है[३] उससे भाष्यकार का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता। बिना समाधि आदि अनुभव के मृत्यु-भय का निवारण नहीं हो सकता। उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा गया है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुधा श्रुतेन।' (कठोपनिषद्, १।२।२३)

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि 'विद्वान्' शब्द का भाष्यकार-सम्मत अर्थ परम-तत्त्ववेत्ता से नहीं है, अपितु शास्त्रों के ज्ञाता मात्र से है।

योग के साधन

पातंजल योग में योग के आठ साधनों की चर्चा की गई है।[४] ये साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि हैं। ये आठ साधन योग के अंग भी कहलाते हैं। इस स्थल पर इन योगांगों का संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

१. **यम** : यम का अर्थ संयम है। यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, ये पांच भेद हैं।

२. **नियम** : नियम के भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान रूप से पांच भेद हैं।

३. **आसन** : योगदर्शन में स्थिर तथा सुख प्रदान करने वाले बैठने के प्रकार को आसन कहते हैं।[५] उपासना में आसन-सिद्धि की अत्यन्त उपादेयता है। आसनसिद्धि चित्त की एकाग्रता में अत्यन्त सहायक होती है। हठयोग प्रदीपिका के अन्तर्गत पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि आसनों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

---

१. समाना हि कुशलाकुशलयो मरणदुःखानुभवादियं वासना। —योगसूत्रभाष्य, २।९
२. तत्त्ववैशारदी, २।९
३. कैवल्योपनिषद्, १।१
४. योगसूत्र, २।२९
५. स्थिरसुखमासनम्। —योगसूत्र, २।४६

४. **प्राणायाम** : श्वास और प्रश्वास के गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाह्य वायु का आचमन श्वास तथा भीतरी वायु का निःसारण प्रश्वास कहलाता है। पतंजलि ने योगसूत्र के अन्तर्गत बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक, प्राणायाम के ये चार भेद बतलाये हैं।
५. **प्रत्याहार** : चित्त-निरोध के समान ही जब बाह्य विषयों से इन्द्रियों का निरोध हो जाता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। इस स्थिति में इन्द्रियों की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है।
६. **धारणा** : किसी देश में चित्त का लगा देना धारणा कहलाता है।[1] देश से तात्पर्य नाभि-चक्र, हृदयकमल, मूर्धज्योति, नासिकाग्रभाग तथा जिह्वाग्रभाग आदि से है।
७. **ध्यान** : उपर्युक्त देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार होकर प्रवाहित होता है तो उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यानावस्था में एकाकार रूप ज्ञान से बलवान् और कोई ज्ञान नहीं होता।
८. **समाधि** : जब ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है और अपने स्वरूप से शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसे समाधि कहते हैं। समाधि में ध्यान और ध्याता का भेद मिट जाता है। इसके विपरीत ध्यान में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद बना रहता है।

पतंजलि ने धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों को मिलाकर संयम कहा है।[2] भाष्य-कार ने संयम को उक्त तीनों की तांत्रिकी परिभाषा कहा है।[3] संयम में सफल होने से आलोक का उदय होता है।

समाधि के भेद : योगदर्शन में समाधि के, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात, ये दो भेद मिलते हैं। संप्रज्ञात समाधि को सबीज और असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि इसलिए कहते हैं कि उसमें चित्त के समाहित होने के लिए कुछ न-कुछ बीज बना रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद बतलाये गए हैं। ये भेद—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत हैं। असम्प्रज्ञात समाधि भी भव-प्रत्यय और उपायप्रत्यय रूप से दो प्रकार की है। उपायप्रत्यय समाधि योगियों की समाधि है। इसमें अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। भवप्रत्यय समाधि में कुछ काल तक तो चित्तनिरोध पाया जाता है, परन्तु फिर भी 'व्युत्थान' अर्थात् चित्त-विक्षेप की सम्भावना बनी रहती है। पतंजलि के अनुसार 'भवप्रत्यय' समाधि वह समाधि है जिसमें विदेह देवताओं की तरह प्रकृतिलीन व्यक्ति भी लीन रहते हैं।[4] विदेह षाट्कौशिक (रक्त, मांस मेद अस्थि, मज्जा तथा शुक्र) शरीर से रहित होते हैं।[5] इस अवस्था में वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु फिर भी केवल संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसीलिए यह विदेहावस्था कैवल्यावस्था के किंचित्

---

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योगसूत्र, ३।१
२. त्रयमेकत्र संयमः। —योगसूत्र, ३।४
३. योगसूत्रभाष्य, ३।४
४. योगसूत्र, १।१९
५. And they are stripped off the outer six sheathed body.
(Tattva Vaishardi 1/19; *Woods* : Yoga System of Patanjali, Harvard Oriental Series, No. 17)

समान ही है। विदेहावस्था वाले अवधि की समाप्ति होने पर पुनः संसार-दशा में आ जाते हैं। अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पंच तन्मात्राओं में से किसी एक को आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरणवाले जीव-शरीर का पतन हो जाने पर उपर्युक्त अव्यक्तादि में से किसी एक में लीन हो जाते हैं। यह जीवों की प्रकृतिलयावस्था है। प्रकृतिलयावस्था में विवेकख्याति को न प्राप्त करके भी ये जीव अपने-आपको कैवल्य का प्राप्त करने वाला समझते हैं। अवधि की पूर्ति होने पर ये जीव भी फिर संसार-दशा में आ जाते हैं। तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने पर मिट्टी में मिला हुआ मेंढक वर्षा के होने पर फिर अपने शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार अवधि की समाप्ति होने पर प्रकृतिलीन जीव भी पुनः शरीर धारण कर लेता है।[१]

असम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा भेद 'उपायप्रत्यय' है। 'उपायप्रत्यय' ही समाधि का वास्तविक स्वरूप है। उपाय का अर्थ प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान है। ज्ञान का पूर्ण उदय तथा वृत्ति-निरोध के होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसी का नाम 'उपायप्रत्यय' है। समाधि की इस अवस्था में ज्ञान का उदय होने के कारण समस्त संस्कारों का दाह हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप संस्कारजन्य अविद्या एवं तज्जन्य क्लेशों का विनाश हो जाता है। भव-प्रत्यय में भी अविद्या की निवृत्ति होती है, परन्तु क्षणिक। इसके विपरीत उपायप्रत्यय में अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। बौद्ध दर्शन में प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की विचारदृष्टि योगदर्शन-सम्मत समाधि की उक्त अवस्थाओं के समान ही है। महर्षि पतंजलि ने उपायप्रत्यय समाधि के—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा—ये पांच साधन बतलाये हैं।[२] भाष्यकार ने श्रद्धा को तो माता के समान योगी की कल्याणकारिणी कहा है।[३]

उक्त दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने पर यह पता चलता है कि असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत आनेवाली 'उपायप्रत्यय' समाधि ही योगदर्शन के साधक का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसी में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू०, १।२) के साथ-साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू०, १।३) की चरितार्थता होती है।

ईश्वरसम्बन्धी मान्यता

योगदर्शन की ईश्वरसम्बन्धी मान्यता सांख्य से विशिष्ट है। योगदर्शन के अन्तर्गत पांच सूत्रों में ईश्वरसम्बन्धी वर्णन मिलता है।[४] इन सूत्रों में एक सूत्र—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू०, १।१४) के अन्तर्गत ईश्वर की परिभाषा भी निबद्ध है। इस सूत्र के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—इन पंचक्लेशों, पुण्य एवं पापकर्मों, कर्मों से उत्पन्न—जाति, आयु तथा भोगरूप फलों तथा तदुत्पन्न वासनाओं

---

१. तत्त्ववैशारदी, १।१६
२. योगसूत्र, १।२०
३. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। —योगसूत्रभाष्य, १।२०
४. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। —यो० सू०, १।२३;
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —यो० सू०, १।२४
तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः, (यो० सू०, २।१); समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू०, २।४५), शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
—यो० सू०, २।३२

से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को ईश्वर कहते हैं। पतंजलि का ईश्वर को भी 'पुरुष-विशेष' की संज्ञा देना यह सिद्ध करता है कि वे सांख्य के साथ योग का सामंजस्य बनाये रखना चाहते थे। ईश्वर-सम्बन्धी विचार की दृष्टि से 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (यो० सू० १।२३) सूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि समाधिलाभ ईश्वरप्रणिधान से होता है। प्रणिधान का तात्पर्य भक्ति-विशेष, विशिष्ट उपासना तथा विषय-सुखादिक फल की इच्छा न करते हुए समस्त क्रियाओं के ईश्वर में समर्पण से है।[1] इससे ईश्वर का सगुण एवं उपास्य रूप स्पष्ट प्रतिपादित होता है। योगदर्शन में सर्वोच्च सत्ता ईश्वर की ही मानी गई है। इस ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष, सर्वज्ञत्व तथा सर्वाधिष्ठातृत्व है। ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यशाली और दूसरा कोई नहीं है। वह सदा ऐश्वर्यसम्पन्न तथा सर्वदा मुक्त है।[2]

योगदर्शन-सम्मत ईश्वर में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वैशिष्ट्य होने के कारण ही उसे पुरुष-विशेष कहा गया है। ईश्वर के इस वैशिष्ट्य का निम्नलिखित स्वरूप मिलता है—

पुरुष की अपेक्षा 'पुरुषविशेष' ईश्वर की विशेषताएं

(क) जीव प्राकृतिक[3], वैकारिक[4] तथा दाक्षिणिक[5] बन्धनों से मुक्त होकर 'केवलीपुरुष' बनता है, किन्तु ईश्वर सर्वथा बन्धनरहित है। अतः ईश्वर 'केवली' पुरुष से भिन्न है।[6]

(ख) 'पुरुष विशेष'—ईश्वर मुक्त पुरुष से भी भिन्न है। इसका कारण यह है कि मुक्त पुरुष पहले बंधन में रहते हैं और तत्पश्चात् मुक्त होते हैं, परन्तु ईश्वर सर्वदा मुक्त है। अतः ईश्वर मुक्त पुरुष से भिन्न है।

(ग) ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है क्योंकि प्रकृतिलीन पुरुष या तो शरीर के नाश होने पर प्रकृति में लीन हो जाता है अथवा मुक्तवत् होकर पुनः हिरण्यगर्भ के स्वरूप को ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रकृतिलीन पुरुष का उत्तरकाल में बन्धन सम्भव है, परन्तु ईश्वर सर्वदा ही बन्धन से मुक्त है। इसीलिए ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है। योगदर्शन में ईश्वर का 'प्रणव' नाम दिया है।

ईश्वर की उपर्युक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि ईश्वर 'पुरुषविशेष' होते हुए भी पुरुष के लक्षणों से सर्वथा भिन्न लक्षणों वाला है।

जैसा कि डा० राधाकृष्णन् का विचार है, पातंजलयोग-सम्मत ईश्वर का विवेचन सरल नहीं है।[7] प्रो० गार्बे ने भी पतंजलि के सगुण ईश्वर की आलोचना की है।[8] इस सम्बन्ध में प्रो० गार्बे

---

१. भोजवृत्ति, यो० सू०, १।२३
२. योगसूत्रभाष्य, १।२४
३. जड़ प्रकृति को ही आत्मा जानकर उसमें लीन हो जाना प्राकृतिक बन्धन है।
४. महत्तत्त्व आदि विकारों को ही आत्मा समझना और उनमें तन्मय हो जाना वैकारिक बन्धन है।
५. आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर यज्ञादि कर्म करने में सदा निरत रहना दाक्षिणिक बन्धन है।
६. योगभाष्य, १।२४
७. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 370
८. The Philosophy of Ancient India, p. 15

का कथन है—कि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में (योगसूत्र १।२३, २७ तथा २।१,४५) जो शारीरिक ईश्वर की स्थापना की है उसका सामंजस्य योग के अन्य सिद्धान्तों के साथ घटित नहीं होता। वास्तव में पातंजल योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। पातंजल योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च एवं सर्वज्ञ तो है परन्तु वह मुमुक्षु को साक्षात् मोक्ष प्रदान नहीं करता। वह तो भक्त के मोक्ष-पथ में सौविध्य मात्र प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त योग का ईश्वर जगत् का स्रष्टा एवं संरक्षक भी नहीं है।[१] यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि योग-प्रतिपादित ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। इसी दृष्टिकोण से मैक्समूलर ने राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा किए गए—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योगसूत्र, १।२३) सूत्र के अनुवाद (Devotion to God) को असंगत कहा है।[२] इस स्थल पर इससे मैक्समूलर का यह कथन प्रतीत होता है कि ब्रह्म-वाचक 'गॉड' शब्द का प्रयोग योग के ईश्वर के लिए अनुपयुक्त है। विद्वान् रूनिस के मतानुसार भी मैक्समूलर का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि रूनिस ने गॉड शब्द का अर्थ सर्वोच्च शक्ति ही ग्रहण किया है।[३]

कदाचित् उपर्युक्त आपत्ति से बचने के लिए ही हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रो० वुड्स ने उक्त सूत्र का अनुवाद करते हुए मूल सूत्र में प्रयुक्त ईश्वर शब्द के स्थान पर रोमन में ईश्वर शब्द का ही प्रयोग किया है। प्रो० वुड्स का अनुवाद इस प्रकार है :

Or (concentration) is attained by devotion to the Isvara (Woods, Yoga System of Patanjali, p. 48).

योग का मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

पतंजलि ने अपने योगसूत्र में 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (३।५६) सूत्र के अन्तर्गत कैवल्य अर्थात् मुक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है वही कैवल्य है। समस्त कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के द्वारा अपने कारण में लय हो जाना बुद्धिसत्त्व की शुद्धि है।[४] शुद्ध होने पर बुद्धिसत्त्व रज एवं तम से अनावृत हो जाता है तथा पुरुष की अन्यताप्रतीति के फलस्वरूप क्लेश बीजदग्ध हो जाते हैं। पुरुष की शुद्धि उपचरित भोगों का अभाव है।[५] पुरुष इस अवस्था में केवल 'चिति' शक्ति के रूप में वर्तमान रहता है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। यही पुरुष की कैवल्य की स्थिति है। ईश्वर अथवा अनीश्वर, ज्ञानी अथवा अज्ञानी सभी की कैवल्य-स्थिति सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों के आलोचन से ज्ञात होता है कि इन दोनों

---

१. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 109.
२. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 127.
३. *Runes* : THE DICTIONARY OF PHILOSOPHY, p. 118.
४. राजमार्तण्डवृत्ति योगसूत्र, ३।५६
५. योगसूत्रभाष्य, ३।५४ पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९२४

सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक आचार्य शंकर एक महान् योगी थे। अपने योगबल से ही आचार्य ने मंडनमिश्र की अर्धांगिनी (भारती) को पराजित करने के अर्थ उनके कोकशास्त्र के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त अपने शरीर को तो नर्मदा-तटवर्ती वन में अपने पद्मपादादि शिष्यों को समर्पित कर दिया था और अपना जीव उसी समय मृत्यु को प्राप्त राजा अमरुक के शरीर में डाल दिया था। इतना ही नहीं, यह प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम काल में केदारनाथ में जाकर समाधि ली थी। आज भी उस स्थान पर शंकराचार्य की समाधि बनी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक होने के साथ-साथ योग के भी पूर्णतया समर्थक थे। इस स्थल पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के सामंजस्यमूलक अध्ययन के द्वारा साम्य में एवं विरोध के आधार पर दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं प्रभाव देखना है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध का साम्य

पातंजल योग की विवेचना करते समय, अभी यह कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति-निरोध का नाम ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—यो० सू० १।२)। यह चित्तवृत्ति-निरोध अद्वैती के लिए भी अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध किये बिना मोक्षोपलब्धि असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीगणेश होता है। अतएव शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट ही कहा है कि "जिसका चित्त प्रशान्त हो, जिसने इंद्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध हो, जो पूर्वोक्त बातों—(काम्य-निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्यादि कर्मों) का अनुष्ठान करता हो; जिसमें विवेक-वैराग्यादि गुण वर्तमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो और जो गुरु-वाक्यों में श्रद्धा रखता हो, ऐसे मुमुक्षु के लिए ही आत्मज्ञान का उपदेश देना चाहिए।"[1] सदानन्द ने भी वेदान्तसार में वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिए विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व की आवश्यकता बतलाई है। इनमें शमादि चार समाधानों, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व को साधन-चतुष्टय भी कहते हैं। साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत गृहीत—शम के अनुसार श्रवण एवं मननादि से भिन्न विषयों से मन का निग्रह किया जाता है—शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।[2] इसके अतिरिक्त साधनचतुष्टय के अन्तर्गत परिगणित अन्य स्थितियां भी मनोनिग्रह या चित्तवृत्ति-निरोध के ही फलस्वरूप हैं। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैती मोक्षोपासक के लिए भी चित्तवृत्ति-निरोध का उतना ही महत्त्व है जितना एक योगी के लिए है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूप : अविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है। अविद्या एवं मायावाद के सिद्धान्त के आधार पर ही शांकर अद्वैतवाद का ढांचा खड़ा किया गया है। अविद्या अज्ञान का पर्यायवाची शब्द है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या

---

१. प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे॥
(उपदेश साहस्री, पार्थिवप्रकरण, ७२)

२. वेदान्तसार—४।

अथवा अज्ञान की आवरण और विक्षेप रूप दो शक्तियां स्वीकार की गयी हैं।[1] आवरण-शक्ति के द्वारा वस्तु अन्यथारूप से भासती है। इस प्रकार आवृतिरूपा अविद्या अध्यारोपवाद की जननी है। अध्यास का लक्षण अद्वैत वेदान्त में 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कहकर किया गया है।[2] योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण 'अतस्मिंस्तत् प्रतिभासो अविद्या'[3] कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी आरोपवाद की ही समर्थक है। रज्जु में सर्प के भासित होने का कारण अविद्याजन्य आरोप ही है। शंकराचार्य ने विक्षेपरूपा अविद्या को रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है।[4] पातंजल योग में भी अविद्या को अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश की प्रसवभूमि कहा गया है।[5] जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार मिथ्या ज्ञानरूपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योग दर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।[6] पंचदशीकार ने माया की मोहक शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जैसे माया में जगत् के सृजन की सामर्थ्य है, वैसे ही जीव को मोहने की शक्ति भी है।[7] इसी प्रकार योगदर्शन में भी 'अविद्या मोहः' (भोजवृत्ति, यो० सू० २।४) आदि उक्तियों के द्वारा अविद्या की मोहशक्ति की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार विचार करने पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के अविद्या-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य मिलता है। परन्तु यह भी विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या एवं माया के शक्ति रूप का जिस प्रकार विवेचन किया गया है उसका योगदर्शन में अभाव है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त : जैसा कि ऊपर विवेचन कर चुके हैं, योगदर्शन-सम्मत ईश्वर एक विलक्षण 'पुरुषविशेष' है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्ति-सम्पन्न है। मायाशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। बिना मायाशक्ति के शांकर वेदान्त में ईश्वर का स्रष्टापन नहीं सिद्ध होता।[8] योगदर्शन के पुरुषविशेष ईश्वर के लिए इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। योगदर्शन में जिस सगुण ईश्वर की अपेक्षा है उसकी परमार्थ सत्ता की वेदान्तियों ने अपेक्षा नहीं समझी है।[9] योगदर्शन के अनुसार ईश्वर इच्छा मात्र से ही सारे जगत् का उद्धरण

---

१. विवेकचूडामणि—११३, ११४, ११५। दृग्दृश्यविवेक १३।१५,। वेदान्तसार १०।
२. ब्र० सू० शा० भा०, उपोद्घात।
३. भोजवृत्ति यो० सू०, २।५
४. रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः। (विवेकचूडामणि, पृ० ११३)
५. अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम्। —यो० भा०, २।४
६. भोजवृत्ति, २।४
७. पंचदशी, ४।१२
८. नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति। —ब्र० सू० शा० भा०, १।४।३
९. In the Vedanta Philosophy the question of the real existence of a personal Iswara never arise. (Max Muller, Indian Philosophy, Vol. III, p. 110.)

करने में समर्थ है।[1] यहां, यह और विचार्य है कि ईश्वर की यह इच्छा किसी निजी प्रयोजन के वश नहीं उत्पन्न होती, वरन् यों कहिये कि भूतानुग्रह ही ईश्वर का प्रयोजन होता है।[2] अद्वैत वेदान्त में भी सृष्टिरचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीलारूप प्रवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है।[3] इस सम्बन्ध में ब्रैडले का कथन है कि समस्त लीला ईश्वर की क्रियात्मकता का ही फल है, परन्तु यह, परमेश्वर की क्रियाशीलता स्वभावज होने के कारण किसी प्रकार की कामना अथवा विवशता से वर्जित है।[4] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में ईश्वर की लोकोद्धरण की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस स्थल पर भी साम्य है कि ईश्वर अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और अविद्या, इन पंचक्लेशों; शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण और अशुक्लकृष्ण इन चार प्रकार के कर्मों; जाति, आयु तथा भोग—इन कर्म-विपाकों और इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारों से अस्पृष्ट है।[5] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचार-धारा में पर्याप्त साम्य होते हुए भी यह मौलिक भेद स्मरण रखना चाहिए कि योगदर्शन के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तरह ब्रह्म के दो भेद, सगुण और निर्गुण, नहीं मिलते। वेदान्त में तो सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधाराओं में साम्य होते हुए भी मौलिक भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति. अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन, दोनों ही दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत मुक्ति को अंगीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति की जो विवेचना मिलती है, उसका योगदर्शन-पद्धति में अभाव है। जैसा कि योगदर्शन-सम्मत मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, योगदर्शन के अन्तर्गत भी एक प्रकार की विदेहावस्था का वर्णन मिलता है। असम्प्रज्ञात समाधि की ही भेदरूप—भवप्रत्यय समाधि—की अवस्था में जीव के पाट्कौशिक शरीर का पतन होने पर इन्द्रियों या भूतों में लीन होकर संस्कारमात्र से युक्त मन को रखने वाले जीव विदेह कहलाते हैं।[6] इस अवस्था में यद्यपि वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं परन्तु फिर भी संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त-सम्मत विदेह मुक्त्यवस्था में समस्त वृत्तियों, संस्कारों एवं शरीर का नाश हो जाने पर भोगादि का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार दोनों दर्शनों की विदेहावस्था में अन्तर है। जहां तक जीवनमुक्ति का सम्बन्ध है, जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में जीवनमुक्त प्राणी का शरीर-त्याग नहीं होता, उसी प्रकार योगदर्शन में भी मिथ्या संसार-बन्धन से मुक्त प्राणी का लोप नहीं हो जाता, वरन् वह वेदान्ती जीवन्मुक्त की ही तरह संसार-प्रकृति से पृथक् रहते हुए अपना जीवन धारण करता है। ऐसा जीवनमुक्त प्राणी अविद्या-बन्धन से बंधे हुए प्राणियों के बीच भी मुक्ति का अनुभव करता है। उसे न दूसरे

---

१. इच्छामात्रेण जगदुद्धरणक्षमः। —भोजवृत्ति १।२४
२. भोजवृत्ति, १।२४
३. ब्र० सू० शा० भा० २।१।३३
४. *Bradley* : ESSAYS ON TRUTH & REALITY, p. 50-51.
५. ब्र० सू० शा० भा० २।१।६ तथा योगसूत्र, १।२४
६. तत्त्ववैशारदी १।१९ (हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज, १७)

जीवन का भय होता है और न कोई आशा ही होती है। इस परिवर्तनशील संसार में भी वह जीवन्मुक्त प्राणी अपरिवर्तित ही रहता है।[१] वैसे तो, अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन, इन दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अनुसार अविद्यानिवृत्ति होने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु दोनों की अविद्या-सम्बन्धी दृष्टि में भेद है। अद्वैत-दृष्टि से विचार करने पर जगत् से ब्रह्म की संज्ञा को पृथक् मानना अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना से होती है। इसके विपरीत योगदर्शन के अनुसार बुद्धिसत्त्व के क्लेश-बीजों के दग्ध होने के लिए 'पुरुष' की अन्यता-प्रतीति आवश्यक है। यह अन्यताप्रतीति ही मोक्ष का प्रमुख कारण है।[२] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी विवेचन में प्रक्रियागत भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह पता चलता है कि दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य एवं यत्किञ्चित् विरोध होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।[३] इस सम्बन्ध में यह कथन किसी पूर्वाग्रह पर आधारित न होगा कि प्राचीन औपनिषद अद्वैत वेदान्त के अविद्या, चित्तवृत्तिनिरोध, ईश्वर, मुक्ति एवं कर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव योगदर्शन के उक्त सिद्धान्तों पर भी पड़ा है। ऊपर अद्वैत वेदान्त एवं योगदर्शन के चित्तवृत्ति-निरोध और अविद्या आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करते समय इन सिद्धान्तों का साम्य देखा जा चुका है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन में वेदान्त के सम्बन्ध में जिन स्थलों को उद्धृत किया गया है, वे योग-परवर्ती वेदान्त के हैं, अतः योगदर्शन पर वेदान्त का प्रभाव कैसे संगत हो सकता है। इस प्रसंग में लेखक का विचार है कि परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों का विकास हुआ है उनके बीज औपनिषद दर्शन में पूर्णतया निहित हैं। अतः योगदर्शन पर प्राचीन अद्वैतवाद का प्रभाव मानने में कोई आपत्ति न होगी। इन दोनों दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक रूप ही से किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्यावहारिक रूप में मिलता है।[४] चित्तवृत्ति

---

१. Secondly, the Purusha, though freed from illusion, is not thereby annihilated. He is himself, apart from nature, and it is possible, though it is not distinctly stated that the Purusha in his aloneness may continue his life, like the Jivanmukta of the Vedanta, maintaining his freedom among a crowd of slaves, without any fear or hope of another life-unchanged himself in this everchanging Samsara. (Max Muller, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. III, p. 143.).

२. The principal cause is the knowledge of distinction. (Tattvavaishardi, Allahabad, 1924) तथा देखिये यो० भा० ३।५४।

३. *S.N. Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 492.

४. उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ३१७-१८।

निरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक विवेचन ही हैं। अतः वेदान्ती को योग की महती उपादेयता माननी चाहिए। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का सम्बन्ध स्वतः-सिद्ध है।

अद्वैत वेदान्त (उत्तरमीमांसा) और पूर्वमीमांसा दर्शन

पूर्वमीमांसा का संक्षिप्त स्वरूप : पूर्वमीमांसा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने से पूर्व 'पूर्वमीमांसा' के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करना अत्यंत आवश्यक है। अतः यहां पहले पूर्व-मीमांसा शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

पूर्वमीमांसा का अर्थ

पूर्वमीमांसा के अर्थ के स्वस्थ विचार के अभाव में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाएं वन गयी हैं। इसका फल यहां तक हुआ है कि किसी-किसी ने तो इसे 'दर्शन' स्वीकार करने में ही आपत्ति प्रदर्शित की है। कुछ-एक विचारक तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पूर्व और उत्तर शब्दों के आधार पर, इन दोनों दर्शन-पद्धतियों को पूर्वकालिक एवं उत्तरकालिक भी कहते हैं—जैसे पाश्चात्त्य विद्वान् कोलब्रुक।[1] इस स्थल पर पूर्वमीमांसा के अर्थ के निश्चय का प्रयत्न है। जिसके परिणामस्वरूप इस सम्बन्ध में उक्त-अनुक्त सभी भ्रान्तियों का निरा-करण सम्भव है।

मीमांसा शब्द की उत्पत्ति विचारार्थक 'मान्' धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होने पर होती है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मीमांसा शब्द का अर्थ गंभीर चिन्तन है और इस प्रकार पूर्वमीमांसा का अर्थ होगा : किसी विषय पर किया गया प्रथम गम्भीर चिन्तन। वेद के दो स्वरूप प्रचलित हैं—एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पूर्वमीमांसा का विषय कर्मकाण्ड है और उत्तरमीमांसा का विषय ज्ञानकाण्ड। जैमिनि और वादरायण दोनों उत्तरमीमांसकों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों की स्थापना, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमिनिसूत्र, १।१।१) और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, १।१।१) सूत्रों द्वारा आरम्भ में ही कर दी है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि 'पूर्वमीमांसा' का धर्म और उत्तरमीमांसा का 'ब्रह्म' दो पृथक्-पृथक् उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर चलते हैं। वेद का सिद्धान्त तो वेदान्त ही है, इसीलिये उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं, क्योंकि उसमें उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्ष की स्थापना है। धर्म और कर्म का सम्बन्ध सापेक्ष है। पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत दोनों का ही प्रतिपादन मिलता है। यहां पूर्वमीमांसा से यह समझना चाहिए कि धर्म और कर्म के प्रतिपादन की मीमांसा, वेदान्त-प्रतिपाद्य मोक्ष के इच्छुक के लिए पहला प्रयास है। इसीलिए तो शंकराचार्य ने भी ज्ञान-पक्ष का मण्डन करते हुए भी आचार-पोषक कर्म की महत्ता को निःसंकोच स्वीकार किया है।[2] अन्यथा इस लोक के लिए शांकर दर्शन का महत्त्व ही क्या रह जाता? परन्तु यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य कर्म को परं-परया ही मोक्ष का साधक मानते हैं, साक्षात् नहीं। इसीलिए आचार्य शंकर को मीमांसकों

---

१. *Colebrooke* : MISC. ESSAYS, Vol. I, p. 239

२. कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मनः शक्नुवन्त्यात्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम्। (बृ० उ० भा०, ४।४।२२)

के अनुसार सीधे कर्म से अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय से मुक्ति-लाभ स्वीकार करने में आपत्ति है।[1]

ऊपर किये गये विवेचन से हमारा अभिप्राय यह है कि पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत वेद के पूर्वपक्ष (कर्मकांड) का ही विवेचन किया गया है, इसीलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा है। अतः जैसाकि पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा जा चुका है, प्रो० कोलब्रुक का यह मत युक्त नहीं प्रतीत होता कि काल की दृष्टि से पूर्व और उत्तरमीमांसा में पूर्व और उत्तर का भेद है। इस तथ्य के आधार पर कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने अपने सूत्रों में मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि का उल्लेख किया है, यह कहना उचित न होगा कि पूर्वमीमांसा उत्तर-मीमांसा से प्राचीन है। जैसे कि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत किया गया है, वैसे ही जैमिनि के मीमांसासूत्र के अन्तर्गत भी बादरायण का उल्लेख मिलता है।[2] अतः पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा की अपेक्षा पूर्वकालिक होना उचित नहीं कहा जा सकता।

ऊपर हमने मीमांसा के जिस अर्थ की विवेचना की है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं क्रियापद के रूप में और कहीं संज्ञा के रूप में जैमिनि से पूर्व ब्राह्मण एवं उपनिषद्-आदि ग्रन्थों में बहुत प्राचीन काल से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इस सम्बन्ध में यहां कुछ स्थल उद्धृत कर रहे हैं :

(१) उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति **मीमांसन्ते** ब्रह्मवादिनः तद्वाहुः। उत्सृज्यामेवेति (तै० सं०, ७-५।७।१)

(२) ब्राह्मणं पात्रे न **मीमांसेत**। (तांड्यब्राह्मण[3], ६।५।९)

(३) उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति **मीमांसन्ते** (कौषितकी ब्राह्मण, २।९)[4]

(४) प्राचीनशाला औपमन्यवः.........यदा श्रोत्रियाः समेत्य **मीमांसाञ्चक्रुः** कोनु आत्मा किं ब्रह्मेति। (छा० उ०, ५।११।१)

(५) सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। (तै० उ०, २।८।१)

मीमांसा शब्द के उपर्युक्त प्रयोगों से मीमांसा की प्राचीनता स्पष्ट प्रतीत होती है।

मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया

प्रमाण-निरूपण : तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रमा-कारण को प्रमाण कहते हैं। जहां तक प्रमा की बात है, अज्ञात एवं सत्य रूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[5] उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार स्मृति, भ्रम तथा संशयरूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि भ्रमजन्य एवं संशयोत्पन्न ज्ञान में वास्तविकता नहीं होती। इस प्रकार जहां जिस वस्तु की जैसी स्थिति है उसका वैसा ही ज्ञान प्रमा है। इस प्रमा का कारण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार शास्त्र-

---

१. ऐतरेयोपनिषद् भाष्य का उपोद्घात।
२. *Max Muller* : INDIAN PHILOSPHY, Vol. II p, 91
३. चौखम्बा संस्करण १९६१।
४. Edited by B. Lindner.
५. प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्। —मानमेयोदय, १।२ (अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावली, १९१२)

दीपिका के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न होकर दोषरहित हो, वही प्रमाण है।[१] इन प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में, जैसाकि कहा जा चुका है, भिन्न-भिन्न दर्शनपद्धतियों में तो मतभेद है ही, स्वयं मीमांसा के ही अन्तर्गत भाट्ट एवं प्रभाकर मत में भी अन्तर है। भाट्ट मत के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि, ये छह प्रमाण माने गये हैं। प्रभाकर मत में उक्त छह प्रमाणों में से अनुपलब्धि को छोड़कर शेष पांच को ही स्वीकार किया गया है। यहां दोनों परम्पराओं के अनुसार प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण

रामानुजाचार्य ने प्रत्यक्ष की परिभाषा 'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'[२] कह कर दी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्षात् सम्बन्ध इन्द्रियों से है। वैसे तो अनुमान-ज्ञान मन-इन्द्रिय द्वारा जन्य है परन्तु उसमें इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात्कार नहीं होता। यही अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद है।

प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद

निर्विकल्पक ज्ञान : इन्द्रियसन्निकर्ष के पश्चात्, विशेषण-विशेष्य भाग से रहित, विषय-स्वरूप मात्र का ग्राहक, शब्दानुगम से शून्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में किसी सत्ता मात्र की ही उपलब्धि होती है, उसकी प्रकारता या विशेषता आदि की नहीं। परन्तु सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशेषताओं का ज्ञान होता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी वर्तमान रहती हैं। अतः निर्विकल्पक अवस्था ज्ञान की प्रथम अवस्था है। जिस प्रकार शिशुपालवध काव्य में प्रारम्भ में अवतरित हुए नारद पहले एक तेजःपुंज के रूप में दिखाई देते हैं—उस समय उनकी कोई विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती, यही निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था है।

सविकल्पक ज्ञान—जब ज्ञान की उपर्युक्त प्राथमिक अवस्था अन्य उपकरणों से पुष्ट होती जाती है तथा उसका विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से सम्बन्ध होता चला जाता है, तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान जाति, द्रव्य गुण, क्रिया, नाम—इन पांच प्रकार के विकल्पों से प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त माघकाव्य के नारद के उदाहरण में नारद का पुरुषत्व—जाति, वीणापाणित्व—द्रव्य, तेजस्विता—गुण, तपस्विता—क्रिया तथा नारद—नाम विकल्प है। इसी विकल्प-योजना पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।[३]

आलोचना

ऊपर किये गये स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान का आधार है। परन्तु इस विषय में बौद्धों तथा वैयाकरणों में ऐकमत्य नहीं है। बौद्ध संप्रदाय

---

१. कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका, १।१।५)
२. रामानुजाचार्य, तन्त्ररहस्य, पृ० २-८।
३. मण्डनमिश्र शास्त्री, मीमांसा-दर्शन, पृ० ३७९।

केवल निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता स्वीकार करता है, सविकल्पक की नहीं। इसके विपरीत वैयाकरण निर्विकल्पक ज्ञान को नहीं मानता।

जैसाकि कहा गया है, प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में प्रभाकर एवं भाट्ट मतों में भी भेद है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण-विशेष्य-भाव,—ये षट् सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु भाट्ट मत में, संयोग और संयुक्त तादात्म्य ये दो ही सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु प्रभाकर संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय—ये तीन सन्निकर्ष मानते हैं।

अनुमान प्रमाण

स्वाभाविक रूप से निश्चित सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में व्याप्य के देखने पर इन्द्रियों से असंबद्ध विषय में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। व्याप्य से अधिक देश-काल में न रहने तथा व्यापक से अधिक देश-काल में रहने का अभिप्राय है। उदाहरणार्थ, धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित है। उन दोनों में पर्वत पर धूम-दर्शन होते हैं। धूम-दर्शन होने पर इन्द्रियों से न देखे गए (असन्निकृष्ट) व्यापक अग्नि में जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। इस उदाहरण में धूम व्याप्य तथा अग्नि व्यापक है। धूम के व्याप्य होने का यह कारण है कि वह अग्नि से रहित जल-आदि पदार्थों में नहीं रहता। अग्नि की व्यापकता इससे सिद्ध है कि वह धूम के अभाव में भी जलते हुए लोहे में देखा जाता है।

अनुमान के भी दो भेद हैं—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। जहां स्वयं ही हेतु को देखकर व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान कर लिया जाता है, वहां स्वार्थानुमान होता है। जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

आलोचना

भाट्ट मत की अनुमान-प्रक्रिया और न्यायदर्शन की अनुमान-प्रक्रिया में किंचित् भेद है। न्याय के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन—इन पंचावयव वाक्यों के स्थान पर भाट्ट मीमांसा एवं वेदान्त में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, या दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन ही वाक्य माने गये हैं।[१]

द्वारा स्वर्ग का साधन करे।[1]

उपमान प्रमाण

पूर्वदृष्ट अर्थ के स्मरण करने पर दृश्यमान पदार्थ में जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसी को उपमिति कहते हैं।[2] उपमिति का साधन ही उपमान कहलाता है। जैसे कि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने पूर्व से गाय देख रखी है, जंगल में गवय (नीलगाय) भी गाय के समान दिखाई पड़ती है। इसके अनन्तर वह द्रष्टा गाय में रहने वाली गवय (नीलगाय) की समानता का स्मरण करता है और कहता है कि मेरी गाय इस गवय के समान है, यही प्रक्रिया उपमिति कहलाती है। इस प्रकार उपमान सादृश्यजन्य ज्ञान है।

अर्थापत्ति

दूसरे अर्थ के बिना निश्चित अर्थ की अनुपपत्ति को देखकर, उसकी (निश्चित अर्थ की) संगति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[2] जैसे, किसी अन्य प्रमाण के आधार पर देवदत्त का जीवन निश्चित सिद्ध होने पर, जब देवदत्त को घर में नहीं पाया जाता, तो उसके बाहर रहने की अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा ही देवदत्त के जीवन की निश्चित सिद्ध होती है। इस प्रकार देवदत्त के घर से बाहर रहने की कल्पना अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति के दो भेद हैं—एक श्रुतार्थापत्ति और दूसरी दृष्टार्थापत्ति। केवल 'द्वार' ऐसा कहने पर 'खोलो' या 'बन्द करो' ऐसे अर्थ की कल्पना श्रुतार्थापत्तिगत कल्पना है। ऊपर दिया गया देवदत्त का उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है। नैयायिक तो अर्थापत्ति का अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव करते हैं।

अनुपलब्धि

अनुपलब्धि अभाव का ही पर्यायवाची है। जहां उपर्युक्त पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती, वहीं अनुपलब्धि है। उपर्युक्त पांचों प्रमाण भावपदार्थों की उपलब्धि के साधन हैं, परन्तु कभी-कभी अभाव की उपलब्धि भी देखी जाती है। अनुपलब्धि प्रमाण अभाव की उपलब्धि का ही बोधक है। अनुपलब्धि की सत्ता स्वतन्त्र है। इसका कारण यह है कि हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को ही बतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अभाव अनुपलब्धि के द्वारा ही सिद्ध होता है। जैसे, यदि पुस्तक होती तो अवश्य मिलती, परन्तु इस समय यह अनुपलब्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि ही पुस्तक के अभाव को बतला रही है। भाट्ट एवं अद्वैत मत में अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है; परन्तु इसके विपरीत प्रभाकर मत में, अनुपलब्धि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। प्रभाकर ने तो अभाव को अधिकरण रूप माना है। (देखिये तन्त्ररहस्य, पृष्ठ १६-१९)।

प्रामाण्यवाद

ज्ञान होते समय जो पदार्थ जिस रूप में अवभासित होता है वह पदार्थ वस्तुतः उसी

---

१. शास्त्रदीपिका, पृ० ७२ (निर्णयसागर संस्करण)।

२. अर्थापत्तिरर्   अन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना। (शा० भा०, १।१।५) आनन्दाश्रम   १९४९।

रूप में अवस्थित हो तो उसे प्रामाण्य कहते हैं।[१] इसके विपरीत जब कोई वस्तु जिस रूप में वर्णित हुई है उस रूप में न हो, तो वह अप्रामाण्य की स्थिति कहलाती है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका नैयायिकों से विरोध है। नैयायिक प्रामाण्य को 'स्वतः' न मानकर 'परतः' मानते हैं। इसीलिए मीमांसक स्वतः-प्रामाण्यवादी और नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी कहलाते हैं। इस स्थल पर मीमांसक के स्वतःप्रामाण्यवाद की स्थापना के पश्चात् नैयायिक के परतःप्रामाण्यवाद का खण्डन किया जाएगा। प्रभाकर मत, भाट्ट मत तथा मुरारि मत के अनुसार मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के भी भिन्न-भिन्न रूप हैं। यहां इन तीनों मतों का उल्लेख परमावश्यक है।

प्रभाकर मत

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वतःप्रकाश-रूप है। अतः इस मत में ज्ञान के स्वतः-प्रकाश रूप होने से ही ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट सिद्ध है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार प्रकाश पहले दृश्यमान पुस्तकादि पदार्थों को तदनन्तर अपने आपको और फिर दीप-वर्तिका को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पहले इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को, फिर अपने आपको और फिर ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रगट करता है। इस प्रकार प्रभाकर के मता-नुसार प्रत्येक पक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसी को त्रिपुटी प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस मत में ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी स्थित रहता है। अथवा यों कहिये कि ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस, ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।[२]

भट्ट मत

इस मत के प्रवर्तक कुमारिलभट्ट हैं। वे भी ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका स्वमत-प्रतिपादन-प्रकार प्रभाकर से भिन्न है। कुमारिल प्रभाकर की तरह ज्ञान को स्वतःप्रकाशरूप नहीं मानते। इनके मतानुसार चक्षु और पुस्तक के सन्निकर्ष से 'इदं पुस्तकम्' यह ज्ञान होता है; परन्तु इनके मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाश न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं। इसलिए ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को ज्ञान होता है कि—मया इदं पुस्तकम् ज्ञातम् (मेरे द्वारा यह पुस्तक जानी गई)। जब वह पुस्तक ज्ञात होती है तो उसमें ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञातता का ही प्रत्यक्ष ज्ञान भाट्ट मत में होता है। यह ज्ञातता ही ज्ञान तथा प्रामाण्य की उदय-कर्त्री है।[३]

---

१. अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते। —न्यायरत्नमाला, पृ० ४।
२. देखिए—न्यायकन्दली, पृ० ६१; शास्त्रदीपिका, २१३-१४; तन्त्ररहस्य, पृ० ५-८; प्रकरणपंचिका, पृ० ३८-५३।
३. [illegible]ता, पृ० ३१-३५; शास्त्रदीपिका, पृ० ९७-१०६; मानमेयोदय, पृ० ४-६।

मुरारि का मत

मुरारि के मत के बारे में प्रसिद्ध है—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।[१] मुरारिमिश्र के अनुसार, इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग से ज्ञान होने पर 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस 'अयं घटः' ज्ञान की सत्यता का निश्चय करने के लिए फिर 'अहं घटज्ञानवान्' इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय के द्वारा ही 'अयं घटः' (यह घट है) इस ज्ञान का भान तथा उसका प्रामाण्य, दोनों ही निश्चित होते हैं, यही मुरारि मत की विशेषता है।[२] इस प्रकार प्रभाकर मत में ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य होने का निश्चय ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से, भाट्ट मत में 'ज्ञातता' से तथा मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से होता है। उक्त तीनों मतों में विद्वानों ने प्रभाकर मत की ही विशेष महत्ता स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में मथुरानाथ तर्कवागीश का कथन है कि प्रभाकर का ही मत निश्चित 'स्वतःप्रामाण्यवाद' है, अन्य मत तो न्याय के समान परतःप्रामाण्यवादी ही हैं।[३]

परतः प्रामाण्यवाद का निराकरण

नैयायिक का प्रामाण्यवाद को परतः मानना उचित नहीं है। नैयायिक के मतानुसार, यदि प्रामाण्य का परतस्त्व स्वीकार किया जाएगा तो अनवस्था दोष आ जाएगा। इसका कारण यह है कि परतः प्रामाण्यवाद के अनुरूप ज्ञान का प्रामाण्य जब दूसरे ज्ञान पर निर्भर होगा तो वह दूसरा—प्रामाण्यप्रतिपादक ज्ञान भी, अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा। इसी प्रकार वह इतर ज्ञान, प्रामाण्य सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा —और फिर इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार के अनवस्था दोष से मूल का उच्छेद हो जायेगा। अतः इस मूलोच्छेदक ज्ञान के स्वीकार करने में कोई लाभ नहीं है।[४] प्रामाण्य के परतस्त्व के स्वीकार करने से प्रामाण्य का मूलोच्छेद इस प्रकार होता है कि यदि सभी ज्ञान अपने विषय के तथात्व के निश्चय के लिए, स्वयं असामर्थ्य का अनुभव करते हुए, इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायें, तो कारण-गुण-ज्ञान, संवादज्ञान व अर्थ-क्रिया-ज्ञान भी अपने विषयनिष्ठ गुण आदि के निश्चय के लिए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जाएंगे। इस प्रकार अनेक जन्मों में भी किसी अर्थ का निश्चय न होने पर प्रामाण्य का मूलोच्छेद स्वतः हो जायेगा। यदि पूर्वपक्षी कहे कि अनवस्था की परावृत्ति के लिए अर्थ-क्रिया-ज्ञान की स्वतःप्रमाणता मान ली जायेगी तो इससे कोई वैशिष्ट्य नहीं आ पायेगा। क्योंकि, यद्यपि अर्थ-क्रिया की फलरूपता के कारण उसमें अप्रामाण्य की शंका नहीं की जा सकती, परन्तु स्वप्नावस्था में जल लाना आदि क्रियाएं उसमें भी व्यभिचार कर देती हैं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि केवल सुख-ज्ञान को अव्यभिचरित

---

१. उमेश मिश्र : 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' (Fifth Oriental Conference Proceedings, Lahore.)

२. 'मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः' इति मुरारिमिश्राः।
वर्धमान कुसुमांजलि प्रकाश, पृ० २१९ (महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार-संपादित, कलकत्ता, १९६१)

३. चिन्तामणिरहस्य, पृ० ११७।

४. परापेक्षत्वं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति॥ शास्त्रदीपिका, पृ० ७७।

समझ कर उस तक ही अर्थ-क्रिया को सीमित कर दिया जायेगा तो उससे भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य-अध्यवसित नहीं किया जा सकेगा। जैसे कि स्वप्न में प्रिया-संग के विश्राम से सुख होता है, तथा उसका ज्ञान भी होता है, परन्तु उस सुख-ज्ञान के मिथ्यात्व ने उस ज्ञान में अप्रामाण्य निहित कर रखा है अतः यह स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा कि प्रामाण्य स्वतः ही प्राप्त होता है।

मीमांसक का अख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रम का विवेचन ख्यातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। अख्यातिवादी मीमांसक शुक्ति-आदि में रजत-आदि के ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इसीलिए अख्यातिवादी के मत में भ्रम को स्थान नहीं है। अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञान के दो पक्ष मानता है—एक यथार्थ और दूसरा स्मृति। अख्यातिवादी का कहना है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान में ज्ञान के दो रूप हैं। उक्त वाक्य में इदम् का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत की स्मृति। संस्कारजन्य सादृश्य के आधार पर 'ज्ञातं रजतं' स्मृति मात्र है। पुरोवर्ती इदं रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति ज्ञान—इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजतरूप में ज्ञान होता है। इसी को 'भेदाग्रह' भी कहते हैं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान और स्मृति के भेद के आग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार अख्यातिवादी उक्त उदाहरण में रजतज्ञान का कारण 'प्रमोष' को मानता है। स्मरणाभिमान के प्रमुषित होने पर ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। मीमांसक की दृष्टि में 'इदम्'—यह प्रत्यक्ष शुक्ति का ज्ञान, और 'रजतम्' यह रजत-ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। अख्यातिवादी का विचार है कि शुक्ति में रजतज्ञान का आधार जो रजत है वह तो सत्य ही है। इस प्रकार अख्यातिवादी मीमांसक प्रभाकर के ख्याति-सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार भ्रम को नहीं स्वीकार किया गया है।[१]

परन्तु प्रभाकर के विपरीत भट्ट मीमांसक नैयायिक भी अन्यथाख्याति को स्वीकार करता है। अन्यथाख्यातिवादी अख्यातिवादी की तरह स्मृति को स्वीकार नहीं करता। किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजतरूप से अन्यथा ज्ञान होता है। भट्ट मीमांसक इस अन्यथाख्याति को ही विपरीतख्याति भी कहते हैं।

पदार्थ-निरूपण

पदार्थों के सम्बन्ध में मीमांसकों में ऐकमत्य नहीं है। भट्ट मीमांसक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति और अभाव, ये छः पदार्थ और प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, समवाय शक्ति, संख्या और सादृश्य, ये आठ पदार्थ स्वीकार किये गए हैं। इन पदार्थों में द्रव्य, गुण तथा कर्म का विवेचन प्रायः वैशेषिक के समान ही है, परन्तु यत्र-तत्र भेद भी मिलता है। यहां इन पदार्थों का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है।

द्रव्य—द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है और यह परिमाण दो प्रकार का होता है—एक—अणुत्व तथा दूसरा महत्व। द्रव्य पदार्थ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द तथा अंधकार भेद से ग्यारह प्रकार का है। यहां पृथ्वी आदि के सम्बन्ध में

---

१. डॉ० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।

पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

पृथ्वी—प्रथम द्रव्य पृथ्वी गन्धयुक्त द्रव्य है। इस पृथ्वी द्रव्य के दर्शन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष शरीर और घ्राणेन्द्रिय के रूप में होते हैं। शरीर के जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार रूप हैं। इनमें उद्भिज्ज को प्रभाकर मीमांसक नहीं स्वीकार करते।[1]

जल—जल स्वाभाविक द्रवत्व का अधिकरण है।

तेज—तेज उष्ण स्पर्शवाला होता है। तेज के दर्शन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और चक्षु इन्द्रिय के रूप में होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं तैजस पदार्थ में उष्णस्पर्श की उपलब्धि नहीं भी होती, जैसे सुवर्ण भी तैजस पदार्थ है परन्तु उसमें पृथ्वी अंश की अधिकता के कारण उष्ण स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती।[2]

वायु—यद्यपि वायु का रूप नहीं है, परन्तु फिर भी वह स्पर्शवाला है। प्राचीन नैयायिक की तरह[3] मीमांसक वायु को आनुमानिक नहीं मानता। नव्यनैयायिक तो वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट ही स्वीकार करता है।[4]

आकाश—आकाश अन्तिम भूत द्रव्य है। शब्द के अधिकरण होने से आकाश की सिद्धि स्पष्ट है। आकाश नित्य है। भाट्ट मीमांसकों के मत में आकाश का भी प्रत्यक्ष होता है।[5]

काल—काल सभी का आधार है। काल विभु है और एक है।

दिशा—दिशा भी एक तथा नित्य है।

आत्मा—आत्मा चैतन्य का आश्रय है। मीमांसक आत्मा की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी सब शरीरों के साथ उसकी एकता नहीं मानते।[5]

मन—मन भी सूक्ष्म इन्द्रिय है। परन्तु यह भी भौतिक इन्द्रिय ही है। परन्तु शास्त्रदीपिकाकार ने इसे भौतिक से विलक्षण भी माना है।[2]

शब्द—शब्द श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। शब्द के वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक, ये दो भेद हैं। वर्णात्मक शब्द द्रव्य तथा विभु है और आत्मा की ही तरह नित्य भी है, परन्तु वह गुण नहीं है। इसके विपरीत ध्वन्यात्मक शब्द गुण और अनित्य है। यह ध्वन्यात्मक शब्द ही वर्णात्मक शब्द को प्रकट करने वाला है और यह वायु का गुण है, क्योंकि वायु के अभिघात के द्वारा ही शब्द की उत्पत्ति होती है।[6]

अन्धकार—नैयायिक की तरह मीमांसक अन्धकार को अभाव रूप नहीं मानता। मीमांसक के मत में अन्धकार चक्षु से ग्रहण करने योग्य है। यह अन्धकार प्रकाश के अभाव में

---

१. शरीरं जरायुजाण्डजास्वेदजभिन्नं त्रिविधम्, उद्भिज्जं शरीरं न भवति।—प्रकरण-पंचिका पृ० १५० मुकुन्द शास्त्रीखिस्ते द्वारा संपादित, (सं० बु० डिपो, १९०३)

२. अभिभूतरूपस्पर्शतेजः सुवर्णम्। अभिभवस्तु बलवद्भिः पार्थिव रूपादिभिरिति द्रष्टव्यम्। (मानमेयोदय, पृ० १५५)

३. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावात् वायोरनुपलब्धिः।—वै० सू० ४।१।७ तथा प्र० पा० भा०, पृ० १९।

४. तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं संभवत्येव।—मुक्तावली, का० ४६।

५. मानमेयोदय, पृ० १८८।

६. मण्डनमिश्र : मीमांसादर्शन (जयपुर), पृ० ३४९।

काले रूप में दिखाई पड़ता है। तेज की तरह अन्धकार भी ब्रह्मा का शरीर है और इसकी सृष्टि भी पृथक् रूप से की गई है। इसलिए इसको पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार द्रव्य पदार्थ के उक्त ग्यारह भेद हैं।

गुण—मीमांसकों ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि और संस्कार भेद से इक्कीस प्रकार के गुण माने हैं।

नैयायिक एक पृथक्त्व गुण की और कल्पना करता है जो मीमांसक को अभिमत नहीं है।

कर्म—'चलति' अर्थात् 'चलता है' आदि' प्रत्यय का विषयकर्म है। यह कर्म चलनात्मक, प्रत्यक्ष तथा एक प्रकार का ही है। उक्त कथन भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार है। इसके विपरीत प्रभाकर के अनुयायी कर्म को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों ने प्रभाकर-मतानुयायियों की उक्त अनुमेयता का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कर्म का अनुमान किया जाने लगेगा तब तो पर्वत और बादल के संयोग से पर्वत में भी कर्म का अनुमान होने लगेगा। इस प्रकार मीमांसक कर्म की अनुमेयता को नहीं स्वीकार करते।

सामान्य—'यह मनुष्य है', 'यह अश्व है' इस प्रकार सभी मनुष्यों और अश्वों आदि व्यक्तियों में रहने वाले और विजातीय व्यक्तियों से व्यावृत्त कराने वाले व्यावृत्त और अनुवृत्त आकार में देशान्तर और कालान्तर में जो अबाधित ज्ञान उत्पन्न होता है, वही सामान्य है। यह सामान्य प्रत्यक्ष है। इस सामान्य के भी सामान्य और विशेष दो प्रकार हैं, जैसे मनुष्यत्व, अश्वत्व आदि। जाति का सामान्य आकार है और एक मनुष्य और एक अश्व आदि उसका विशेष आकार है।

शक्ति—शक्ति नामक पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की स्वतन्त्र कल्पना है। मीमांसकों ने लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की शक्तियां मानी हैं। अग्नि की दाहक शक्ति लौकिक शक्ति है और यज्ञादि में स्वर्गादि प्रदान की शक्ति वैदिक शक्ति है।

अभाव—जिसके द्वारा किसी वस्तु की सत्ता का निषेध होता है, उसे अभाव कहते हैं। अभाव के—प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव—ये चार भेद हैं। प्रभाकर के मत में अभाव नामक पदार्थ को नहीं स्वीकार किया गया है।

उक्त छः पदार्थ ही भाट्ट सम्प्रदाय में स्वीकार किये गए हैं।

जगत्—अद्वैतियों ने अद्वैत-सिद्धि के लिए जगत् को प्रपंच कहकर जो जगन्मिथ्यात्व सिद्ध किया है, वह मीमांसक का अभीष्ट नहीं है। मीमांसक जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानता है। अतः मीमांसा के अनुसार जगत् के जिस रूप में दर्शन होते हैं, उसी रूप में जगत् की सत्यता स्वीकार की गई है।[3] इस प्रकार मीमांसक जगत् का आत्यन्तिक नाश नहीं स्वीकार

---

१. शास्त्रदीपिका, पृ० ३६।

२. अभिघातेन प्रेरिताः वायवः स्ति मितानि, वायवन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतो दिक्कान संयोगविभागानुत्पादयन्ति। शाबरभाष्यम्।

३. तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत्तथैवोभ्युपेतव्ये सामान्यमथवेतरत्॥ (श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)

करता। कुछ मीमांसक अणु को स्वीकार करते हुए परमाणु से जगत् की सृष्टि स्वीकार करते हैं।[1] परमाणुवादी मीमांसकों के अनुसार, कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर विच्छेद के कारण अवान्तर परिवर्तन हो जाया करते हैं। यद्यपि न्याय-वैशेषिक में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुवाद के आधार पर ही सिद्ध की गई है, परन्तु परमाणुवादों में अन्तर है। न्यायदर्शन के अनुसार परमाणुओं की स्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमानगम्य है। त्रसरेणु के षष्ठ भाग को परमाणु कहने की बात को मीमांसक नहीं स्वीकार करता। मीमांसक तो प्रत्यक्ष वर्तमान कणों को ही परमाणु मानता है। न्यायदर्शन में परमाणु योगज प्रत्यक्ष का विषय है परन्तु मीमांसा में परमाणु का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है।[2] अतः मीमांसकों द्वारा स्वीकार की गई जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण सत्य है।

ईश्वर—जैसा कि कहा जा चुका है ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों में भिन्न-भिन्न मतवाद मिलते हैं। नैयायिक यदि ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मात्र मानता है तो वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत ईश्वर के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त ही नहीं मिलता। सांख्य यदि एक प्रकार से निरीश्वरवादी है तो योग में एक विशेष पुरुषरूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। वेदान्त का ईश्वर मायावी है। इस विषय में मीमांसा की स्थिति विचित्र है—वह न ईश्वर का खण्डन ही करता है और न मण्डन ही। मीमांसा में भी ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएं मिलती हैं। प्राचीन मीमांसा के अन्तर्गत ईश्वर को नहीं स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत परवर्ती मीमांसकों ने किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है। लौगाक्षि भास्कर एवं आपदेव ने ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कार्य को मोक्ष का हेतु माना है।[3] प्रभाकरविजय के अन्तर्गत ईश्वर-सम्बन्धी आनुमानिकता का खण्डन करते हुए ईश्वर की स्पष्ट सत्ता स्वीकार की है।[4]

धर्म—धर्म मीमांसादर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसीलिए जैमिनि ने मीमांसासूत्र के दूसरे सूत्र—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' में ही धर्म का लक्षण किया है। इस सूत्र के अनुसार चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना—भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के बोध कराने में जैसी समर्थ है वैसी शक्ति न तो इन्द्रियों में है और न अन्य किसी पदार्थ में।

मीमांसा के धर्म का उपर्युक्त स्वरूप सप्रमाण है। परन्तु मीमांसा के प्रमाण, प्रत्यक्षादि से भिन्न हैं। मीमांसा के अन्तर्गत धर्म में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय,

---

१. प्रभाकरविजय, पृ० ४३-४६।

२. मानमेयोदय, पृ० १६४।

३. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति' भगवद्गीतास्मृतेरेवप्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्।
अर्थसंग्रह, पृ० १९६ तथा मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १९०।

४. एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्। नेश्वरोऽपि निराकृतः। अतएव न प्रभाकर-गुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्॥

वाक्यशेष तथा सामर्थ्य—ये आठ प्रमाण स्वीकार किये गए हैं। यहां इनका संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

(१) विधि—वेद-वाक्यों का प्रमुख उद्देश्य विधि का प्रतिपादन है। विधि धर्म में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञादि का विधान किया जाता है।

(२) अर्थवाद—वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध के प्रतिपादक होने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। इन्हीं वाक्यों को 'अर्थवाक्य' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'वायव्य श्वेत मालमेत भूतिकामः' अर्थात् जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे, यह तो विधिवाक्य है; परन्तु इसके अनन्तर उक्त वाक्य के समीप में—'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवेनं भूतिं गमयति' अर्थात् वायु तीव्र गति से चलने वाला देवता है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराता है, यह अर्थवाद वाक्य है। विधि के साथ अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता हो जाने पर विधि को प्रशंसा मिल जाती है और अर्थवाद वाक्यों का विधेय अर्थ की स्तुति के द्वारा क्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'वायव्यश्वेतमालभेतभूतिकामः' इस विधिवाक्य ने वायव्य याग में प्रवृत्त करने की प्रेरणा तो दी, परन्तु उक्त विधिवाक्य के पालन में जो प्रमाद और आलस्य सम्भव है उससे बाधित मानव को पुनः प्रेरणा देने के लिए ही वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता...' इस उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा वायु की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य कहीं विधेय क्रिया की साक्षात्, कहीं उससे सम्बन्धित द्रव्य और देवता आदि की प्रशंसा करते हुए, प्रमाण बनते हैं।

(३) मन्त्र—तत्-तत् कर्मों का अनुष्ठान करते समय उनसे सम्बन्धित क्रियाओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करना मन्त्रों का कार्य है। मन्त्रों का उक्त कार्य ही कर्मकाण्ड का विशेष प्रयोजन है। मन्त्र-स्मरण के बिना न कर्म के अंगों की स्मृति हो पाती है और न उनके क्रम की व्यवस्था ही समुचित हो पाती है। विधि के अनुसार भी मन्त्रों द्वारा स्मरण प्रशस्त बतलाया गया है।

वैज्ञानिक आलोचना की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों के तीन भाग किये जा सकते हैं—करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादि मन्त्र और अनुमन्त्रण मन्त्र। करणमन्त्र वे मन्त्र हैं जो कर्म करने के पूर्व उच्चरित किये जाते हैं, जैसे 'इषेत्वा' एवं 'याज्या पुरोनु वाक्या' आदि। क्रियमाणानुवादि मन्त्र वे मन्त्र हैं जहां मन्त्र बोलने के साथ-साथ कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, जैसे 'युवा सुवासा' आदि। 'युवा सुवासा' के उच्चारण के साथ-साथ ही यूप के ऊपर कपड़ा आदि लपेटते जाते हैं। तीसरे प्रकार के मन्त्र अनुमन्त्रण मन्त्र हैं। ये मन्त्र कर्म करने के पश्चात उच्चरित किये जाते हैं जैसे 'अग्नेरहं' देव यज्ययाऽन्नादो भूयासम्।'

इस प्रकार मीमांसक पदार्थ द्वारा मन्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं क्योंकि मन्त्र पदार्थ हैं।

(४) स्मृति—स्मृतियां भी धर्म के प्रति प्रमाण हैं, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य और पाराशर आदि की स्मृतियां धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण-रूप मानी गई हैं। सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों के रहस्य-ज्ञाता मन्वादि ने यत्र-तत्र विकीर्ण एवं शाखान्तर में गये वाक्यों को स्मृति के आधार पर उद्धृत कर एक जगह ग्रथित कर दिया है। यही स्मृतिग्रन्थ हैं। इस प्रकार वेद-मूलकता के ही कारण उनका प्रामाण्य है, परन्तु स्मृतियों का स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है।

(५) आचार—धर्म के प्रति आचार की प्रामाणिकता भी विशेष रूप से स्वीकार्य है, परन्तु लोकधर्म की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार ग्राह्य हैं।' आचार की महत्ता के सम्बन्ध में 'आचारहीनान्न पुनन्ति वेदाः' उक्ति तो प्रसिद्ध ही है।

(६) नामधेय—नामधेय द्वारा विधेय अर्थ का अन्य अर्थों से व्यावर्तन हो जाता है, अतएव यह भी धर्म में प्रमाण है। उदाहरण के लिए ज्योतिष्टोम आदि जो यज्ञों के नामधेय हैं वे उन्हें अन्यों से व्यावृत्त करते हैं।

(७) वाक्यशेष—वाक्यशेष भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय करते हुए धर्म में प्रमाण बनता है।

(८) सामर्थ्य—सामर्थ्य के द्वारा भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय होता है।[1] यह भी वाक्य शेष ही की तरह धर्म में प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार उपर्युक्त आठ प्रमाणों के द्वारा धर्म की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।

भावना—'भावना' मीमांसकों का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है। आपदेव ने भावना का लक्षण—'भवितुर्भवनानुकूल भावकव्यापारविशेष'[2] किया है, जिसका अर्थ उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा है। वैदिक वाक्यों के श्रवण के पश्चात् तत् तत् क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो प्रेरणा होती है उसे ही भावना कहते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट का 'कैटेगारिकल इम्पेरेटिव' मीमांसक की भावना के अधिक समीप है। मीमांसक की भावना के भी दो भेद हैं: एक शाब्दी भावना और दूसरी आर्थी भावना। उदाहरणार्थ, 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में 'यजेत' इस क्रियापद में दो अंश हैं: एक यज् धातु तथा दूसरा लिङ् लकार। लिङ्लकारजन्य भावना शाब्दी भावना है तथा आख्यातजन्य भावना आर्थी भावना है।

मोक्ष—मोक्ष का लक्षण शास्त्रदीपिका में—'प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः'[3] कहकर किया गया है। इस लक्षण के अनुसार आत्मा के प्रपंच-सम्बन्ध के विलय का नाम ही मोक्ष है। उक्त मत भाट्ट मीमांसक का है। प्रभाकर के मत में, 'नियोग सिद्धि ही मोक्ष' है। प्रभाकर के मतानुसार किसी बाह्य फल की कामना किये बिना कर्तव्य-बुद्धि से नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इस प्रकार प्रभाकर भाट्ट मत वालों की तरह प्रपंच सम्बन्ध-विलय को मुक्ति नहीं मानते। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में स्वयं भाट्टों में ही दो मत हैं। एक मत के अनुसार, मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[4] यह मत कुमारिलभट्ट का है। उक्त मत के विपरीत, पार्थसारथि के मतानुसार, मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है।[5] गुरु-मत में मुक्ति का स्वरूप भाट्टों के उक्त दोनों मतों से भिन्न है। गुरु-मत के अनुसार तो आत्मज्ञानपूर्वकदृष्टि से किये गए वैदिक

---

१. मण्डनमिश्र—मीमांसादर्शन, पृ० ४२३ (जयपुर, १९५५)।

२. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २।

३. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७।

४. दुःखात्यन्तसमुच्छेदेसति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥ मानमेयोदय, पृ० २१२।

५. दोनों मतों के लिए देखिए, वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४।

कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर देह तथा इन्द्रियादि सम्बन्ध का जो आत्यन्तिक विच्छेद होता है, वही मोक्ष है।[१]

अद्वैत वेदान्त और मीमांसादर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

यदि भारतीय षड्दर्शन-पद्धतियों के सम्बन्ध में युगल कल्पना की जाए तो दार्शनिक समानताओं एवं पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर तीन युगल बनते हैं: एक न्याय और वैशेषिक का, दूसरा सांख्य और योग का और तीसरा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का। वास्तव में, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि आरम्भ में ही मीमांसादर्शन की चर्चा करते समय कहा जा चुका है, पूर्वमीमांसा वैदिक दर्शन का पूर्व पक्ष है और उत्तरमीमांसा, अर्थात् वेदान्त उत्तर पक्ष या सिद्धान्त पक्ष[२]। पूर्वमीमांसा का उद्देश्य यदि धर्म और कर्म के महत्त्व की स्थापना है तो उत्तरमीमांसा का उद्देश्य कर्म और ज्ञान का सामंजस्य है। मीमांसक के धर्म में कर्म और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना है: परन्तु वेदान्त में ज्ञान और कर्म के भेद को ही मिटाने का प्रयत्न है। इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः कर्म का ही रूप है।[३] पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन के दृष्टिकोण से आत्मा, ईश्वर तथा मोक्ष के सम्बन्ध में दोनों दर्शन-पद्धतियों के अनुसार विचार करना उपयुक्त होगा।

आत्मा—स्वयं मीमांसा में ही आत्मा के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल की दो भिन्न दृष्टियां हैं। भाट्ट मीमांसक के मतानुसार, आत्मा की सक्रियता को स्वीकार किया गया है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार कर्म के दो भेद हैं: स्पन्द तथा परिणाम। आत्मा में स्पन्द न होकर परिणाम होता है।[४] कुमारिल के मत में परिणामी के नित्य होने के कारण आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य है। भाट्ट मीमांसक का आत्मा चिदचिद्विशिष्ट है। सुख, दु:ख, इच्छा तथा प्रयत्नादि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं।[५] भाट्ट मीमांसक के अनुसार, आत्मा में जडत्व तथा चैतन्य दोनों हैं। शरीर तथा विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य-उदय देखा जाता है तथा स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। यही आत्मा की जडावस्था है। यहां मीमांसक कुमारिल और वेदान्त मत का अन्तर द्रष्टव्य है। वेदान्त का आत्मा चैतन्यस्वरूप है, परन्तु मीमांसक कुमारिल के अनुसार, आत्मा चैतन्य विशिष्ट है।

प्रभाकर का आत्मा-सम्बन्धी मत कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल की तरह प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता को नहीं स्वीकार करते। कुमारिल के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, तथा उनके मत में आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं विषय दोनों है; परन्तु प्रभाकर के मतानुसार, आत्मा को 'अहंप्रत्यय-वेद्य' कहा गया है। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसक के अनुसार आत्मा की सत्ता प्रत्येक ज्ञान के कर्ता रूप में मानी गई है।[1] इस प्रकार मीमांसक के अनुसार, आत्मा के कर्तृत्व के आधार पर उसमें अहंकार की कल्पना भी की गई है। इसके विपरीत वेदान्तिक दृष्टि से आत्मा में कर्तृत्व और ज्ञातृत्व दोनों का समन्वय है।[2] इस विवेचन से सुस्पष्ट है कि मीमांसा और वेदान्तिक सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

ईश्वर—जैसा कि कहा जा चुका है, आपदेव तथा लौगाक्षिभास्करादि मीमांसकों ने ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है। लौगाक्षिभास्कर का कथन है कि ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया गया कर्म निःश्रेयस का हेतु होता है।[3] कर्मों के सम्बन्ध में ईश्वरार्पण-बुद्धि की यह बात वेदान्त के समान ही है।[4] जहां तक प्राचीन मीमांसा का प्रश्न है, जैमिनि के अनुसार धर्म से ही विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है, ईश्वर के द्वारा नहीं।[5] इसके विपरीत ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के अनुसार ईश्वर कर्म-फल का दाता है।[6] यद्यपि उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त भेद है, परन्तु यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि मीमांसा में जिस बहुदेववाद की स्थापना की गई है उसी से वेदान्तियों के ब्रह्म अथवा ईश्वर का विकास हुआ है।[7] यों तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमीमांसा का सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

मोक्ष—भाट्ट एवं प्रभाकर मीमांसक के मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार प्रपंच-संबंध के विलय का नाम मोक्ष है।[8] वेदान्तक दृष्टि से भी जब जीव का मोक्ष होता है तो उसका प्रपंच के साथ सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रपंच तो मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त विचारधारा के अनुसार समस्त प्रपंच की जननी अविद्या है। ब्रह्म-ज्ञान होने पर अविद्या-निवृत्ति हो जाती है तो प्रपंच-बुद्धि भी नहीं रहती। अद्वैत वेदान्त की उक्त विचारधारा हमें पूर्वमीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में भी मिलती है। शास्त्रदीपिका में कहा गया है कि अविद्या-निर्मित प्रपंच स्वप्न-प्रपंच के समान है और जिस प्रकार जागने पर

---

१. मानमेयोदय, पृ० १९२-१९४।

२. N. V. Thadani : MIMANSA, INTRODUCTION, p. LXI, LXII.

३. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।—अर्थसंग्रह, पृ० १९९।

४. शांकरभाष्य, गीता, ६।२८।

५. धर्मं जैमिनिरतएव।—ब्रह्मसूत्र, ३।२।४०।

६. ब्रह्मसूत्र, ३।२।३८।

७. It is only when we come to Vedanta that the Mimansa idea of the gods, and the Sankhya idea of Prakriti as a good and intellegent power, are expended into that of. Brahma or God. (N. V. Thadani, MIMANSA, Introduction, p. LIX)

८. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७।

स्वप्न-प्रपंच नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या निवृत्ति होने पर प्रपंच का भी स्वयं विलय हो जाता है।[1] इस प्रकार भाट्ट मत और अद्वैत वेदान्त मत के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। निश्चय ही, प्रभाकर मीमांसक के अनुसार, 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः' के आधार पर जिस मोक्ष की कल्पना की गई है, वह अद्वैत वेदान्ती की मुक्ति से पर्याप्त भिन्न है। प्रभाकर के उक्त कथन के अनुसार कर्तव्य-बुद्धि से किये गए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इसके विपरीत 'नहि ज्ञानादृते मुक्तिः' के अनुसार अद्वैत वेदान्त में विना ज्ञान के मुक्ति की कल्पना नहीं की गई है। अद्वैत वेदान्त में तो नित्य-कर्म आदि कर्मपरम्परया कारण है, न कि साक्षात्। अतः प्रभाकर मीमांसक और अद्वैत वेदान्त-सम्मत मोक्ष-सम्बन्धी धारणाएं भिन्न-भिन्न हैं।

मुक्ति के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त में मुक्ति की अवस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[2] वैसे तो मन द्वारा भोग्य सुख तथा ब्रह्मानन्द में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु दुःखाभाव दोनों में ही है।

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों में पहला यदि पूर्वपक्ष है तो दूसरा उत्तरपक्ष।

समालोचना

ऊपर हमने अद्वैत वेदान्त के मूल्यांकन के दृष्टिकोण से उसका अन्य न्याय आदि दर्शन-पद्धतियों के साथ सम्बन्ध एवं प्रभाव देखने का प्रयत्न किया है। यों तो षड्दर्शन के अन्तर्गत प्रत्येक दर्शन-पद्धति का एक-दूसरी से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनमें भी कुछ-एक का विशेष सम्बन्ध है—जैसे न्याय और वैशेषिक का, सांख्य और योग का और पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का। उत्तरमीमांसा या वेदान्त का तो उपर्युक्त पांचों दर्शनों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहां यह कथन अनुचित न होगा कि न्याय आदि समस्त दर्शनों का पर्यवसान वेदान्त में ही जाकर होता है। जैसा कि अद्वैत वेदान्त तथा अन्य पंच दर्शन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय देखा जा चुका है, अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में अन्य दर्शन-पद्धतियों पर प्रभाव की रेखाएं भी मिलती हैं। इसका कारण यही है कि भारतीय दर्शन-पद्धतियों के विकास का मूल उपनिषद् ग्रन्थ हैं।[3] और इन उपनिषद्-ग्रन्थों का समन्वयभूत सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त है।[4] अतः औपनिषद अद्वैत वेदान्त से, परवर्ती न्याय-आदि दर्शन-पद्धतियों का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। परवर्ती शांकर वेदान्त तो औपनिषद दर्शन के ही व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक अध्ययन का एक विस्तृत रूप है।

---

१. अविद्यानिर्मितो हि प्रपंचः स्वप्नप्रपंचवत् प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्याविलीनायां स्वयमेव विलीयते।—शास्त्रदीपिका, पृ० ३५६।

२. मानमेयोदय, पृष्ठ २१२।

३. *Ranade*: CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 178-179. (Oriental Book Agency, Poona)

४. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्।—वेदान्तसार, पृ० २ (चौखम्बा संस्करण)

अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन

यह कहना सन्देहास्पद न होगा कि भारतीय दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव यूनानी दर्शन पर भी पड़ा है। भारत आये यूनानी, जितने भारतीय दर्शन-पद्धति से प्रभावित हुए, उतने और किसी शास्त्र या अन्य व्यापार से नहीं। उक्त विचार की ओर संकेत करते हुए विद्वान् मैक्समूलर ने लिखा है—

Nothing struck the Greeks so much as the philosophical spirit which seemed to pervade that mysterious country.[1]

अर्थात्, यूनानियों को जितना अधिक भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति ने प्रभावित किया, उतना किसी अन्य ने नहीं। यह प्रवृत्ति रहस्यमय देश को व्याप्त किये हुए प्रतीत होती थी।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी, जो ई० पू० तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष आया था, इस देश की आध्यात्मिकता का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उसने भारतवर्ष के उन आध्यात्मिक मनुष्यों का भी वर्णन किया है जो पर्वतों, मैदानों और कुंजों में निवास करते थे।[2]

भारतवर्ष की प्राचीन दार्शनिक प्रवृत्ति की प्राण प्रतिष्ठा उपनिषदों में मिलती है और उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वैत वेदान्त है। यहां यह कथन अनुपयुक्त न होगा कि औपनिषद वेदान्त का यूनानी दर्शन पर भी पर्याप्त ऋण है। इस ऋण का उल्लेख एडवर्ड जेलर ने निम्नलिखित पंक्तियों के अन्तर्गत किया है—

The idea of salvation, of the liberation of the God—like soul from the shackles of the earthly body doubtless originated in India, where it makes its appearance in the so called Upanishads, ...it was Thrace which formed the bridge over which this oriental doctrine of deliverence crossed into Greece.

(*Edvard Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 16.)

जेलर महोदय की उपर्युक्त पंक्तियों का यही अभिप्राय है कि भौतिक शरीर के बन्धनों से ईश्वर-सदृश आत्मा की मुक्ति का विचार निःसन्देह भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ था। इस सम्बन्ध में थ्रेस[3] ने सेतु का कार्य किया था, क्योंकि इस नगर के माध्यम से ही मुक्ति का यह प्राचीन सिद्धान्त ग्रीक पहुंचा था।

ऊपर दिये गए उदाहरणों के आधार पर यह विदित होता है कि विद्वानों ने यूनानी दर्शन पर भारतीय दर्शन के प्रभाव को निःसंकोच स्वीकार किया है। अब इस स्थल पर यह देखने का प्रयास है कि किन-किन यूनानी दार्शनिकों की दर्शन-पद्धतियों पर किस प्रकार भारतीय अद्वैत वेदान्त का प्रभाव पड़ा है।

---

१. *Max Muller* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 25.

२. *J. W. Mccrindle* : ANCIENT INDIA (1877), p. 97.

३. थ्रेस (Thrace) औरफियस (Orpheus) के जन्म-देश का नाम है। औरफियस के द्वारा ही ग्रीक में मुक्ति के सिद्धान्त का प्रचार हुआ था।

एलिया के दार्शनिक और अद्वैत वेदान्त

प्राचीन यूनानी दर्शन का उदय-क्षेत्र एलिया है। एलिया दक्षिण इटली में स्थित है। यह एक छोटा-सा नगर है। दार्शनिक परमेनिद् और ज़ेनो इसी नगर के नागरिक थे। इस युग का एक तीसरा दार्शनिक और था और वह था क्सेनोफेन। क्सेनोफेन तो कदाचित् ही एलिया गया हो, परन्तु वह एलियातिक सम्प्रदाय का जन्मदाता अवश्य था। क्सेनोफेन, परमेनिद तथा ज़ेनो ने दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखे थे। क्सेनोफेन की विचारधारा के स्रोत तो वे शोक-गीत तथा व्यंग-लेख हैं जो उसने होमर तथा हिसियड के विरोध में लिखे थे। इसके अतिरिक्त उसने कुछ षट्पदी भी लिखी हैं। परन्तु उसके द्वारा लिखी गयी कोई दार्शनिक कविता नहीं उपलब्ध होती है। जहां परमेनिद् का प्रश्न है, उसका भी दर्शन के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। परमेनिद् की कुछ बिखरी हुई दार्शनिक कविताएं मिलती हैं, जिनकी सम्यक् व्यवस्था डील्स ने की है। ज़ेनो ने एक गद्यलेख के अन्तर्गत अपनी दार्शनिक विचारधारा को प्रकट किया था। यहां इन तीनों दार्शनिकों की विचारधारा का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा।

क्सेनोफेन (५७६-४८० ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत नानात्व रूप-प्रपंच का खण्डन करके एक अद्वैत सत्य की प्रतिष्ठा की गई है। कठोपनिषद् (२।१।११) में प्रपंच-नानात्व का मिथ्यात्व सिद्ध करते हुए लिखा है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥

अर्थात्, जगत् का नानात्व कल्पित है, यथार्थ नहीं। जो जगत् का नानात्व रूप से दर्शन करते हैं वे कभी मृत्यु के बन्धन से छुटकारा नहीं पाते। इस प्रकार कठोपनिषद् की उक्त विचारधारा के आधार पर वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। लगभग यही विचारधारा क्सेनोफेन की भी प्रतीत होती है। वह भी एकेश्वरवाद का समर्थक है, परन्तु एकेश्वरवाद का समर्थक होते हुए भी वह ईश्वर की सत्ता जगत् से पृथक् नहीं मानता। उसके विचार का विश्लेषण करते हुए विद्वान् स्टेस (Stace) लिखते हैं :

"Therefore God is to be conceived as one···The world is God, a sentient being, though without organs of sense."[१]

उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार, क्सेनोफेन द्वारा कल्पित ईश्वर सूक्ष्म, चेतन तथा सत्‌रूप है। अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म भी सत्, चित् एवं आनन्दरूप है। इस प्रकार सत् और चित् की कल्पना अद्वैतवेदान्त के ही समान है। रही आनन्द-रूप की बात, तो दार्शनिक धारा के इस उद्गम-काल में क्सेनोफेन जैसे शिशु दार्शनिक की दृष्टि में साधनासाध्य आनन्द का रूप आ ही कैसे सकता था। अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के सर्वज्ञत्व की विशेषता प्रसिद्ध है। दार्शनिक क्सेनोफेन भी ईश्वर की सर्वज्ञता के पक्ष में था। क्सेनोफेन की अधोलिखित पंक्ति में भी यही सर्वज्ञत्व का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

१. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.

"He sees all over, thinks all over and hears all over.[१]

वह वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर की तरह ईश्वर को नियन्ता के रूप में भी स्वीकार करता था। समालोचक स्टेस महोदय की निम्नलिखित पंक्ति का भी यही आशय है :

"He is all eye, all ear, all thought. It is he 'who' without trouble, by his thought governs all hings.[२]

विचारक क्सेनोफेन ने जिस नियन्ता ईश्वर की कल्पना की थी, वह जागतिक नियंताओं की तरह बाह्य रूप से सत् नहीं था।[३] क्सेनोफेन की उक्त विचारदृष्टि दूसरे शब्दों में अद्वैत वेदान्त के सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के समान ही प्रतीत होती है। ईश्वर के इस अन्तर्यामित्व का उल्लेख करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"[४]

इसके अतिरिक्त क्सेनोफेन की ईश्वर के सम्बन्ध में अनादित्व, अनन्तत्व एवं अपरिवर्तनत्व की कल्पना[५] भी अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के समान ही थी।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण

यद्यपि ऊपर की गई आलोचनात्मक विवेचना से यह सर्वतः सिद्ध है कि क्सेनोफेन एकेश्वरवादी था, परन्तु विद्वानों में उसकी इस विचारधारा के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं।

फ्रूडेन्थल का मत—फ्रूडेन्थल का कथन है कि क्सेनोफेन एक प्रकार से बहुदेववादी ही था।[६]

(२) विलमोवित्ज (Wilamovitz) का मत—विलमोवित्ज का विचार तो यह है कि सर्वप्रथम क्सेनोफेन ने ही वास्तविक अद्वैतवाद के दर्शन किये थे।

प्रो॰ बर्नेट ने फ्रूडेन्थल के पूर्वोक्त मत का खण्डन और विलमोवित्ज के उक्त मत का समर्थन करते हुए निम्नलिखित पंक्तियां लिखीं हैं—

I cannot help thinking that Freudenthal was more nearly right than Wilamovitz, who says that Xenophenes upheld the only real monotheism that has ever existed upon earth."[७]

(३) डील्स का मत—विद्वान डील्स क्सेनोफेन की विचारधारा को कुछ-कुछ सीमित

१. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 119.
२. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.
३. But it would be a mistake to suppose that Xenophenes thought of this God as being external to the world, governing it from the out side, as a general governs his solders. (*Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42.)
४. गीता, १८।६१।
५. This all one was at the same time the Deity, without beginning and without end, always similar to itself and hence unchangeable. (OUTLINE OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 42)
६. *Freudenthal* : DIE THEOLOGIE DES XENOPHENES (Braslau, 1886)
७. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 129.

एकेश्वरवाद का रूप देते हैं।[१]

मेरे विचार से फ्रूडेन्थल का क्सेनोफेन को बहुदेववादी कहना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसने होमर और हिसियड के बहुदेववाद का खण्डन करके ही एकेश्वरवाद की स्थापना की थी। क्सेनोफेन ने अपने शोक-गीतों में देवताओं की जो चर्चा की है वह विरोधी मत वाले होमर तथा हिसियड के बहुदेववाद के सम्बन्ध में ही है। अतः फ्रूडेन्थल का क्सेनोफेन को बहुदेववादी कहना उचित नहीं है। साथ ही डीलस का क्सेनोफेन को सीमित एकेश्वरवाद का समर्थक कहना भी समुचित नहीं है। यदि विचार कर देखा जाए तो वह एकेश्वरवादी तथा ब्रह्माद्वैतवादी दोनों ही था। जब वह यह कहता है कि 'सब एक में है' तो वह एकेश्वरवादी है; और जब यह कहता है कि ईश्वर एक है, तब वह ब्रह्माद्वैतवादी है।[२] उसके मत के सम्बन्ध में राहुल जी का निम्नलिखित मत उचित प्रतीत होता है :

> "अर्थात्, वह रामानुज से भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों में ईश्वर और जगत् की अभिन्नता को मानता था, साथ ही शंकर की भांति प्रकृति से इन्कार नहीं करता था।"[३]

परमेनिद् (५१४ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

एलिया के प्रसिद्ध दार्शनिकों में दूसरा स्थान परमेनिद् का था। दार्शनिक दृष्टि से परमेनिद् का महत्त्व अत्यधिक है। प्रोफेसर ए० एच० आर्मस्ट्रांग का विचार है कि परमेनिद् यूनान का ऐसा पहला दार्शनिक है जिसने तर्क का आश्रय लिया है।[४] विद्वान् स्टेस तो परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा को प्लेटो के दार्शनिक विचार-प्रासाद की आधारभूमि मानते हैं।[५]

परमेनिद् के सम्बन्ध में यह कथन सत्य ही होगा कि यह यूनानी दर्शन का ऐसा ज्वलन्त नक्षत्र है जिसने दर्शन के क्षेत्र में एक नई ज्योति एवं अन्य अनेक भावी महान् दार्शनिकों को जन्म दिया है। अब यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि अद्वैत वेदान्त की विचारधारा और परमेनिद् की विचारधारा में कैसी सम्बद्धता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सदसद्वाद की विचारधारा बड़ी प्राचीन है। वैदिक साहित्य में सदसद्वाद में सम्बन्ध में बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।[६] अद्वैत वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लिए सत् और जगत् के लिए असत् शब्द का प्रयोग होता है। यहां यह और कह देना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के असत् से शशशृंगवत् अथवा आकाशकुसुमवत् असत्य से तात्पर्य कदापि नहीं है। यह पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् है, न कि व्यावहारिक दृष्टि से। उक्त दृष्टिकोण के मूल स्वरूप ही छान्दोग्योपनिषद् में सत् को सृष्टि का मूल कारण

---

१. *Burnet* : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p 129.
२. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७।
३. वही, पृ० ७।
४. AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p. 12. (Mothuen & Co., Roudon, 1957)
५. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 52.
६. ऋग्वेद संहिता, १०।१२९।१, १०।१२९।४; छा० उ०, ६।२।१; शतपथब्राह्मण, १०।५।३।१; तै० उ०, २।७।१; बृ० उ०, २।१।२०।

परमेनिद् की विचारधारा में कल्पनावाद का दर्शन करने वाले विचारकों का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"Parmanides is not, as some have said, the father of idealism. On the contrary, all materialism depends upon his view of reality."[१]

अर्थात्, "जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है परमेनिद कल्पनावाद या अद्वैतवाद का जनक नहीं है, इसके विपरीत सारा वस्तुवाद उसके सत्ता-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है।"

जब हम प्रो० बर्नेट के उक्त मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि परमेनिद् ने तो स्वयं ही कल्पनावाद तथा वस्तुवाद का भेद स्थापित कर दिया था। यद्यपि यहाँ यह कहना भी उपयुक्त होगा कि परमेनिद स्वयं मैटर (वस्तु) और आइडिया (कल्पना) के भेद से अवगत नहीं था; इसका यही कारण था कि यह भेद-व्यवस्था उसके उत्तरकाल में आकर निश्चित हुई थी। वस्तुवाद के सिद्धान्त के अनुसार, जिस वस्तु का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है वही सत्य है। इसके विपरीत, परमेनिद् सत्य को चिन्तन का विषय मानता है।[२] अतः परमेनिद् वस्तुवादी कैसे हो सकता है? उपर्युक्त कथन के अनुसार वस्तुवादी की दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है, वही वस्तु सत्य मानी जा सकती है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो; परन्तु परमेनिद् तो सत्य को तर्क-सिद्ध मानता था, न कि इन्द्रिय-ज्ञान सिद्ध।

परमेनिद् इन्द्रिय प्रत्यक्ष-योग्य बाह्य जगत् को मिथ्या मानता है तथा उसकी दृश्यमात्र सत्ता को स्वीकार करता है।[3]

इस प्रकार परमेनिद् ने स्थूल और सूक्ष्म का भेद स्वतः स्वीकार किया है। अतः प्रो० बर्नेट का परमेनिद् को वस्तुवाद (Materialism) का प्रतिपादक कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

मानता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर पार्मेनिडिज वस्तुवादी प्रतीत होता है। परन्तु इस विवेचन का निष्कर्ष तो यह है कि पार्मेनिडिज वस्तुवादी न होकर अद्वैतवादी ही था। पार्मेनिडिज का सत् और असत् का साथ-साथ विवेचन करना अद्वैतवाद का ही समर्थक है। वह परम तत्त्व को सत् मानता है और असत् को असत्।[1] यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि शंकराचार्य का 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'।[2]

जेनो (४८९ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यूनानी दार्शनिकों में तीसरा अद्वैतवादी दार्शनिक जेनो था। जेनो पार्मेनिडिज का शिष्य था। अरस्तू ने जेनो को तर्कवाद का जन्मदाता कहा है।[3] यदि देखा जाये तो पार्मेनिडिज ने जिस एक तत्त्व का प्रतिपादन किया था, उसी का आगे चलकर जेनो ने मण्डन किया था। पार्मेनिडिज ने यदि तत्त्व के एकत्व का समर्थन किया था तो जेनो ने अनेकत्व का खण्डन। पार्मेनिडिज ने यदि सत्य को अचल एवं अपरिवर्तनीय कहा था तो जेनो ने गति को असत्य। इस प्रकार जेनो अप्रत्यक्ष रूप से पार्मेनिडिज का ही समर्थक था। दार्शनिक जेनो ने अद्वैत तत्त्व की रक्षा के लिए विशेष रूप से दो तर्कों का आश्रय लिया था। वे दो तर्क थे : अनेकत्ववाद और गतिवाद का खण्डन।[4] परन्तु जेनो का न अनेकत्व के खण्डन से यह तात्पर्य था कि संसार में दृश्यमान वस्तुओं के अनेक रूपों की सत्ता नहीं है और न वस्तुओं की गति के खण्डन से यह अभिप्राय था कि उनमें दिखाई पड़ने वाली गति का अभाव है। जेनो का तो अनेकत्व और गति के खण्डन से यही आशय था कि यह अनेकता एवं गति-सम्पन्न जगत् वास्तविक सत्य नहीं है। इस विचार की पुष्टि में जेनो का कथन था कि अनेकता और गति सत्य नहीं है। यही बात स्टेस महोदय ने जेनो के सम्बन्ध में कही है—

"Zeno said that motion and multiplicity are not real."[5]

जेनो की उक्त विचारधारा का यदि अद्वैत सिद्धान्तों के साथ साम्य देखने की चेष्टा की जाये तो ज्ञात होगा कि सत्य में जिस अनेकत्व और गतित्व का खण्डन जेनो ने किया था उसका निरसन उपनिषद्-दर्शन में पहले से ही किया जा चुका था। जहां तक जेनो के द्वारा किये गए अनेकत्व के खण्डन का प्रश्न है, कठोपनिषद में प्रपंचमूलक नानात्व का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है—

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः समृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥"[6]

अर्थात्, जो इस जगत् में नानात्व देखता है वह मरण-बन्धन से छुटकारा नहीं पाता। परन्तु केवल ज्ञानी के लिए ही यह नानात्व का भेद नहीं रहता। उपनिषद्-परवर्ती वेदान्त में तो अनेकत्वमय प्रपंच का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त

---

१. *Stace*: A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 404.
२. विवेकचूडामणि, २० ।
३. *Zeller*: OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 52.
४. वही।
५. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 60.
६. कठोपनिषद्, २।१।११ ।

ज़ेनो ने सत्य में जिस गति का खण्डन किया था, वह भी उपनिषद्दर्शन में पहले से वर्तमान था। कठोपनिषद् में अद्वैत सत्य को अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त, महान् से भी पर तथा ध्रुव कहा है।[2] सत्य के 'ध्रुव' विशेषण से गति का खण्डन स्वतः सिद्ध है। उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त ज़ेनो अद्वैत वेदान्त के विवर्तवाद का भी समर्थक प्रतीत होता है। विवर्तवाद के अनुसार सत्य के ही अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं परन्तु वास्तव में सत्य एक ही है, उसमें अनेकरूपता तो देखने-मात्र की ही है। अनेकता सत्यता का तात्त्विक परिवर्तन न होकर विवर्त मात्र है।[1] इसी प्रकार ज़ेनो का भी यही सिद्धान्त है कि जगत् के जो विषय हैं वे केवल सत्य के ही प्रदर्शन मात्र हैं। स्टेस महोदय के निम्नलिखित कथन में उक्त विचार द्रष्टव्य हैं—

"They are, therefore, mere appeances of that other, wich is the reality."[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि क्सेनोफेन और परमेनिद् की तरह ज़ेनो पर भी अद्वैत दर्शन का पूर्ण प्रभाव मिलता है। यहां यह कहना और अपेक्षित होगा कि दार्शनिकता की दृष्टि से ज़ेनो का महत्त्व क्सेनोफेन और परमेनिद् से भी अधिक है।

अब यहां यूनान के दो प्रसिद्ध दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू, के दार्शनिक विचारों का अध्ययन अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया जायेगा।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यदि देखा जाये तो प्लेटो एक समन्वयवादी दार्शनिक था। वह जहां यथार्थवादी सुकरात के इस कथन से सहमत था कि प्रयत्न द्वारा तत्त्व-ज्ञान सम्भव है, वहां हेराक्लितु के इस मत का भी विरोधी नहीं था कि साधारणतया जिन भौतिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है वे परिवर्तन के पुतले परमार्थ सत्य का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। वह एलियातिकों की तरह जगत् को परिवर्तनशील मानता था और परमाणुवादियों की तरह अनेक विज्ञानों की मान्यता के द्वारा बहुत्ववाद का भी समर्थन करता था। उसका विज्ञान (idea) पियागोर की 'आकृति' से भी मिलता-जुलता था। प्लेटो की विचारधारा के अनुसार विज्ञान की सत्यता स्वीकार की गयी है। उसके मतानुसार विज्ञान (आइडियाज़) अनेक हैं; संसार में जितने विषय दृष्टिगोचर होते हैं, उतने विचारों को प्लेटो मस्तिष्क में सत्य मानता है। इसके अतिरिक्त, यदि मस्तिष्क में कोई ऐसा विचार है जो बाह्य जगत में अप्राप्य है तो वह विचार प्लेटो की दृष्टि में मिथ्या है। उदाहरण के लिए, गाय, अश्व और मनुष्य आदि का मस्तिष्क-स्थित विचार सत्य है क्योंकि ये जगत् में दिखाई पड़ते हैं। यहां यह भी विचारणीय है कि अश्व आदि का विज्ञान (आइडिया) ही सत्य है, न कि उनकी भौतिक सत्ता। प्लेटो विज्ञान को नैयायिक के सामान्य के रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि अश्व के विज्ञान से उसका तात्पर्य अश्वत्व जाति से है। प्लेटो के 'विज्ञान' की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

१. विज्ञान (ideas) सारभूत तत्त्व हैं।
२. विज्ञान (ideas) व्यापक है।
३. विज्ञान (ideas) वस्तुएं नहीं, विचार हैं।
४. विज्ञान (ideas) में एकत्व है।
५. विज्ञान (ideas) अचल तथा अविनाशी है।
६. विज्ञान (ideas) समस्त भौतिक वस्तुओं के सार हैं।
७. विज्ञान (ideas) अपने स्वरूप में पूर्ण सत्य हैं।
८. विज्ञान (ideas) देश तथा काल से परे हैं।
९. विज्ञान (ideas) तर्कप्रतिपाद्य हैं।

ऊपर विज्ञान के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि प्लेटो अनेक विज्ञान स्वीकार करता था परन्तु उसने एक सर्वोच्च विज्ञान को भी स्वीकार किया था। इस सर्वोच्च विज्ञान को प्लेटो ने शिव-रूप[१] माना है। यदि प्लेटो के उक्त सर्वोच्च विज्ञान की तुलना औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत विवेचित ब्रह्म या आत्मा से की जाये तो दोनों में पर्याप्त साम्य मिलेगा। जिस प्रकार कि प्लेटो का सर्वोच्च विज्ञान विशेष ज्ञान का स्वरूप है उसी प्रकार उपनिषद्-प्रतिपाद्य अद्वैत तत्त्व आत्मा को भी माण्डूक्योपनिषद् में 'विज्ञेयः' अर्थात् विशेष रूप से ज्ञेय कहा गया है।[२] प्लेटो ने अपने 'सर्वोच्च विज्ञान' के साथ जो 'शिव' विशेषण जोड़ा है, उसकी चर्चा भी माण्डूक्योपनिषद में पहले से मिलती है। माण्डूक्योपनिषद् ने अद्वैत सत्य को 'शिवमद्वैत' कहकर शिवरूप माना है।[३] इतना ही नहीं, प्लेटो ने जिस प्रकार 'सर्वोच्च विज्ञान' की उपमा सूर्य से दी है[४] उसी प्रकार कठोपनिषद् में भी आत्मा का वर्णन सूर्य रूप में किया गया है।[५] प्लेटो उक्त सर्वोच्च विज्ञान को ही अभेद्य सत्य मानता है और उसी को वह समस्त जागतिक सत्ता का आधार मानता है।[६] अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त है। अधिष्ठानवाद के अनुसार इस समस्त जगत् का कुछ-न-कुछ सत् आधार अवश्य होना चाहिए। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान-रूप आधार है और जगत् उसमें अध्यस्त है। इस प्रकार अधिष्ठानरूप से ही ब्रह्म जगत् का कारण कहा जाता है।[७] उपनिषदों में भी ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म या आत्मा एवं प्लेटो के 'सर्वोच्च विज्ञान' में बहुत-कुछ

---

१. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 133-134.
२. माण्डूक्योपनिषद्, ७।
३. वही, ७।
४. In the Republic (VI, 504, Eff; VII 517 Bff), it was compared to the sun as the ultimate source of all being and knowledge and at the same time the final goal of the world. (*Zeller*: OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 134.)
५. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।—कठ० उ०, २।२।११।
६. This idea will be the one final and absolutely real Being which is the ultimate ground of itself, of the other Ideas, and of the entire universe. (*Stace*: A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 198.)
७. अधिष्ठानत्वमात्रेण ब्रह्मकारणं गीयते।—वे० सि०मु०, ४६।

साम्य होते हुए भी एक विचारणीय भेद यह है कि प्लेटो का 'विज्ञान' तर्क-लभ्य है[१] और इसके विपरीत ब्रह्मवादी का आत्मा या ब्रह्म तर्क द्वारा अलभ्य—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ०, १।२।९)। माया का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है. इसका उद्गम उपनिषदों से ही आरम्भ हो जाता है।[२] शंकराचार्य के दर्शन में आकर तो मायावाद के सिद्धान्त का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो भारतीय दर्शन की इस माया की छाया प्लेटो के 'हाइल' (Hyle) में भी मिलती है। प्लेटो ने इस शब्द का प्रयोग भौतिक वस्तु के लिए किया है। अद्वैतवादी की माया की तरह प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hyle) भी सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसकी अनिर्वचनीयता को सिद्ध करते हुए प्रो० रे चौधरी का कथन है कि 'भौतिक वस्तु' (Hyle) प्लेटो के विज्ञान से विपरीत होने का कारण तो असत्-रूप है परन्तु यह पूर्णतया असत्-रूप भी नहीं है। क्योंकि सारे ऐन्द्रिय जगत् का यही आधार है।[३] इस प्रकार यह सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण है। प्लेटो की 'भौतिक वस्तु' की तरह ही शंकराचार्य की माया भी सत् तथा असत् से विलक्षण है एवं अनिश्चित तथा अनिर्वाच्य है। इसी मत को स्पष्ट करते हुए रे चौधरी महोदय ने लिखा है :

"Samkar's maya also is distinguished fiom sat and a sat like Hylc, it is indeterminate and underfinable."[४]

यद्यपि उक्त दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवादी की माया और प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hylc) में पर्याप्त समानता है, परन्तु दोनों में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि अद्वैतवाद के अनुसार माया परमेश्वर की शक्ति है और प्लेटो द्वारा स्वीकृत भौतिक वस्तु की सत्ता 'सर्वोच्च विज्ञान' से भिन्न है। इसीलिए प्लेटो द्वैतवादी है।

यद्यपि प्लेटो द्वैतवादी है परन्तु उसके विज्ञान और उपनिषद् के आत्मा एवं ब्रह्म में बहुत-कुछ साम्य होने के कारण प्लेटो के 'विज्ञान'-सम्बन्धी विचार पर उपनिषदों का प्रभाव द्रष्टव्य है।

अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

अपने गुरु प्लेटो से बीस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि अरस्तू की दार्शनिक विचारधारा पर अपने गुरु की दार्शनिक विचार-प्रक्रिया का पूर्ण प्रभाव हो; परन्तु यह प्रभाव अन्धश्रद्धा के रूप में नहीं था। जैसे अरस्तू, सुकरात और प्लेटो

---

१. The imperishable one, the absolute reality is apprehended not by intuition, or in any kind of mystic ecstacy, but only by rational cognition and laborious thought. (*Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 191.)

२. *Thibought* : SACRED BOOK OF THE EAST, Vol. XXXXIV, Introduction (Oxford Clarendon Press, 1890.)

३. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 175. (Das Gupta & Co., Calcutta, 1950.)

४. Ibid, p. 175.

की तरह, ज्ञान के लिए विज्ञान की सत्ता को तो स्वीकार करता था, परन्तु प्लेटो की तरह यह बात उसे मान्य नहीं थी कि 'विज्ञान-जगत्' (World of ideas) की सत्ता भौतिक जगत् से पृथक् है।

प्लेटो की तरह अरस्तू विज्ञान पर बल नहीं देता था; उसका कहना था कि मूल स्वरूप (विज्ञान) भौतिक तत्त्वों में वर्तमान है और भौतिक तत्त्व मूल स्वरूपों में। साथ ही जाति (सामान्य) और व्यक्ति को भी अरस्तू प्लेटो की तरह अलग-अलग नहीं मानता था। उसका कहना था कि इन दोनों (जाति और व्यक्ति) को अलग-अलग समझा जा सकता है, किन्तु अलग-अलग किया नहीं जा सकता।[1]

अरस्तू के दर्शन का सर्वप्रमुख सिद्धान्त जगत् की नित्यता से सम्बन्धित था। 'जगत् नित्य है'—इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम चिन्तन अरस्तू ने ही किया था और इस सिद्धान्त के समर्थन में उसका कहना था कि भौतिक तत्त्व (मैटर) और आकृति (फार्म) भी नित्य हैं। इसी सम्बन्ध में वह 'गति' को अनादि तथा अनन्त मानता था।[2]

अद्वैत वेदान्ती की तरह अरस्तू भी अधिष्ठानवादी था, परन्तु उसके दर्शन का अधिष्ठान वेदान्ती की तरह ब्रह्म अथवा कोई अन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं था। वह आकृति रहित वस्तु को ही अधिष्ठान (Substratum) मानता था।[3] द्रव्य के सम्बन्ध में अरस्तू का सिद्धान्त द्रव्य-सम्बन्धी साधारण मान्यता से भिन्न था। लौह अथवा काष्ठ द्रव्य (मैटर) हैं और उनसे निर्मित पात्रादि आकृति (फार्म) हैं, यह बात अरस्तू को स्वीकार नहीं थी। वह तो द्रव्य और आकृति में अभिन्नता मानता था। जैसे काष्ठ और शैया के उदाहरण में काष्ठ द्रव्य है और शैया आकृति परन्तु यदि विकसित होते हुए वृक्ष के सम्बन्ध में देखा जाये तो काष्ठ द्रव्य न होकर आकृति है और वृक्ष द्रव्य। कारण और कार्य की यही एकता अरस्तू के अधिष्ठानवाद का मूलाधार है। प्रो० रानाडे ने अरस्तू की द्रव्य (मैटर) और आकृति-सम्बन्धी विचारधारा को प्रश्नोपनिषद् (१।४, १३) की 'रयि' और 'प्राण' कल्पना-जैसी ही माना है।[4] रयि और प्राण के सिद्धान्त का उल्लेख अध्यात्म-तत्त्व के वेत्ता पिप्पलाद ने प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासु कबन्धी कात्यायन के सृष्टि-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए किया है। पिप्पलाद कहते हैं कि प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा से पहले तप किया और फिर तप के पश्चात् 'रयि' और 'प्राण' के मिथुन की सृष्टि की और कहा कि ये 'रयि' और 'प्राण' ही समस्त सृष्टि की रचना करेंगे।[5] इस स्थल पर 'रयि' से भौतिक तत्त्व का तात्पर्य है। जिस प्रकार कि उपनिषद् में उक्त सिद्धान्त के अनुसार रयि और प्राण को समस्त सृष्टि का आधार कहा गया है, उसी प्रकार अरस्तू के दर्शन में भी द्रव्य और आकृति को समस्त सृष्टि का आधार माना गया है।[6]

---

१. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ २५।
२. *Zeller* : OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 180.
३. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 278.
४. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 49.
५. रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। —प्रश्नोपनिषद् १।४।
६. *Stace* : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 274.

अरस्तू के 'प्रथम दर्शन' (First Philosophy) या अध्यात्म-दर्शन की चिन्तनधारा का अन्तिम विषय ईश्वर था। ईश्वर को अरस्तू योगदर्शन की तरह किसी 'पुरुष-विशेष' के रूप में नहीं स्वीकार करता,[1] वरन् अद्वैतवेदान्त की तरह सूक्ष्म ही मानता है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में ईश्वर को अन्तर्यामी तथा समस्त संसार का शासक कहा गया है।[3] आगे चलकर शांकर वेदान्त में भी ईश्वर के अन्तर्यामित्व और शासकत्व की चर्चा पूर्ण रूप से मिलती है। उपनिषदों तथा परवर्ती अद्वैतवेदान्त की तरह अरस्तू के ईश्वर को भी रौस (Ross) महोदय ने अन्तर्यामी कहा है। परन्तु अरस्तू के अनुसार ईश्वर के अन्तर्यामित्व का अभिप्राय कुछ भिन्न है। प्रो० रौस अरस्तू के ईश्वर के अन्तर्यामित्व-सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अरस्तू ईश्वर को जगत् के आन्तरिक शासन का कारण मानते हुए जगत् में उसके (ईश्वर के) कर्त्तृत्व का रूप देखता है। इसी अर्थ में अरस्तू ईश्वर को अन्तर्यामी मानता है।[4] ऊपर हमने उपनिषदों तथा अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर के शासकत्व की बात कही है। अरस्तू-सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के सम्बन्ध में उसके शासकत्व का संकेत भी अभी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के दर्शन में ईश्वर की तुलना सेना के 'कप्तान' से भी की गई है, जिसकी आज्ञा का पालन करना सेना का कर्तव्य है।[5] इसी प्रकार शंकराचार्य ने परमेश्वर की तुलना उस राजा से की है जिसकी आज्ञा में मनुष्य नियमपूर्वक चलता है। शंकराचार्य का कथन है कि अग्नि-वायु-सूर्य आदि जगत् इसी ब्रह्म से भय पाकर विनयपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं।[6] इस प्रकार ईश्वर के नियन्तृत्व का विचार उपनिषदों, परवर्ती वेदान्त और अरस्तू के दृष्टिकोण के अनुसार प्रायः समान ही है। ईश्वरेच्छा का सिद्धान्त भी उपनिषद्-दर्शन, परवर्ती अद्वैतवेदान्त दर्शन और अरस्तू के दर्शन में प्रायः समान ही है। ऐतरेय 'उपनिषद् में लोक-सृष्टि को ईश्वरेच्छा का फल कहा है।[7] प्राचीन अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य गौडपाद ने उपनिषद् के उक्त मत का यत्किञ्चित् परिमार्जन करते हुए कहा है कि सृष्टि की उत्पत्ति करना ईश्वर का स्वभाव है, क्योंकि जो ईश्वर पूर्णकाम है उसकी इच्छा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है।[8] इस सम्बन्ध में परवर्ती आचार्य शंकर का कथन है कि सृष्टि-रचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीला-रूप प्रवृत्ति-मात्र ही प्रयोजन है।[9] अब अरस्तू के दर्शन को लीजिये। जैसा कि प्रो० रौस का कथन है, अरस्तू ईश्वर को विश्व के स्रष्टा के रूप में

नहीं देखता।[१] परन्तु प्रो० आर्मस्ट्रांग का विचार है कि जहां तक प्रथम गति पर आधारित विश्व की समस्त गतियों और परिवर्तनों का सम्बन्ध है, उन सबका प्रमुख कारण यह आकांक्षा है जो शुद्ध और पूर्ण ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती है। इस प्रकार ईश्वर प्रेरणाशक्ति का संचार करता है।[२] मेरे विचार से ईश्वर की प्रेरणाशक्ति का मूल उसकी जगत् के शासन की इच्छा को ही मानना चाहिए। मेरे इस मत का अनुमोदन प्रो० रौस के इस कथन से भी हो जाता है कि यह कल्पना न करना कठिन है कि अरस्तू ने ऐसे ईश्वर की योजना की है जो विश्व के इतिहास के विकास की प्रमुख योजनाओं का अपनी इच्छा से शासन करता है।[३] उक्त दृष्टि से अरस्तू के दर्शन में भी ईश्वरेच्छा का एक रूप मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि अरस्तू का जगत् की अमरता और द्रव्य (मैटर) की मूलकारणता का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त से पूर्णतया भिन्न है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दोनों दर्शन-पद्धतियों की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में बहुत-कुछ समानता है। अतः ईश्वर की अन्तर्यामिता, शासकता और इच्छा के सम्बन्ध में अरस्तू के दर्शन पर उपनिषद्-दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है।

यद्यपि अरस्तू के बाद भी यूनान में एपीकुरु, जेनो (यह जेनो पूर्ववर्णित जेनो से भिन्न है) और पिरहो आदि दार्शनिकों ने दर्शन-ज्योति को कुछ जाग्रत करने की चेष्टा की, परन्तु इन दार्शनिकों की दृष्टियां पूर्ण तथा परिपक्व न थीं। इसीलिए राहुलजी ने अरस्तू-परवर्ती दर्शन को 'रामनाम सत्' का दर्शन कहा है।[४]

अद्वैत वेदान्त और कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

शोपेनहूर, सर विलियम जोन्स, विक्टर कजिन और फ्रेड्रिक श्लेगिल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदान्तदर्शन का महत्त्व निःसंकोच भाव से स्वीकार किया है।[५] इसके अतिरिक्त टामलिन-प्रभृति पाश्चात्य आलोचकों ने काण्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों पर शांकर दर्शन (अद्वैत वेदान्त) का प्रभाव भी स्वीकार किया है। टामलिन महोदय काण्टीय दर्शन पर शांकर-दर्शन का प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखते हैं :

"शांकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल में जाकर जर्मन दार्शनिक काण्ट में अपनाया था।"[६]

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक विद्वानों ने भी पाश्चात्य दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्वीकार किया है। वैसे तो, अनेकों

---

१. If the question be asked, whether Aristotle thinks of God as creater of the world, the answer would certainly be that he does not. ARISTOTLE, p. 184.
२. *Armstrong* : AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p. 89.
३. *Ross* : ARISTOTLE, p. 185.
४. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३०।
५. *MaxMuller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 8-11.
६. THE GREAT PHILOSOPHERS, (The Eastern World), p. 218. (Skeffington-London 1952, first edition).

पश्चिमी दार्शनिकों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु इस स्थल पर हमारे अध्ययन की दिशा पाश्चात्त्य दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव एवं सम्बन्ध देखना है। इस दृष्टि से हम यहां देकार्त, स्पिनोज़ा, लाइबनिज़, बर्कले, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल तथा शोपेनहर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उपर्युक्त पश्चिमी दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा।

देकार्त (Descartes) (१५९६–१६५०) और अद्वैत वेदान्त

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त एक महान् गणितज्ञ भी था। गणित की नियमित प्रक्रियाओं के समान ही उसने दर्शन के क्षेत्र में भी एक नियमबद्ध प्रक्रिया को ही स्वीकार किया था।[१] उसका कहना था कि हम ईश्वर और जगत् के अनेक विषयों के बारे में संदेह करते हैं, अतः सन्देह एक निश्चित वस्तु है। इस तर्क के आधार पर देकार्त इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जिस आत्मा के विषय में हम सन्देह करते हैं उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। देकार्त के Cogito, ergo sum (मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं) वाक्य में उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या हुई है। प्रतीति को सत्य मानने के कारण देकार्त ईश्वर तथा जगत् को ही सत्य मानता था।[२] देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था। सृष्टि के सम्बन्ध में देकार्त का कथन है कि ईश्वर ने प्रारम्भ में गति और विश्राम के साथ भौतिक तत्त्वों, अर्थात् प्रकृति को उत्पन्न किया। ईश्वर ने प्रकृति में जिस गति का संचार किया उसे उसी मात्रा में रखने के लिए ईश्वर की आज भी आवश्यकता है, यह सिद्धान्त देकार्त को मान्य था।[३] इस प्रकार देकार्त के अनुसार ईश्वर की सक्रियता सदा अपेक्षित थी।

वैसे तो, जैसा कि अभी कहा गया है, देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था, परन्तु उसका उपर्युक्त विचार कि 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं' अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। दूसरे शब्दों में, अद्वैत वेदान्त में आत्मा के अभाव एवं शून्यत्व का निराकरण किया गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं! कोई नहीं मानता कि मैं नहीं हूं। शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के निम्नोद्धृत कथन में उपर्युक्त आशय पूर्ण रूप से निहित है :

"नहि कश्चित् सन्दिग्धो नाहमस्मीति।"[४]

अर्थात्, मैं नहीं हूं, इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और देकार्त की दार्शनिक दृष्टि में प्रमुख भेद होते हुए भी कुछ विचारों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है।

---

१. *Radhakrishnan* : EAST AND WEST, p. 99.
(London : Allen & Unwin, 1954)

२. राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०६।

३. वही, ३०६।

४. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ६२८।

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०) और अद्वैत वेदान्त

बारुच दे स्पिनोज़ा हालैण्ड के एक मध्यमवर्गीय परिवार में उत्पन्न हुआ था। स्पिनोज़ा ने पहिले इब्रानी और फिर फ्रेंच दार्शनिक देकार्त के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और इसके पश्चात् वह दर्शन के स्वतन्त्र चिन्तन में लग गया था। स्पिनोज़ा पहिला दार्शनिक था जिसने लोकोत्तरवाद तथा धर्मरूढ़िवाद का खण्डन करके बुद्धिवाद तथा प्रकृतिवाद का समर्थन किया था। इसीलिए स्पिनोज़ा प्रकृति को ईश्वर-रूप मानता था। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति को ईश्वर-रूप मानते हुए भी स्पिनोज़ा प्रकृति को मानव-सत्ता से भिन्न मानता था।[1] उसका कहना था कि जगत् की अच्छी और बुरी, नीच और ऊंच, प्रत्येक वस्तु पूर्णतया ईश्वर का ही अंश है। वस्तुओं की सुन्दरता और कुरूपता, सुव्यवस्था तथा अव्यवस्था का आधार स्पिनोज़ा की दृष्टि में हमारी कल्पना ही है।[2]

स्पिनोज़ा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक था। सर्वेश्वरवाद के अनुसार उसका कहना था कि सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में स्पिनोज़ा का कथन है कि जगत् के समस्त पदार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं और इन समस्त पदार्थों का एक आधार भी है। यह आधार उसकी दृष्टि में प्रकृति या ईश्वर है। स्पिनोज़ा के अनुसार, ईश्वर जगत् का बाह्य अथवा क्षणिक कारण नहीं है, वरन् वह उपादान कारण है तथा उसकी वास्तविक सत्ता है। ईश्वर के अनन्त धर्म हैं। इन धर्मों में विस्तार तथा ज्ञान प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा के ईश्वर का देहधारी व्यक्तित्व नहीं है, उसका व्यक्तित्व तो समस्त व्यक्तित्वों से ऊपर है। यदि हम अद्वैत वेदान्त पर स्पिनोज़ा की दार्शनिक विचारधारा के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विचार करें तो हमें दोनों विचारधाराओं में बहुत-कुछ साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। साम्य के लिए अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और स्पिनोज़ा के 'स्वतन्त्र तत्त्व' (Substantia) को ले सकते हैं। यही स्वतन्त्र तत्त्व स्पिनोज़ा का ईश्वर है। स्पिनोज़ा द्वारा स्वीकृत यह स्वतन्त्र तत्त्व अपने में पूर्ण तथा किसी दूसरे पर आधारित न होने के कारण स्वतन्त्र है।[3] स्पिनोज़ा ने उक्त स्वतन्त्र तत्त्व को स्वतन्त्र तथा स्वतः सिद्ध (In se est and per se concipitur) माना है। स्पिनोज़ा के अनुसार उक्त तत्त्व असीम, अविभाज्य, अद्वैत, स्वतन्त्र तथा आनन्द-रूप है। इसी प्रकार शांकर वेदान्त और उपनिषद्-दर्शन का ब्रह्म भी अजात, अविनाशी, अनन्त, पूर्ण, अचल, शान्त तथा दोषरहित है।[4] इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का यह कथन उचित ही

---

१. THE ETHICS OF SPINOZA & DE EMENDA TIENE, p. VII (New York : Dutton & Co, 1930)

२. Only in relation to our imagination can things be called beautiful and ugly, well or deret or confused. Letter XV (VAN VLOTE & LAND, XXXII) addressed to Oldenburg, Nov. 20, 1665.

३. SPINOZA'S ETHICS, part 1, p. 1 (Dutton & Co., New York).

४. It is according to him infinite, indivisible, one, free and eternal, just as Sankar's Brahman is called in the Upanishads unborne, undecaying, undying, without parts, without action, tranquil, without fault or taint. *MaxMuller* : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 123 (Longmans Green, London, 1894).

प्रतीत होता है :

"Thus the Brahman, as conceived in the Upanishads and defined by Sankar is clearly the same as Spinoza's 'Substantia'."[1]

अर्थात् उपनिषदों और शङ्कराचार्य ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, वह स्पष्ट रूपसे वैसा ही है जैसा कि स्पिनोज़ा का 'सबस्टेण्शिआ' अर्थात् 'स्वतन्त्र सत्त्व'।

शंकराचार्य की तरह स्पिनोज़ा भी व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच अन्तर स्वीकार करता था। प्राचीन भारतीय (वेदान्तिक) और ग्रीक दार्शनिकों की तरह स्पिनोज़ा का विचार था कि वास्तविक आनन्द मनुष्य की साधारण आकांक्षाओं जैसे—सम्पत्ति, सम्मान या तृष्णा तथा इन्द्रियों के आनन्द में नहीं है। उक्त भौतिक प्रसन्नताओं को स्पिनोज़ा अस्थिर, विनाशशील तथा प्रवंचनामय मानता था। इस प्रकार स्पिनोज़ा उपर्युक्त वस्तुओं की केवल क्षणिक सत्यता स्वीकार करता था।[2] इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी व्यावहारिक जगत् की केव लक्षणिक सत्यता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। स्पिनोज़ा ने भी व्यावहारिक जगत् के आकर्षणों में परम आनन्द न देखकर अपने ईश्वर में परम सत्य की स्थापना की थी। यही कारण था कि स्पिनोज़ा ईश्वर को परिपूर्ण, अद्वैत, आनन्द, सर्वव्यापक तथा सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा के रूप में देखता था। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा ईश्वर को अन्तर्यामी तो मानता था, परन्तु जैसा कहा जा चुका है, वह ईश्वर को वस्तुओं का अनित्य कारण नहीं मानता था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि स्पिनोज़ा की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधारा बहुत-कुछ अद्वैत वेदान्त के समान ही थी। दोनों विचार-दृष्टियों में समानता होते हुए भी एक विषमता यह थी कि अद्वैत वेदान्त-स्वीकृत ईश्वर और ब्रह्म का भेद स्पिनोज़ा को मान्य नहीं था। स्पिनोज़ा तो प्रकृतिगत एक ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता मानता था और उसे ही वह सर्वव्यापी स्वीकार करता था। हमारे अद्वैत वेदान्त में यह विचार 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के विचार के रूप में प्रकट हुआ था। एक और दृष्टि से अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा के विचार में साम्य था। अद्वैती शंकराचार्य और स्पिनोज़ा, दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियानुभूत नानारूपात्मक जगत् एक दिखावट है और एक सीमित ज्ञान का फल है। जैसे ही वास्तविक ज्ञान होता है, पूर्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।[3]

लाइब्निज़ (१६४६-१७१६ ई०) और अद्वैत वेदान्त

गोटफ्रीड विल्हेल्म लाइब्निज़ (Gott fried Wilhelm Leibniz) लिप्ज़िक (जर्मनी) का रहने वाला था। लाइब्निज़ का प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त आत्मकणवाद या शक्त्यणुवाद (Monadism) था। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् के भौतिक पदार्थ वास्तु-सत्य नहीं हैं। उसके अनुसार यह मन के अनुभव के दिखावे मात्र हैं। अतः लाइब्निज़ के मत में आत्मकण (Monads) ही एकमात्र वास्तु-सत्य हैं। यहां यह उल्लेख्य है कि जहां स्पिनोज़ा एक स्वतन्त्र

---

१. *Max Muller*: THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 123.

२. *Vasudeva J. Kirtikar*: STUDIES IN VEDANTA, p. 20. (Taraporevala, Bombay, 1924).

३. *N. Shastri*: A STUDY OF SANKAR, p. 96 (Calcutta, 1942).

और स्वतःसिद्ध तत्त्व (Substance) को स्वीकार करता था, वहाँ लाइब्निज उक्त तत्त्व को एक न मानकर अनन्त मानता था और उन्हें वह आत्मकण (Monads) कहता था।[1] लाइब्निज अनेकजीववादी था। उसके द्वारा स्वीकृत आत्मकण, जीवों के रूप भी थे।[2] जिस प्रकार जीवों में भेद मिलता है, उसी प्रकार आत्मकणों के विकास में भी भेद है। उनमें कुछ सुप्त से हैं, कुछ स्वप्नावस्था की चेतना-जैसे हैं और कुछ पूर्णतया जाग्रत चेतना-जैसे हैं।[3] ईश्वर को लाइब्निज सर्वोच्च आत्मकण मानता है। उसे वह सर्वोत्तम तथा परिपूर्ण मानता है। इस प्रकार ईश्वर की सम्भवता और सत्ता में लाइब्निज को तनिक भी सन्देह नहीं है।[4]

वैसे तो आत्मकणों की संख्या अनेक मानने के कारण लाइब्निज द्वैतवादी है परन्तु अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा[5] की इस विचारधारा में सादृश्य है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसीलिए, परमेश्वर कृष्ण ने भी अर्जुन को अपने परमेश्वर रूप के दर्शन कराने के लिए स्थूल नेत्रों की अयोग्यता देख दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।[6]

अद्वैत वेदान्त की 'माया' और लाइब्निज़ का 'मैटेरिया प्राइमा' (Materia Prima) का सिद्धान्त

'माया' सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया था। इस विषय में, अद्वैती की माया और लाइब्निज के मैटेरिया प्राइमा (Materia Prima) में समानता है कि माया और 'मैटेरिया प्राइमा' दोनों ही अनन्त परमेश्वर के आत्मसाक्षात्कार के बाधक हैं।[7] शांकर दर्शन के अनुसार जीव के आत्मस्वरूप के बोध होने में माया बाधक है। माया के ही कारण जीव की जीवता है, अन्यथा तो अपने वास्तविक स्वरूप में जीव ब्रह्म ही है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। परन्तु लाइब्निज की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। वह तो यही कहता है कि आत्मकण, 'मैटेरिया प्राइमा' के कारण ईश्वर नहीं हो पाता।[8] आत्मकण से मैटेरिया प्राइमा का सम्बन्ध

---

१. Thus in place of the one substance of Spinoza, Leibniz came to admit infinite number of substances which he called 'Monads'. (Dr. *Nikunja Behari Banarjee's* article on 'RATIONALISM', p. 216. Published in 'HISTORY OF PHILOSOPHY', Vol. II, edited by Dr. *Radhakrishnan*)

२. HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 216.

३. राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०३।

४. *Leibniz* : THE MONODOLOGY (Translated by Dr. Robert Latter, Oxford Clarendon, p. 275-276).

५. *Leibniz* : PRINCIPLES OF NATURE & GRACE, p. 422 (Translated by Dr. *Robert Latter*, Oxford Clarendon, 1892).

६. शां० भा०, गीता ११।८।

७. Maya & Materia Prima agree in this respect that both of them hinder the self realisation of the finite. (*A.K. Ray Chaudhuri*. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.)

८. He simply says that the Monad due to the Materia Prima fails to become God. (*A.K. Ray Chaudhuri* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 178.)

अमिट है तथा अनन्त है। इसीलिए एर्डमैन ने कहा है—

"From it, God himself has not the Power to free the monads."[१]

अर्थात् स्वयं ईश्वर में भी आत्मकणों को 'मैटीरिया प्राइमा' से मुक्त कराने की सामर्थ्य नहीं है। यहां लाइब्निज और अद्वैतवेदान्त का यह वैषम्य द्रष्टव्य है कि जहां लाइब्निज के दर्शन में मैटीरिया प्राइमा का आत्मकण से अनन्त सम्बन्ध माना गया है, वहां अद्वैत वेदान्त में ज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या अनादि होने पर भी सान्त है।[२]

लाइब्निज का यह कथन कि ईश्वर महान् आनन्द प्रदान करता[३] है, अद्वैत वेदान्त के बहुत समीप है, क्योंकि अद्वैतियों का ब्रह्म भी आनन्द-स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। लाइब्निज और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में एक बड़ा वैषम्य यह है कि लाइब्निज के मतानुसार परमानन्द कभी पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अनन्त होने के कारण पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।[४] इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में जीव अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मता को प्राप्त हो जाता है और ब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्य चित्सुख अविच्छिन्नानन्द-प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।[५]

अतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि अद्वैत वेदान्त और लाइब्निज के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कतिपय स्थलों पर वैषम्य भी मिलता है।

बर्कले (१६८५–१७५३ ई०) और अद्वैत वेदान्त

आयरलैण्ड के दार्शनिक जार्ज वर्कले का अध्यात्मवादी सिद्धान्त जड़देहवाद के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। दार्शनिक बर्कले ने यह सिद्ध किया था कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत विचारों की सत्ता केवल मस्तिष्क में विचार रूप से स्थित है।[६] इसीलिये इस दार्शनिक का विचार है कि जिस वस्तु की अनुभूति होती है उसी की सत्ता है।

वर्कले का विचार है कि ईश्वर ने ही वस्तुओं और उनके अवान्तर प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित किया है। अतः बर्कले की दृष्टि में ईश्वर, उसके द्वारा सृष्ट जीव एवं अनेक प्रत्यय ही सत्य हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की सत्यता वर्कले को स्वीकार नहीं है।

अद्वैत वेदान्त और वर्कले की विचारधारा की यदि तुलना की जाए तो दोनों में कई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बर्कले के अनुसार

---

१. *A.K. Ray Chaudhuri* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 178 से उद्धृत।

२. अनन्तकृष्णशास्त्री : अद्वैत तत्त्वसुधा, भूमिका (द्वितीयभागः प्रथम संपुटः) पृ० ४३, तारा मुद्रणालय, वाराणसी, १९६२।

३. *Leibniz* : PRINCIPLES OF NATURE AND GRACE, p. 422.

४. वही, पृ० ४२४।

५. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५२८।

६. Prof. *G.C. Chatterji's* article 'Empericism' (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 231).

विज्ञान के अतिरिक्त जगत् की वाह्य वस्तुओं की सत्यता नहीं है। यही बात अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी कही है। शंकराचार्य कहते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उस वस्तु की वाह्य सत्ता भी नहीं होती। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य ने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं—

> "यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्या-
> व्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति। किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।
>
> (प्रश्नोपनिषद्, शांकरभाष्य ६।२)

अर्थात् जैसा-जैसा जो पदार्थ जाना जाता है वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस पदार्थ का स्वरूप होता है। इसीलिए यह कथन कि अमुक वस्तु जानी नहीं गई, उचित नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य और बर्कले दोनों ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु यहां यह विचारणीय है कि शंकराचार्य ज्ञान की सत्यता स्वीकार करते हुए भी वाह्य जगत् को अभाव रूप या वन्ध्या-पुत्र के समान मिथ्या नहीं मानते।[1]

बर्कले और दृष्टि-सृष्टिवाद

बर्कले का उक्त मत वेदान्त के दृष्टि-सृष्टिवाद से भी बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के अनुसार दृष्टि ही विश्वसृष्टि है। इस प्रकार स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपंच की सृष्टि है। अतः दृष्टि-समकालिक अन्य प्रपंच की सृष्टि नहीं है। इस दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने भी किया है।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि प्रकाशानन्द ने कहा है—सकल जगत् की सत्ता आत्मा में ही है।[3] बर्कले भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाह्य जगत् की सत्यता को अस्वीकार करके, केवल ज्ञान जगत् की सत्यता को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार बर्कले और दृष्टिसृष्टिवादी, दोनों के ही अनुसार जगत् का आधार ज्ञान है।

काण्ट (१७२४—१८०४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने मानसिक शक्तियों की समीक्षा के लिये तीन ग्रन्थ लिखे थे:
(१) Critique of pure reason; (२) Critique of practical reason; (३) Critique of Judgment.

इन ग्रन्थों में काण्ट ने दो प्रकार की शक्तियां मानी हैं—एक इन्द्रियशक्ति और दूसरी बुद्धिशक्ति। इन्द्रियशक्ति भिन्न-भिन्न एवं असम्बद्ध संवेदनों की प्रस्तुतकर्त्री है और बुद्धि-शक्ति प्रस्तुत की गयी संवेदनशक्ति में विभिन्न सम्बन्धों की स्थापिका है। बुद्धिशक्ति का यही सम्बन्ध-स्थापन अनुभव का मूल है। काण्ट की दृष्टि से अनुभवों के दो भेद हो सकते हैं—अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा के बाहर रहने वाला वाह्य जगत् है और दूसरा तत्त्व बुद्धि है। इस प्रकार काण्ट ने प्रत्येक अनुभव में उक्त दोनों तत्त्वों का समन्वय करके अनुभववाद तथा

---

१. न खल्वभावो वाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते कस्मात्? उपलब्धे······नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासेत। —ब्र० सू०, शा० भा०, २।२।२८।

२. अप्पयदीक्षित: सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ३६२।

३. आत्मन्येव जगत् सर्वम्। —वे० सि० मु० २३ (कलकत्ता, १९३७)।

बुद्धिवाद का सामंजस्य स्पष्ट किया है।

काण्ट ने अनुभव-निरपेक्ष और अनुभव-सापेक्ष दो प्रकार की वस्तु-सत्ताएँ मानी हैं। देश और काल, द्रव्य गुण, कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना पहली श्रेणी में की जाती है। इन्द्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को प्रस्तुत किया जाता है उनकी सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। यही अनुभव-सापेक्ष स्थिति है। काण्ट के अनुसार, प्रज्ञा में शुद्ध वस्तु (Ding-an-sich-thing in itself) के प्रकट होने की शक्ति नहीं है; यही कारण है कि काण्ट की दृष्टि में शुद्ध वस्तु (Thing in itself) का बोध होना असम्भव है।[1] इसीलिए वह वस्तुसार (Nomena) को अज्ञेय मानता है। ईश्वर को काण्ट बुद्धि तथा अनुभव दोनों की पहुंच से बाहर स्वीकार करता है। वह ईश्वर की सत्ता श्रद्धा पर आधारित मानता है। इस लिए काण्ट की दृष्टि में सर्वोच्च तत्त्व (ईश्वर) एक विचारमात्र है। अत. काण्ट का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) की वास्तविक सत्यता की स्थापना केवल इस तत्त्व के आधार पर करना बहुत कठिन है कि वह (ईश्वर) एक तर्कसम्बन्धी आवश्यकता है।[2]

काण्ट और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। अद्वैती शंकराचार्य और काण्ट के दार्शनिक सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध विचारयोग्य है। काण्ट और शांकर वेदान्त दोनों ही के अनुसार ईश्वर जगत् का आधार है।[3] आत्मा के शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में भी काण्ट और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में सादृश्य है।[4] इस विषय में तो काण्ट और शंकराचार्य ही नहीं, बौद्धों का भी ऐकमत्य है कि ज्ञान की निर्विकल्प अवस्था (Indeterminate state) शुद्ध अनेकरूपता (Pure manifold) की अवस्था है।[5] सविकल्प ज्ञान के विषय जगत् के समस्त विकल्पों की सत्ता बाह्य है। शुद्ध अनेकरूपता ही आकार ग्रहण करके जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण बनती है।[6] जैसा कि डॉक्टर दास का कथन है, यहां तक तो काण्ट शंकर और बौद्धों में भी ऐकमत्य है,[7] परन्तु आगे चलकर इन दार्शनिकों की विचारधारा में मतभेद हो जाता है। काण्ट का विचार है कि इन्द्रिय-संवेदन की अनेकरूपता शुद्ध वस्तुओं (Things in themselves) की क्रिया से उत्पन्न होती है। काण्ट कहता है कि यह शुद्ध वस्तुएँ यद्यपि चैतन्य तत्त्व से भिन्न हैं, परन्तु सीमापारी होने

---

१. *H.J. Palen*: KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p. 64 (London, Allen & Unwin, 1951).

२. *Kant*: CRITIQUE OF PURE REASON, p. 364. Translated by J.M.D. Meiklejohn, London, G.Ball & Sons, 1930).

३. *E. Caird*: PHILOSOPHY OF KANT, p. 164 (Glasgow, James Maclepose, 1877).

४. *Ranade*: CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 269.

५. In the first instance we can class together the Budhists Sankara and Kant so far as they agree in holding the indeterminate state to be a pure manifold. — *Dr. S. K. Das* A STUDY OF VEDANTA, p. 146 (University of Calcutta, 1937).

६. *Dr. S.K.Das*: A STUDY OF VEDANTA, p. 146.

७. वही, पृ० १४६।

के कारण इनकी सत्यता में चैतन्य तत्त्व की अपेक्षा कोई न्यूनता नहीं है। इसके विपरीत शांकर विचारधारा के अनुसार जगत् की अनेकरूपता चैतन्य में उत्पन्न हुआ ही विकल्प है।[1] शांकर वेदान्त में इस विकल्प का कारण अध्यास अथवा माया है। परन्तु आचार्य शंकर की माया काण्ट की शुद्ध वस्तुओं की तरह सत्य नहीं है। शांकर वेदान्त की माया तो अचेतन तथा मिथ्या है। जैसा कि प्रो० पैटन का विचार है : व्यावहारिक जगत् जो कि ज्ञात है, और शुद्ध वस्तु-जगत् (World of things in themselves) जो कि अज्ञात है, के बीच भेद स्थापित करना काण्ट के दर्शन का मूल सिद्धान्त है।[2] प्रो० पैटन के उक्त कथन के अनुसार काण्ट ने दो प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं—एक व्यावहारिक सत्ता और दूसरी वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality)।[3]

प्रो० रानाडे ने काण्ट द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों सत्ताओं को शंकराचार्य की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं के समान ही कहा है।[4] यहां यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाये तो काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में भेद दिखाई पड़ता है। आचार्य शंकर ने जिसकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तथा अविद्या-निवृत्ति के द्वारा उसका बोध सम्भव है। यहां यह अवश्य उल्लेखनीय है कि ब्रह्मज्ञान स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है। परन्तु इससे यह अर्थ कदापि न लगाना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान होता ही नहीं है। यदि ऐसा हुआ होता तो वेदान्तसूत्रकार महर्षि बादरायण अपने प्रथम सूत्र— "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" में ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रश्न ही क्यों उठाते। इसके विपरीत, दार्शनिक काण्ट का वस्तुसार (Noumena) अज्ञात होने के कारण कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।[5] काण्ट के अनुसार वह केवल विश्वास का विषय है। अतः काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में उपर्युक्त भेद द्रष्टव्य है। मेरे विचार से काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता को अज्ञात एवं अप्राप्तव्य कहना काण्ट के दर्शन की दुर्बलता है। यही कारण है कि जर्मनी के विचारवादी दर्शन ने काण्ट की अज्ञात शुद्ध वस्तु (Unknown thing initself) की अवहेलना की थी। काण्ट के दर्शन की उपर्युक्त दुर्बलता के कारण ही इग्लैंड के नवीन काण्टवादियों ने काण्ट के दर्शन के उक्त दृष्टिकोण की उपेक्षा की थी।[6]

---

१. *Dr.S.K.Das* : A STUDY OF VEDANTA, p. 146.
२. *H.J. Patan* : KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol: I, p. 64.
३. *E.Caird* : THE PHILOSOPHY OF KANT, p. 403.
४. Sankara makes the great distinction between the Parmarthika and Vyavaharika views of reality as Kant makes the distinction between the Noumenal and the phenomenal (CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 215).
५. Consistently with his method he arrived at the absurd finding that the Noumenon, the supreme reality, the thing in itself is unknown and unknowable. —*N. Shastri*, A STUDY OF SANKARA, p. 50.
६. KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p. 65.

जैसा कि डाक्टर राधाकृष्णन् का विचार है : अद्वैती शंकराचार्य और कान्ट की परमार्थ सत्य सम्बन्धी विचारधारा में यह महान् अन्तर है कि जहां काण्ट शुद्ध वस्तुओं की अनेकता (Plurality of things in themselves) में विश्वास करता है वहां आचार्य शंकर केवल एक मूल सत्य (ब्रह्म) की घोषणा करते हैं।[1]

इस प्रकार विचार करने पर अद्वैत वेदान्त और काण्ट के दार्शनिक दृष्टिकोण में साम्य और भेद दोनों ही मिलते हैं। परन्तु दोनों में भेद होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य होगा कि काण्ट अद्वैत वेदान्त, विशेषतः शांकर वेदान्त से पूर्णतया प्रभावित है। इस प्रभाव का संकेत प्रो० टौमलिन ने भी किया है।[2]

फिक्ते (Fichte) (१७६५-१८१४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक फिक्ते ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों—काण्ट और स्पिनोज़ा के दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय किया था। फिक्ते जहां काण्ट की तरह नैतिक आदर्श को स्वीकार करता है, वहां स्पिनोज़ा के समान व्यवहार और परमार्थ की एकता को भी स्वीकार करता है। फिक्ते जगत् को मूल तत्त्व की प्रतिलिपि या अनुकरण मात्र मानता है। फिक्ते की दृष्टि में मूल तत्त्व आत्मा है और इस आत्मा में ही अनात्म की स्थिति है।[3] इस प्रकार आत्मा में फिक्ते विषय-विषयिभाव मानता है, क्योंकि फिक्ते के अनुसार आत्मा विषयी तथा अनात्म विषयरूप है।

ईश्वर, फिक्ते के विचार से अद्वितीय सत्ता है।[4] फिक्ते की दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की विचारदृष्टि से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फिक्ते के विचार से ईश्वर एक अद्वितीय सत्ता है। अतः फिक्ते के ईश्वर और अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म का प्रायः एक-सा ही रूप है। अद्वैती के विवर्तवाद के अनुसार अनात्म-जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार फिक्ते के दर्शन में भी विषय रूप अनात्म जगत् की स्थिति विषयी परमात्मा से पृथक् नहीं है। अतः दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

अद्वैत वेदान्तिक सिद्धान्त के अनुसार जीव की स्थिति सोपाधिक है; अपने मूल रूप में तो जीव ब्रह्म ही है। अद्वैत की इस प्रक्रिया के अनुरूप जब जीव को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसकी स्थिति ब्रह्म की ही स्थिति हो जाती है। फिक्ते की विचार-प्रक्रिया में भी, जैसे ही मनुष्य अपने मूल रूप को प्राप्त करता है तो वह केवल सर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में ही शेष रह जाता है। इस प्रकार वह जीव-कोटि से परमात्म कोटि में प्रवेश करता है।[5] अतः फिक्ते और अद्वैतवेदान्त की उक्त दार्शनिक दृष्टि बहुत कुछ समान ही है।

---

१. While Kant believes in a plurality of things in themselves, Sankara declares that there is only one fundamental reality. (*Dr. S. Radhakrishnan*, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 522.

२. The Great Philosophers (The Eastern World) p. 218, Skeffington, London, 1952.

३. Dr. *Rashbehari Das's* article on 'Fichte, Shelling & Hegel' (Published in HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 264.)

४. *Pfleiderer*: PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 291. (Williams and Norgate, 1887)

५. *Pfleiderer*: PHILOSOPHY OF RELIGION, p. 293.

फिक्ते और शांकर वेदान्त की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं का स्वरूप भी एक-सा ही है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् की सत्यता केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही है, परमार्थ-दृष्टि से तो जगत् मिथ्या है। जैसा कि कीर्तिकर महोदय ने लिखा है: फिक्ते के दर्शन में भी व्यावहारिक जगत् की अनेकरूपता व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से ही है, वास्तविक दृष्टि से तो यह जगत् कल्पना के दर्पण में पड़ा हुआ परमात्मा का अतात्त्विक प्रतिबिम्बमात्र है।[१] अतः फिक्ते के विचार से भी परमार्थ-दृष्टि से जगत् के मिथ्यात्व का ही आशय है।

फिक्ते का 'अंसटास'-सम्बन्धी सिद्धान्त और अद्वैत वेदान्त की 'माया'

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार माया उपाधि के कारण ही ब्रह्म का जीवत्व दिखाई पड़ता है; परन्तु यहाँ यह और समझना होगा कि जीवत्व ब्रह्म की परिवर्तित स्थिति नहीं है। अविद्या के कारण ही जीवत्व की अनुभूति होती है। परमार्थतः तो ब्रह्म अचल, तथा शाश्वत है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। फिक्ते का 'प्रतिनिवृत्ति' (Anstoss : The principle of Repulsion) का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अद्वैत वेदान्त की माया-जैसा ही है, यद्यपि इन दोनों में कुछ भेद अवश्य है। फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में एक विरोधी प्रतिनिवृत्ति की क्रिया होती है जिसके द्वारा आत्मा में सीमितता आती है। प्रो० रे चौधरी ने फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त (Principle of Anstoss) का प्रभाव स्पष्ट करते हुए लिखा है :

> "We thus See that through the Anstoss the absolute of Fichte finitises itself, limits itself and becomes other than what it is."[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिनिवृत्ति क्रिया (Anstoss) के द्वारा, फिक्ते द्वारा स्वीकृत परमात्मा मर्यादित एवं सीमित तथा परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार जैसे कि अद्वैत मत में ब्रह्म माया अथवा अविद्या के कारण सीमित दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जैसा कि अभी कहा जा चुका है फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमित एवं मर्यादित हो जाता है। इन दोनों सिद्धान्तों में उक्त दृष्टि से साम्य होते हुए कुछ मौलिक वैषम्य भी मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, माया के द्वारा ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। न वह सीमित होता है और न बढ़ता है। इसके विपरीत फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमितता को प्राप्त होता है। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक महान् भेद यह है कि फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार अचेतन परमात्मा चेतन हो जाता है, परन्तु माया के कारण ब्रह्म में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म तो स्वयं चित्-स्वरूप है।[३]

---

१. *Vasudeva J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p. 72.
२. *A.K. Ray Chaudhuri* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 176.
३. Again, due to this principle of Anstoss, the unconscious absolute of Fichte becomes conscious. But Maya has got nothing to do with Brahman in this respect.—*A.K. Ray Chaudhury* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 176.

ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और फिक्ते के दार्शनिक सिद्धान्तों में वैषम्य होते हुए भी पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है।

शेलिंग (Schelling) (१७७५-१८५४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

यद्यपि शेलिंग फिक्ते का शिष्य था, परन्तु फिक्ते से उसके विचार पूर्णतया नहीं मिलते थे। शेलिंग को फिक्ते का यह मत मान्य नहीं था कि कूटस्थ तत्त्व आत्मा ही अपनी अनिच्छा तथा अज्ञात दशा में अनात्म-जगत् को उत्पन्न करता है। फिक्ते के विपरीत, शेलिंग का परम तत्त्व (Absolute) आत्मा तथा अनात्मा से परे तथा स्वतन्त्र है। इस प्रकार शेलिंग द्वारा स्वीकृत परम तत्त्व अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान ही है। डा० रासविहारीदास की निम्नलिखित पंक्तियों में उक्त विचार की ही ध्वनि मिलती है :

> "The distinctionless identical absolute of Shelling easily reminds one of the non-dual Brahman of the Advaita Vedanta."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार शेलिंग द्वारा स्वीकृत भेदरहित तथा स्वतःसिद्ध परमतत्त्व सरलता से अद्वैत वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म का स्मरण दिला देता है।

प्रकृति को शेलिंग परमात्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है। शेलिंग एक समन्वयवादी दार्शनिक था। उसके दर्शन के परम तत्त्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत काण्ट के ज्ञाता और ज्ञेय, फिक्ते के आत्म तथा अनात्म और स्पिनोज़ा के विचार और विस्तार की समन्वयात्मक भूमि मिलती है।

जैसा कि रासविहारीदास के उपर्युक्त कथन से ध्वनित हुआ है, शेलिंग की दार्शनिक विचारधारा अद्वैत वेदान्त के बहुत-कुछ समान है। अद्वैत वेदान्त और शेलिंग का परम तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त तो समान ही है। अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। जैसा कि 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' से स्पष्ट है ब्रह्म-ज्ञान होने पर द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है। ठीक यही मत शेलिंग का भी है। शेलिंग के मत का उल्लेख करते हुए कीर्तिकर महोदय ने लिखा है :

> "To know the Absolute is, as Shelling says, to be the Absolute and all differentiations would necessarily venish with that knowledge."[2]

अर्थात् शेलिंग के मतानुसार, परमात्मा को जानना ही परमात्म-रूप हो जाना है। इस परमात्म ज्ञान के होने पर समस्त भेद निश्चित रूप से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद और शेलिंग की उक्त विचारधाराएँ बहुत मिलती-जुलती हैं। बाह्य जगत् के मिथ्यात्व और ब्रह्म की सत्यता सम्बन्धी धारणायें भी अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के दर्शन में समान ही मिलती हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट किया गया है। परम सत्य ब्रह्म की सत्ता जीव से अतिरिक्त नहीं है, अपितु जीव जीव न होकर मूलतः ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञाता और ज्ञेय भाव भी काल्पनिक ही है 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि'

---

१. *Dr. R V. Das's* Article on, Fichte, Shelling & Hegel, HISTORY OF PHILOSOPHY : Eastern & Western, Vol. II, Edited by *Dr. S. Radha-krishnan.*

२. *Vasudeva, J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p. 35.

आदि महावाक्यों के द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य शेलिंग की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मिलता है :

> "In all of us there dwells a sure marvellous power of freeing ourselves from the changes of time, of withdrawing to oursecret selves away from external things, and so discovering to ourselves the eternal in us in the form of unchangeability."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार हम सब में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जो हमें कालकृत परिवर्तनों से मुक्त करा सकती है, बाह्य जगत् की वस्तुओं से निवृत्ति की ओर ले जा सकती है और जो हमारे भीतर वर्तमान शाश्वत तत्त्व की खोज करा सकती है।

शेलिंग के उपर्युक्त कथन में स्पष्ट रूप से परम तत्त्व की शाश्वतता और जगत् के मिथ्यात्व की ओर संकेत किया गया है।

अद्वैत दर्शन की माया तथा शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' (Dark Ground) का सिद्धान्त

प्रो० रे चौधरी ने अद्वैतदर्शन की माया तथा शेलिंग के 'डार्क ग्राउण्ड' की तुलना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म न होकर ब्रह्म में रहने वाली कोई वस्तु है उसी प्रकार शेलिंग के अनुसार भी डार्क ग्राउण्ड' परमतत्त्व में रहने वाली कोई वस्तु है, न कि स्वयं परमतत्त्व।[2] जिस प्रकार शांकर वेदान्त का ब्रह्म मायाशक्ति से सम्बद्ध होने पर ईश्वर-रूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार शेलिंग का परमतत्त्व भी 'डार्क ग्राउण्ड' के सम्बन्ध से स्रष्टा या ईश्वर रूप को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त बद्ध जीव तथा ब्रह्म का विचार भी शांकर वेदान्त तथा शेलिंग के दर्शन में समान ही है।[3]

शांकर वेदान्त और शेलिंग की माया और 'डार्क ग्राउण्ड' सम्बन्धी विचारधाराओं में उपर्युक्त साम्य होने पर भी यह भेद द्रष्टव्य है कि शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' का सिद्धान्त परमात्मा के सम्बन्ध में आत्म-प्रकाशन (Self Revelation) का सिद्धान्त है और इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म शाश्वत रूप से स्वतःप्रकाशमान है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक प्रकार की समानताएँ होते हुए भी कई-एक वैषम्य के स्थल भी मिलते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् अविद्या-जन्य अध्यास है और ब्रह्म अधिष्ठान है; परन्तु शेलिंग के दर्शन में जगत् अध्यास न होकर परमात्मा के ही अनुग्रह का परिणाम है। अद्वैती शांकर और शेलिंग के दर्शन का यह वैषम्य भी

---

१. Shelling's Philosophycal Letters upon Dogmatism and Criticism—*Radhakrishnan* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 360. (F. N.) से उद्धृत।

२. The Dark Ground in the Absolute of Shelling is conceived by him as something in the Absolute (Not the Absolute itself) just as Maya is considered by Sankara as something in Brahman. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.

३. *A.K. RAY Chaudhuri* : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 177.

विचारणीय है कि जहाँ अद्वैती आचार्य शंकर केवलाद्वैतवादी होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, वहाँ शेलिंग परमात्मा तथा जगत् को भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है। इस प्रकार आचार्य शंकर की तरह जगत् की पारमार्थिक सत्यता का निषेध, दार्शनिक शेलिंग को स्वीकार नहीं है।[१] इस प्रकार जहाँ शंकराचार्य केवलाद्वैतवादी हैं वहाँ शेलिंग का प्रमुख सिद्धान्त अद्वैत-द्वैतवाद है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शेलिंग के सिद्धान्तों में साम्य के साथ वैषम्य होने पर भी यह कहना अनुचित न होगा कि शेलिंग का दर्शन भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्त से अत्यधिक सम्बन्धित एवं प्रभावित है।

हेगल (Hegel) (१७७०-१८३१) और अद्वैत वेदान्त

जर्मनी के दार्शनिकों में जैसे कि काण्ट प्रसिद्ध हैं, वैसे ही हेगल भी। हेगल का मत अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों, फिक्ते तथा शेलिंग, के विपरीत है। फिक्ते के मत में वस्तु आत्मा ही है। यही आत्मा अज्ञान शक्ति से प्रपंच की उत्पत्ति करता है और फिर स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक उद्योग से प्रपंच को स्ववशीभूत कर लेता है। इसके विपरीत शेलिंग की दृष्टि में वह वस्तुतत्त्व न आत्मा है और न अनात्मा, वरन् वह मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यवसान होता है। शेलिंग का यह निर्गुण तत्त्व सर्वोपरि है। हेगल का निरपेक्ष परम तत्त्व निष्क्रिय न होकर सक्रिय है। हेगल का यह परम तत्त्व मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व न होकर स्वतःक्रम से प्रकृति तथा आत्मा के रूप में परिणत होता है। अतः विद्वान् वेलेस के अनुसार हेगल के मत में जगत् की सत्ता परमात्मा के सत्यरूप का ही व्यक्तीकरण है।[२]

हेगल का दर्शन तर्कप्रधान है। उसका विचार है कि वास्तविक तत्त्व तर्कयुक्त है और तर्कयुक्त ही वास्तविक तत्त्व है (The real is rational and the rational is real)। इस प्रकार हेगल अनुभव-जगत् के बीच भी बुद्धि का राज्य स्वीकार करता है।

हेगल विश्व को ईश्वर-रूप ही देखता है। जगत् और ईश्वर के बीच भेद-व्यवस्था को हेगल काल्पनिक कहता है।[३] अतः हेगल के दर्शन में प्रपंच का मिथ्यात्व पाया जाता है।[४]

भारतीय अद्वैतवाद और जर्मन दार्शनिक हेगल के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना करते समय दोनों दर्शन-पद्धतियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने आत्मा को सत् तथा असत्‌रूप मानते हुए कहा है : 'सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्च'''तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतम् ।' (शां० भा०, माण्डूक्योपनिषद् १।७) अर्थात् यह आत्मा परमार्थ तथा अपरमार्थ (सत् तथा असत्) दोनों रूपों वाला है; उसका अपरमार्थ अर्थात् असत्-रूप अविद्याकृत है। शंकराचार्य के परमार्थ तथा अपरमार्थ के योग का उक्त भाव

हेगल की निम्नलिखित पंक्ति में स्पष्ट रूप से मिलता है। दार्शनिक हेगल लिखते हैं :

"True infinitude is the unity of the finite and infinite."[1]

अर्थात् असीम (परमात्व तत्त्व) ससीम तथा असीम की ही एकरूपता है। हेगल की तरह परमात्मा के सत् तथा असत् रूप होने की बात कृष्ण ने गीता में भी स्पष्ट रूप से कही है— 'सदसच्चाहमर्जुन'।[2]

अद्वैतवादी दार्शनिकों तथा हेगल की जीव की जगत् से निवृत्ति-सम्बन्धी विचारधारा भी प्रायः समान ही है। अद्वैती शंकर का कथन है कि द्वैत जगत् केवल मानसिक कल्पना-मात्र ही सिद्ध होता है।[3] इस स्थिति में जीव की द्वैत जगत् से निवृत्ति हो जाती है तथा वह ब्रह्मरूप हो जाता है। हेगलीय दर्शन में भी आत्मा का बाह्य जगत् से निवृत्त होना तथा परमात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त करना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[4]

जैसा प्रो० हाल्डेन कहते हैं, हेगल के मतानुसार जैसे-जैसे परमात्म तत्त्व की उपलब्धि होती है, भेददृष्टि समाप्त होती जाती है।[5] यही बात गौडपादाचार्य ने 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (मा० का० १।१८) की उक्ति के द्वारा स्पष्ट की है। शंकराचार्य ने भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। शंकराचार्य का कथन है कि परमार्थतत्त्व का ज्ञान होने पर द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है।

एक और दृष्टि से भी हेगल और अद्वैतवादी दृष्टिकोण में सामीप्य है। हेगल मानता है कि जगत् की समस्त वस्तुओं का पर्यवसान विचार या विज्ञान में होता है।[6] इस प्रकार ईश्वर को भी वह पूर्ण विचार-रूप ही मानता है। हेगल के अनुसार इस पूर्ण विचार की स्थिति में सब प्रकार की वास्तविकताएं नष्ट हो जाती हैं।[7] इस प्रकार हेगलीय दर्शन में विचार ही परमार्थ है।[8] अद्वैतवादी आचार्य गौडपाद और शंकर के मत के अनुसार भी परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होने पर ज्ञानी में सर्वत्र सर्वज्ञता का भाव जाग्रत हो जाता है।[9] इस प्रकार अद्वैत मत में भी परमार्थ-बोध की स्थिति विचार या विज्ञान की स्थिति है इसी प्रकार गीता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब ज्ञानी भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को एक आत्मा में ही स्थित देखता है तथा उस आत्मा में ही सारा विस्तार, उत्पत्ति तथा विकास देखता है, तब वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है।[10] इस प्रकार गीता द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानी की उक्त स्थिति भी विचार की ही स्थिति है।

---

१. HEGEL'S LECTURES ON THE PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 328.
२. गीता, ९।१९
३. शां० भा० मा० उ०, २।३२
४. STUDIES IN VEDANTA, p. 15. Haldane, PATHWAY TO REALITY, Vol: II, p. 109, (Gifford Lectures for 1902 3) Murray, 1903.
५. *Haldane* : PATHWAY TO REALITY, Vol: II, p. 221.
६. *A. Schweglar* : HISTORY OF PHILOSOPHY, p. ,432. (Oliver and Boyd Edinburgh, 14th edition).
७. *Haldane* : PATHWAY TO REALITY, Vol: II, p, 170.
८. सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतिहि महाधिपः मा० का० ४।८९ तथा शा० भा० (४।८९)
९. गीताभाष्य, १३।३०

भ्रम की सत्ता के सम्बन्ध में भी हेगल और अद्वैतवाद की विचारधारा में समानता मिलती है। दार्शनिक हेगल भ्रम को, परम सत्य के प्रकट करने के लिए आवश्यक मानता है। इसलिए उसने कहा है—

Otherness or error as cancelled is itself a necessary moment of truth.[1]

अर्थात् द्वैत या भ्रम की निवृत्ति का क्षण भी सत्य का एक आवश्यक क्षण होता है। हेगल की तरह ही अद्वैत दर्शन में भी भ्रम अथवा अविद्या के महत्व को स्वीकार करते हुए 'अध्यारोपापवाद' की कल्पना की गई है। अद्वैत सत्य की स्थापना द्वैत एवं अनात्म बुद्धि की निवृत्ति के बिना असम्भव है। इसलिए अद्वैतमत में पहले ब्रह्म में अविद्याजन्य अनात्म जगत् का आरोप किया गया है और फिर अविद्या निवृत्ति होने पर उस अविद्याजन्य आरोप का अपवाद किया गया है।[2] इस प्रकार अद्वैत मत में अनात्म का अपवाद होने पर परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। अतः यदि अविद्या अथवा भ्रम को न स्वीकार किया जाता तो अविद्याजन्य अनात्म जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध न होने के कारण अद्वैतसिद्धि न हो पाती। अतः हेगल और अद्वैत वेदान्त दोनों की विचार-धारा के अनुसार सत्य की स्थापना में भ्रम का योगदान स्वीकार किया गया है।

ऊपर किये गये विवेचन में भारतीय अद्वैतवाद तथा हेगलीय दर्शन में अनेक समानताएं मिलीं हैं, परन्तु इन समानताओं के साथ-साथ दोनों दर्शनसिद्धान्तों में कुछ विषमताएं भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए, अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जीव आत्मबोध होने पर ब्रह्म रूप हो जाता है परन्तु हेगल को यह मत स्वीकार नहीं है। इसके अतिरिक्त जहां हेगल एकता में अनेकता मानते हैं वहां अद्वैत दर्शन में अनेकता अविद्याजन्य होने के कारण मिथ्यारोप मात्र है। इसी प्रसंग में इन दोनों दर्शन पद्धतियों का यह वैषम्य भी उल्लेखनीय है कि हेगलीय दर्शन में जो परम तत्व सदसत् रूप है—वह अद्वैत दर्शन में शुद्ध सत् रूप है।[3]

इस प्रकार अद्वैत-दर्शन और हेगल-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कुछ विषमताएं भी मिलती हैं।

शोपेनहार (Schopenhauer) (१७८८-१८६० ई०) और अद्वैत वेदान्त

शोपनेहार का प्रमुख सिद्धान्त संकल्पवाद (Voluntarism) है। पूर्ववर्ती दार्शनिक हेगल की दृष्टि में चैतन्यसार था—बुद्धि और शोपेनहार की दृष्टि में चैतन्यसार था संकल्प। शोपेनहार के मतानुसार संकल्प शक्ति सर्वव्यापिनी है और अखिल सृष्टि का मूल है। शोपेनहार संकल्पों के अनेक रूप मानता है।

शोपेनहार एक निराशावादी दार्शनिक था। इस निराशावादिता के कारण ही उसके दर्शन में पलायनवादिता का समावेश हो गया था। कुछ आलोचकों ने उसके निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इस सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जायेगा।

---

१. HEGEL'S ENCYCLOPAEDIA, WORKS, Vol. VI, p. 15, quoted by Prof. Upton in Hibbert Lectures for 1893.
२. वेदान्तसार ५, ६।
३. *Vasudeva, J. Kirtikar* : STUDIES IN VEDANTA, p.69.

जहां तक शोपेनहार के दर्शन और अद्वैत वेदान्त के साम्य मूलक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, शोपेनहार ने अद्वैत वेदान्त ही नहीं भारतीय दर्शन के मूलाधार उपनिषदों की प्रशंसा बड़ी भावपूर्ण एवं यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ की है। उपनिषद् दर्शन की सराहना के सम्बन्ध में शोपेनहार की निम्नलिखित उक्ति जो उन्होंने अपने ग्रन्थ Welt als wille und Vorstellung के प्राक्कथन में कही है इतनी प्रसिद्ध है कि प्रायः जहां किसी लेखक के द्वारा शोपेनहार की चर्चा हुई है वहां इस निम्नलिखित उक्ति को या इसके कुछ अंश को अवश्य उद्धृत किया गया है। इस लेखक ने भी इस उक्ति का संकेत अद्वैत वेदान्त के महत्व के सम्बन्ध में आरम्भ में ही कर दिया है। यहां भी उसका उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। शोपेनहार ने लिखा है—

In the whole world there is no study, except that of the originals, so benefitial and so elevating as that of the Aupnikhat It has been the solace of my life and it will be the solace of my death.[२]

अर्थात् शोपेनहार का तात्पर्य है कि वेदों को छोड़कर संसार भर में उपनिषदों के समान लाभप्रद तथा उत्तम दर्शन और दूसरा नही है। निज पर पड़े प्रभाव की ओर निर्देश करते हुए शोपेनहार कहते हैं कि उपनिषद् मेरे जीवन में सांत्वना देते रहते हैं और मेरे मृत्यु के समय पर भी यह मुझे सांत्वना प्रदान करेंगे।

शोपेनहार के उक्त कथन के आधार पर यह निःसन्देह स्वीकार करना होगा कि उन पर भारतीय उपनिषद साहित्य या तत्प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस स्थल पर इस प्रभाव की दिशा देखने का प्रयास किया जायेगा।

शोपेनहार और उपनिषद्वर्ती संकल्पवाद (Voluntarism)

शोपेनहार ने जिस संकल्प-शक्ति या इच्छा-शक्ति के आधार पर संकल्पवाद की स्थापना की है उसका स्पष्ट रूप हमें छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है—

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पेप्रतिष्ठितानि······ संकल्पमुपास्स्वेति।[३] अर्थात् यह (मन आदि) संकल्प रूप लय स्थान वाले, संकल्पमय तथा संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार द्युलोक और पृथ्वी, वायु और आकाश जल और तेज भी संकल्प कृत हैं। इनके संकल्प के लिए वृष्टि समर्थ होती है अथवा यों कहिये कि उन द्युलोकों आदि के संकल्प से वृष्टि होती है। वृष्टि के सकल्प के लिए अन्न समर्थ होता है, अन्न के संकल्प के लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणों के संकल्प के लिए मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रों के संकल्प के

१. *MaxMuller*: THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 8.
Dr. Radhakrishnan: INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 633 (F.N.)
Dr. S. N. Das Gupta, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 40.
Dr. S.K. Maitra's article: Schopenhauer & Neitzsche (HISTORY OF PHILOSOPHY, p. 286.)

२. THE WORLD AS WILL AND & IDEA, Vol. I, pp. Xii-Xiii. (Translated by *Haldane & Kemp*).

३. छान्दोग्योपनिषद् ७।४।२।

लिए कर्म समर्थ होते हैं, कर्मों के संकल्प के लिए सब समर्थ होते हैं, इसी संकल्प की उपासना करो। संकल्प को ब्रह्म का रूप देते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जो इस संकल्प ब्रह्म की उपासना करता है वह भगवान् के रूप को प्राप्त करता है।[१]

छान्दोग्योपनिषद् के उक्त उद्धरण में संकल्पवाद की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा मिलती है। मेरे विचार से उपनिषदों के उपर्युक्त संकल्पवाद का प्रभाव शोपेनहार के संकल्पवाद[२] पर भी पड़ा है। परन्तु यहां यह और उल्लेखनीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त उद्धरण के आधार पर जहां संकल्पवाद (Voluntarism) की प्रतिष्ठा की गई है वहां ज्ञानवाद (Intellectualism) का प्रतिपादन भी किया गया है।[३]

भारतीय दर्शन के शोपेनहार के दर्शन पर उपर्युक्त प्रभाव के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने शोपेनहार के निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इन विद्वानों में डेविड[४] तथा रानाडे[५] प्रमुख हैं। रानाडे महोदय ने शोपेनहार के निराशावाद पर औपनिषद निराशावाद का प्रभाव खोजते हुए कठोपनिषद् का नीचे लिखा उद्धरण दिया है—

> अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्।
> अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदानति दीर्घे जीविते को रमेत। (क० उ० १।१।२८)

कठोपनिषद् की उपर्युक्त पंक्तियों में नचिकेता यमराज से कह रहा है कि हे यमराज आप ही बताइये भला आप जैसे अजर अमर महात्माओं का सम्पर्क प्राप्त करके भी मृत्युलोक का जरा-मरण शील ऐसा कौन मनुष्य होगा जो स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा। कठोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण से शोपेनहार के विचार की तुलना करते हुए रानाडे महोदय लिखते हैं—

> This is almost in the spirit of Schopenhauer who said that the last thing for man here below is not to have been born at all and the second last to have died young.[६]

रानाडे महोदय के कथनानुसार उपनिषत् की उपर्युक्त विचार दृष्टि शोपेनहार के इस कथन के लगभग समान ही है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छा तो यह होता कि वह इस पृथ्वी पर जन्म ही न लेता और फिर दूसरी कोटि की अच्छाई यह होती कि वह युवावस्था में ही मर गया होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि अभी उद्धृत किया जा चुका है प्रो० डेविड ने शोपेनहार पर हिन्दू विचारधारा का प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु हिन्दू विचारधारा से मेरे

---

१. छा० उ० ७।४।३।
२. THE WORLD AS WILL AND IDEA, (Book I), Ranade's CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, pp. 116, 117. से उद्धृत।
३. छा० उ० ७।५।१,२,३।
४. Another instance of the effect of Hindu thought upon the philosophe- (Schopenhauer) was his pessimism. *Dewett, H. Parker*: SELECrTION FROM SCHOPENHAUER. Introduction.
५. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 294.
६. वही।

विचार से उपनिषद्वर्ती विचारधारा का ही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि शोपेनहार पर, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है, उपनिषदों का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रो० डेविड तथा रानाडे के उक्त मतों की अयुक्तता के सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को कदापि निराशावाद का जनक नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में इस लोक में जीव के आत्मतत्त्ववेत्ता होने का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि उपनिषद् दर्शन निराशावादी दर्शन नहीं है। इस कथन के प्रमाण में हमें वृहदारण्यक उपनिषद् के उस उद्धरण की ओर दृष्टिपात करना चाहिये जिनमें कहा गया है कि आत्मज्ञानी शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा को आत्मा में ही देखता है तथा सब कुछ आत्म स्वरूप ही देखता है।[1] यही नहीं, उपनिषदों में जहां-जहां इस लोक में ही आत्म ज्ञान होने की बात कही है,[2] उससे यही सिद्ध होता है कि औपनिषद-दर्शन इस लोक में ही मनुष्य के साफल्य का द्योतक है। अतः शोपेनहार पर औपनिषद-दर्शन के निराशावाद का प्रभाव बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रो० रानाडे ने शोपेनहार के निराशावाद से तुलना करते हुए कठोपनिषद् के जिस अंश को उद्धृत किया है उसमें नचिकेता के द्वारा इस सासारिक सौन्दर्य तथा प्रेमजन्य सुख के जीवन को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले अमर जनों के जीवन की अपेक्षा हेय बतलाया गया है। ब्रह्मानन्द और सांसारिक सुख का भेद तथा अपेक्षाकृत उच्चावचभाव स्वाभाविक ही है। अतः कठोपनिषद् की ऊपर निर्दिष्ट की गयी पंक्तियों के आधार पर रानाडे महोदय का शोपेनहार के निराशावादी दर्शन से उपनिषद् दर्शन की साम्यमूलक तुलना करना उचित नहीं है। परिणामतः, यह लेखक डाक्टर एस० के० मैत्रा के इस कथन से पूर्णतया सहमत है कि शोपेनहार का निराशावाद उसके भारतीय दर्शन की विचार-धारा के अध्ययन का प्रभाव नहीं था।[3] अब जहां तक शोपेनहार द्वारा स्वयं उपनिषद् दर्शन का प्रभाव स्वीकार करने की बात है, निश्चय ही शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर उपनिषद् दर्शन का प्रभाव पड़ा है परन्तु यह प्रभाव शोपेनहार पर शान्त तथा चिन्ता पूर्ण जीवन के रूप में पड़ा था। अतः जैसा कि डॉक्टर मैत्रा का विचार है शोपेनहार का चिन्तन पूर्ण जीवन के प्रति तीव्र प्रेम भारतीय दर्शन के सम्पर्क का ही प्रभाव था।[4] इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि शोपेनहार के दर्शन पर उपनिषद् दर्शन के प्रभाव की दिशा निराशावाद की कदापि सूचक नहीं थी। सत्य तो यह है कि दार्शनिक शोपेनहार का यह दुर्भाग्य ही रहा कि वह भारतीय दर्शन के प्रभाव से प्रेरित अपनी हार्दिक अनुभूति को दार्शनिक रूप देने में असफल रहा। परन्तु किसी आलोचक विद्वान् को इस विषय में वैमत्य नहीं होना चाहिए कि शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर औपनिषद वेदान्त का पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

---

१. वृहदारण्यकोपनिषद्—४।४।२३ सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २, पृष्ठ १८०।
२. छान्दोग्योपनिषद्—४।१४।३, ७।२६।२।
३. Schopenhauer's Pessmism, therefore was not derived from his study of Indian thought. *Dr. S. K. Maitra's* Article Schopenhauer and Niethzsche (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 290).
४. HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, edited by *Dr. Radhakrishnan*, p. 290.

कुरान में परमात्मा के सर्वज्ञत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परमात्मा की दृष्टि से अपने को कोई नहीं बचा सकता।[1] कुरान में अभिव्यक्त परमात्मा के सर्वज्ञत्व का विचार वृहदारण्यकोपनिषद्[2] में वर्णित परमात्मा के 'लोकवित्' सर्ववित्' विशेषणों के अन्तर्गत पूर्ण रूप से मिलता है। उपनिषद् परवर्ती अद्वैत वेदान्त में तो परमात्मा के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन विशेष रूप से मिलता है। अद्वैत ब्रह्म की एक मात्र पारमार्थिक सत्यता को स्वीकार करते हुए अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को माया कहा गया है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त के बीज उपनिषदों में ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के हेतु जगत् की उपमा इन्द्रजाल से दी है।[3] इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक का सारा इन्द्रजाल मिथ्या है उसी प्रकार यह जगत् भी मिथ्या है। इसी प्रकार कुरान में भी एक स्थल पर कहा गया है कि जान लो कि यह सांसारिक जीवन एक खेल-तमाशा है, यह वाह्य आडम्बर है और तुम्हारे भीतर मिथ्या अहंकर को जन्म देने वाला है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अद्वैततत्व और माया सम्बन्धी सिद्धान्तों से इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की समानता देखने को मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त

ऊपर यह देखा जा चुका है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। पूर्ण परमात्मा को सृष्टि के उत्पन्न करने की क्यों आवश्यक़ता पड़ती है? इस प्रश्न के उत्तर में सूफी निम्नलिखित हदीस का प्रमाण देते हैं—

'कुन्तों कनज़न मखफीयन् फ़ाहब्बतो अन ओरिफो फखल कतुल 'खल्क'

अर्थात् इस परमेश्वर ने कहा कि मैं एक छिपा हुआ राजा था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की। अब वेदान्त को लीजिये। तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'उस परमेश्वर ने इच्छा की कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊं'— सोऽकामयत वहुस्यां प्रजायेयेति' (तै० उ० २।६) इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा का विचार वेदान्त और इस्लामी दर्शन में प्रायः समान ही है।[4]

जीवन का अविनाशित्व—

इस्लामी दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक गज़ाली (१०५९-११११ई०) जीव का लक्षण वतलाते हुए कहता है—

'व लैसल—वद्नो मिन् कवाये जातेका
फ इन्हदाम ले—वद्ने ला य अद्मो-का"[5]

अर्थात् शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है, इसलिए शरीर का नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक गजाली ने जीव को अविनाशी तथा शरीर को नश्वर

---

१. कुरान सूरा (८६:१६) (सूरा ५७:६,१०)।
२. वृ० उ० ३।७।१।
३ व्र० सू० शा० भा० २।१।६।
४. कुरान सूरा ५७:२०।
५. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१ से उद्धृत।

कुरान में परमात्मा के सर्वज्ञत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परमात्मा की दृष्टि से अपने को कोई नहीं बचा सकता।[१] कुरान में अभिव्यक्त परमात्मा के सर्वज्ञत्व का विचार बृहदारण्यकोपनिषद्[२] में वर्णित परमात्मा के 'लोकवित्' सर्वविन् विशेषणों के अन्तर्गत पूर्ण रूप से मिलता है। उपनिषद् परवर्ती अद्वैत वेदान्त में तो परमात्मा के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन विशेष रूप से मिलता है। अद्वैत ब्रह्म की एक मात्र पारमार्थिक सत्यता को स्वीकार करते हुए अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को माया कहा गया है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त के बीज उपनिषदों में ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के हेतु जगत् की उपमा इन्द्रजाल से दी है।[३] इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक का सारा इन्द्रजाल मिथ्या है उसी प्रकार यह जगत् भी मिथ्या है। इसी प्रकार कुरान में भी एक स्थल पर कहा गया है कि जान लो कि यह सांसारिक जीवन एक खेल-तमाशा है, यह बाह्य आडम्बर है और तुम्हारे भीतर मिथ्या अहंकर को जन्म देने वाला है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अद्वैततत्व और माया सम्बन्धी सिद्धान्तों से इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की समानता देखने को मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त

ऊपर यह देखा जा चुका है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। पूर्ण परमात्मा को सृष्टि के उत्पन्न करने की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूफी निम्नलिखित हदीस का प्रमाण देते हैं—

'कुन्तों कनजन मखफीयन् फ़ाहबवतो अन ओरिफो फखल कनुल 'खल्क'

अर्थात् इस परमेश्वर ने कहा कि मैं एक छिपा हुआ राजा था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की। अब वेदान्त को लीजिये। तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'उस परमेश्वर ने इच्छा की कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊं"— सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' (तै० उ० २।६) इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा का विचार वेदान्त और इस्लामी दर्शन में प्रायः समान ही है।[४]

जीवन का अविनाशित्व—

इस्लामी दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक गजाली (१०५९-११११ई०) जीव का लक्षण बतलाते हुए कहता है—

'व लैसन—बद्नो मिन् कवाये जातेका
फ इन्हदाम ले— बद्ने ला य अद्मो-का'[५]

अर्थात् शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है, इसलिए शरीर का नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक गजाली ने जीव को अविनाशी तथा शरीर को नश्वर

---

१. कुरान सूरा (८६:१३) (सूरा ५७:६,१०)।
२. बृ० उ० ३।७।१।
३ ब्र० सू० शा० भा० २।१।९।
४. कुरान सूरा ५७:२०।
५. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१ से उद्धृत।

बतलाया है। यह विचार हमें ठीक इसी रूप में उपनिषदों और गीता में मिलता है। उपर्युक्त भाव की व्यंजक निम्नलिखित पंक्ति कठोपनिषद् और गीता दोनों में ही प्राप्त है।

अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे
(कठ० उ० १।२।१८, गीता २।२०)

अर्थात् यह आत्मा नित्य, शाश्वत एवं सनातन है। शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

परम तत्वज्ञान के स्वरूप का विचार

गजाली का परवर्ती दार्शनिक इब्नरोश्द (११२६-११९८ ई०) परम विज्ञान की अवस्था का वर्णन करते हुए कहता है कि ईश्वर का ज्ञान, ज्ञान के ज्ञान का नाम है, क्योंकि उस अवस्था में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता में कोई भेद नहीं होता। जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है और इसके अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है।[1] अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परम ज्ञान का उक्त रूप 'ब्रह्मविद्' अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी' स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, इस वाक्य के द्वारा व्याख्यान हुआ है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत मुक्ति में भी जहां ब्रह्म की ही मुक्ति की अवस्था है,[2] ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेद व्यवस्था के लिए स्थान नहीं है। अतः ज्ञान की यह अद्वैत स्थिति वेदान्त और इस्लामी दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है।

जैसा कि पीछे यूनानी दर्शन की अद्वैत वेदान्त के साथ तुलना करते समय देखा जा चुका है, वेदान्तिक दृष्टि से अद्वैत तत्त्व तर्क द्वारा अप्राप्य है।[3] इस सम्बन्ध में इस्लामी दार्शनिकों ने भी उक्त विचार का ही आश्रय लिया है। अबुल हुसैन अल्नूरी का कथन है कि ईश्वर को तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे ईश्वर के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[4]

इसी प्रकार इस्लामी दार्शनिक खल्दून (१३३२-१४०६ ई०) का विचार है कि तर्क ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, वह केवल उस पथ को अंकित करता है, जिसे हमें मनन करते समय पकड़ना चाहिए था, वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुंचते हैं।[5] दोनों पद्धतियों में इस प्रकार के कथन स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया अवस्थायें

कठोपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, इन चार अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।[6] इस्लामी दर्शन में यह अवस्थायें चार मंजिलों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहली जाग्रत अवस्था को इस्लामी दर्शन में 'नासूत', स्वप्नावस्था को 'मलकूत', सुषुप्ति को 'जबरुत' और तुरीया को 'लाहूत' कहा गया है। तुरीयावस्था का 'सोऽहमस्मि' का अनुभव इस्लामी

१. माबाद-तबइयात्, पृष्ठ २५५।
२. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था ब्र० सू० शा० भा० ३।४।५२।
३. कठ० १।२।९।
४. "For it is not for reason to know God but through God." HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. p. 512.
५. राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ २५६।
६. कठ० उ० ९, १०, ११, १२।

दार्शनिक की चतुर्थ मंज़िल लाहूत का 'अनलहक़' का अनुभव है।[1]

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनेकों सिद्धान्तों में केवल नाम का ही भेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, वेदान्त का अद्वैत इस्लाम में 'तौहीद', वेदान्त का परम सत्य इस्लाम का 'मुनलक़', वेदान्त का 'सत्यस्य सत्यम्' इस्लाम में हक़ीकत-उल्-हक़ाहक़ और वेदान्त की 'ज्योतिषां-ज्योतिः' इस्लाम में 'नूर-अल् नूरिन्' के नाम से प्राप्त है। वेदान्त ने जिस जगत् को मिथ्या, एवं माया कहा है इस्लामी दर्शन में उसे 'मअलूम-इ-म-अदूम' और मौजूद-इमौहूम कहते हैं। जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को व्यक्ताव्यक्तसर्वव्यापी, एवं अन्तर्यामी कहा गया है उसी प्रकार इस्लामी दर्शन में ईश्वर को 'बातिन' और 'ज़ाहिर' तथा 'मुदीत' और 'सादी' बतलाया है।

ऊपर किये विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में बहुत कुछ साम्य होने के कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीन काल से चला आ रहा है। दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों की उपर्युक्त साम्यताओं के आधार पर यह मानना न्यायसंगत ही होगा कि इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। इसीलिए जैसा कि ब्राउन, मैक्सहार्टिल और गोल्डजीहर आदि पाश्चात्य विद्वानों का कहना है इस्लाम की विचारधारा के प्रमुख तत्त्व भारतवर्ष से लिये गये हैं।[2] अतः जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव देखना उचित ही है परन्तु यहां लेखक यह कहना कदापि न भूलेगा कि दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों में उपर्युक्त साम्य होते हुए भी, इस्लामी दर्शन के सिद्धान्त पूर्णतया वेदान्त के ही सिद्धान्त नहीं हैं।

अद्वैतवाद की सैद्धान्तिक विचारधारा का संक्षिप्त स्वरूप

यद्यपि, जैसा कि प्रो० मैक्समूलर भी मानते हैं प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत वेदान्त शब्द का प्रयोग न मिलने पर भी वेदान्तिक विचार दृष्टियों के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता,[3] परन्तु मेरे विचार से औपनिषद विचारों से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन करना कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है। अतः उपनिषदों में अनेकानेक अद्वैत परक अभिव्यक्तियां होते हुए भी केवल अद्वैतवाद का मण्डन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में प्राप्त अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय में विवेचन किया जायेगा। इस स्थल पर तो अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रस्थापक आचार्य शंकर सम्मत अद्वैतवाद का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करना ही उपयुक्त होगा। वैसे तो शांकर अद्वैतवाद का सांगोपांग विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार केवल एक अद्वैत तत्त्व की ही पारमार्थिक सत्यता स्वीकार

---

१. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 513.

२. But the fact remains and as Brown, Max Harten, Gold Ziher and others have testified, there are important climents in Western speculation which have been derived from India. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 502.

३. *MaxMuller* : INDIAN PHILOSOPHY; Vol. II, p. 3.

की गई है। इसीलिए अद्वैतवाद को केवलाद्वैतवाद भी कहते हैं। अद्वैती शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[१] (ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है) और 'ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते,'[२] (परमार्थ तत्व का ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता) आदि अनेक उक्तियों के द्वारा अद्वैतवाद सिद्धान्त की मूल विचारधारा की ओर संकेत किया है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही 'सत्' तत्व है। परन्तु इस सत् का एक पारिभाषिक अर्थ है। अद्वैती शंकर ने 'सत्' की परिभाषा बतलाते हुए कहा है—

'सत् किम्. कालत्रयेऽपि तिष्ठति इति सत्'[३]

अर्थात् सत क्या है ? जो तीनों कालों में स्थित रहता है, वह सत् है। ब्रह्म अद्वैत वेदान्त का यही सत् तत्व है। एक मात्र सत् तत्व ब्रह्म, ज्ञानस्वरूप, अनादि, अनन्त, सर्वोच्च तथा निर्गुण तत्व है। प्रो० फेरियर ने ब्रह्म को एक आवश्यक तत्व माना है।[४] जगत् का मूल कारण ब्रह्म ही है। यह ब्रह्मवाद अद्वैतवाद का एक पक्ष है।

अद्वैतवाद का दूसरा पक्ष मायावाद है। मायावाद सिद्धान्त के अभाव में अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक रूप निष्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि उपनिषदों में अनेक अद्वैतपरक उक्तियां मिलने पर भी वहां अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यों, 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[५] अर्थात् माया को, मायी परमात्मा की प्रकृति जानना चाहिए, के रूप में माया की चर्चा तो श्वेताश्वर उपनिषद् में मिलती है, परन्तु इस लेखक की दृष्टि में केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर मायावाद सिद्धान्त की निष्पत्ति उपनिषदों में नहीं देखी जा सकती।[६] प्रकृतविषयानुसार तो यही कहना है कि मायावाद के द्वारा ही अद्वैतवाद की पुष्टि सम्भव है। अद्वैत सिद्धि के सम्बन्ध में जब यह प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म सत्य है तो जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तो इस प्रश्न का समाधान माया के सिद्धान्त के द्वारा ही होता है। माया परमात्मा की अनादि शक्ति है और इस माया के ही कारण परमात्मा में जगत् का उपादानकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व है।[७] इस प्रकार जगत् की सत्ता मायिक है और माया मिथ्या है। परन्तु यहां यह स्मरणीय है कि माया शशशृंगवत् मिथ्या नहीं है। माया का मिथ्यात्व सदसद्विलक्षणत्व वाला मिथ्यात्व है। इसीलिये अद्वैती शंकराचार्य ने भी जगत् के व्यवहार को स्वीकार किया है।[८] परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत् होते हुए भी जगत् पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णतया मिथ्या है। अतः परमार्थ में केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है। अद्वैतवाद की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। इस विषय का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

---

१. विवेक चूडामणि-२०।
२. शां० भा० मा० उ० १।१८।
३. तत्वबोध—२७। भार्गव पुस्तकालय, संवत् १९९८।
४. *Ferrier* : INSTITUTIONS OF METAPHYSICS, p. 522.
५ श्वे० उ० ४।१०।
६. विशेष देखिये डा० राममूर्ति शर्मा, शंकराचार्य, पृष्ठ १०३-१०४।
७. तत्र ब्रह्म जगदुपादानकारणं निमित्त कारणञ्चेत्य द्वैतसिद्धान्तः, महामहो० अनन्तकृष्ण शास्त्री, अद्वैततत्वसुधा, द्वितीय भाग, प्रथम संपुट भूमिका। पृ० ८।
८. सत्यानृते मिथुनीकृत्यायंलोकव्यवहारः, ब्र० सू० शां० भा० उपोद्घात।

अद्वैतवाद और आचार दर्शन

आचार दर्शन पूर्णतया जीवन दर्शन है। साथ ही साथ वेदान्तिक आचार दर्शन को तो मैं मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् तथा पारलौकिक मूल्य की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु मानता हूं। 'आ' उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होने पर आचार शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ व्यवहार होता है। इस प्रकार आचार दर्शन को व्यवहार दर्शन भी कहा जा सकता है। इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स के अन्तर्गत भी आचार के पयार्यवाची अंग्रेजी शब्द इथिक्स का विषय मानवीय व्यवहार एवं चरित्र को ही माना है।[१]

उपनिषद्वर्ती आचार तत्व

उपनिषदों के अन्तर्गत भी हमें आचार सम्बन्धी तत्वों का पूर्ण विकास मिलता है। उपनिषद्वर्ती आचारवाद के सम्बन्ध में प्रो० डायसन का मत है कि उपनिषदों में व्यक्तिगत आचार सम्बन्धी मूल्यों का ही बाहुल्य है। डायसन महोदय का विचार है कि लोकोपयोगी नैतिक मूल्यों का उल्लेख उपनिषदों में पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट रूप में मिलता है।[२] मेरे विचार में डायसन महोदय का विचार औचित्य पूर्ण नहीं है। यहां हम उपनिषदों के कतिपय लोकोपयोगी आचारिक तत्वों का उल्लेख करेंगे।

छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत जीवन को सोमोत्सव के रूप में चित्रित किया गया है। इस स्थल पर यज्ञ के भोजन के सम्बन्ध में पांच प्रकार की दक्षिणा बतलाई गयी है। इस दक्षिणा के यह पांचरूप—तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य वचन हैं।[३] बृहदारण्यक उपनिषद् में जहां प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को केवल 'द' अक्षर के द्वारा क्रमशः दमन, दान एवं दया के उपदेश की बात बतलाई गयी है, वहां भारतीय आचार तत्त्व का निरूपण किया गया है।[४] महानारायणोपनिषद् में सत् कर्म का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि जिस प्रकार संपुष्पित वृक्ष की गन्ध दूर तक बहती है, उसी प्रकार सत् कर्म की गन्ध भी दूर तक जाती है।[५] इस उक्ति के अन्तर्गत लोकोपयोगी कर्म का स्पष्ट संकेतमिलता है।

इसके अतिरिक्त आचार दर्शन की पोषक आश्रम व्यवस्था का वर्णन भी उपनिषदों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य,[६] गृहस्थ,[७] वानप्रस्थ,[८] एवं संन्यास[९] आश्रमों का जो

---

१. Its subject matter is human conduct and character. E. R. E. Vol : V, p. 414.
२. *Deussen* : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 364, 365.
३. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।
४. तदेतदेवैषा दैवीवागनुवदति-स्तनयित्नुर्ददद इति दाम्यत, दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं, दानं, दयामिति। बृ० उ० ५।२
५. महानारायणोपनिषद् ८।२।
६. कौषीतकि ब्रह्मणोपनिषद् ४।१९ छा० उ० २।२३।१, ८।५।१, ८।५।२, ४।४।५, मुण्डक० १।२।१२।
७. तैत्तरीयोपनिषद् १।११।१, छा० उ० २।२३।१।
८. बृ० उ० २।४।१, ४।५।१,२।
९. संन्यासोपनिषद्।

विवेचन उपनिषदों में मिलता है उसमें मानव जीवन के क्रमिक आचारिक विकास की ही भावना निहित है। इस प्रकार उपनिषदों में लोकोपयोगी आचार सम्बन्धी तत्त्वों की कमी नहीं कही जा सकती।

शांकर अद्वैत और आचार दर्शन

अद्वैती शंकर के जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में अस्पष्ट धारणा रखने के कारण कतिपय आलोचक उनके दर्शन को जगत् से पलायित मानते हैं तथा यह आक्षेप करते हैं कि उसमें आचार का कोई महत्त्व नहीं है। यह निःसन्देह सत्य है कि शंकराचार्य एवं अन्य अद्वैती विद्वानों के दर्शन का चरम प्रतिपाद्य आत्मबोध अथवा ब्रह्मज्ञान या मोक्ष है।[1] साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि अद्वैती का ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञान रूप ही नहीं है वरन् वह आनन्दरूप भी है। पश्चिमी दार्शनिक स्पिनोज़ा भी अनन्त एवं असीम तत्त्व के प्रति किए गए प्रेम से उत्पन्न आनन्द को शुद्ध एवं दुःखलेश से रहित मानता है।[2] इस प्रकार यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि परम आनन्द की प्राप्ति ब्रह्म साक्षात्कार होने पर ही होती है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार आचार, आत्मबोध एवं ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होता है। अद्वैतवादी शंकराचार्य का कथन है कि यों तो आत्मा सदा सर्वत्र वर्तमान है परन्तु फिर भी सर्वत्र अवभासित नहीं होता। जिस प्रकार कि प्रतिबिम्ब स्वच्छ पदार्थों में ही पड़ सकता है, उसी प्रकार आत्मबोध भी निर्मल अन्तःकरण वाले जीवों को ही हो सकता है।[3] अन्तःकरण के इस नैर्मल्य का कारण ही आचार तत्त्व है। अतः परम्परया आचार को भी मोक्ष का साधन समझना उपयुक्त ही है। शंकराचार्य को मोक्ष के पारम्परिक साधनों के स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तपश्चर्या और व्रत ज्ञान के ही साधन हैं।[4]

अद्वैत दर्शन में आचार पक्ष के ही अन्तर्गत योग को भी आत्मज्ञान का कारण माना गया है। अद्वैत मत में योग प्रतिपादित यम और नियम को बहिरंग साधना तथा धर्म और ध्यान को अन्तरंग साधना का कारण बतलाया गया है।[5] इसके अतिरिक्त योग के शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधि को अद्वैत मत में ज्ञान का साधन स्वीकार किया गया है।[6]

अद्वैत दर्शन का कर्म सिद्धान्त तथा आचार पक्ष

ज्ञान तथा कर्म का विलक्षण प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त के आचार पक्ष का पूर्णतया

---

१. शांकर भाष्य—ब्र० सू० १।१।४।
२. But love towards an object eternal and infinite feeds the mind with a joy that is pure with nothing of sadness. DEINTELLECTUS EMENDETION, pp. 9 & 10.
३. यदासर्वगतोप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
   बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥ आत्मबोध १७।
   (ओरियन्टल बुक एजेन्सी पूना—१९५२)
४. बृ० उ० शा० भा० ४।४।२२।
५. डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ६१६।
६. ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।२७।

समर्थक है। वैसे तो, शांकर वेदान्त के अनुसार सीधे कर्म अथवा ज्ञानकर्म समुच्चय से मुक्ति लाभ करने के सिद्धान्त को न स्वीकार करके केवल ज्ञान के द्वारा मुक्ति स्वीकार की गई है।[१] परन्तु अद्वैतवादी शंकराचार्य ने कर्म का महत्व स्वीकार करते हुए अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत आचार पक्ष की रक्षा की है। आचार्य ने अपने वृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि कर्मों के द्वारा संस्कृत हुए विशुद्धात्मजन उपनिषत् प्रकाशित आत्मा को विना किसी प्रतिवन्ध के जानने में समर्थ होते है। इस प्रकार आचार्य शंकर का विचार है कि काम्य वर्जित नित्य कर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साधक हैं।[२] अतः नित्य कर्म परम्परया मोक्ष के साधक हैं। शंकराचार्यपरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्य मुधसूदन सरस्वती ने आचार एवं कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जब मनुष्य स्वाभाविक राग और द्वेप को जीतकर शुभवासना की प्रबलता से धर्मपरायण होता है तो वह देवकोटि को प्राप्त होता है और जब वह स्वभावसिद्ध राग द्वेप की प्रवलता से अधर्म परायण होता है तो वह असुरत्व को प्राप्त करना है।[३] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने भी धर्म परायणता एवं अधर्मपरायणता की व्यवस्था द्वारा कर्म के क्षेत्र में आचार का ही समर्थन किया है। इस प्रकार जो नित्य कर्म करता है उसका अन्तःकरण फलरागादि से कलुपित नहीं होता। नित्य कर्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं विशुद्ध तथा आनन्दरूप आत्मा के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। अतः यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिये कि अद्वैत दर्शन में आचार पक्ष के अन्तर्गत कर्म की महत्ता भी स्वीकार की गई है।

आश्रम व्यवस्था और आचार पक्ष

अद्वैत दर्शन जाति-पांति एवं वर्ग-वर्णगत संकीर्णताओं से दूर हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार किसी भी जाति का कोई भी पुरुप परम ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त कर सकता है। अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्मज्ञान के लिए आश्रम व्यवस्था भी अनिवार्य नहीं है। आश्रम रहित जीव भी ब्रह्म विद्म का अधिकारी है। इस सम्वन्ध में शंकराचार्य का निम्नलिखित मत उद्धृत किया जा सकता है—

अनाश्रमित्वेनवर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६) उक्त सिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए शंकराचार्य ने श्रुति समर्थित रैक्व और वाचकनवी के दृष्टान्त प्रस्तुत किए है।[४] अनाश्रमी होते हुए भी यह दोनों ही ब्रह्मवेत्ता थे।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त के अनुसार पुरुप मात्र जप, उपवास और देवता आराधन का अधिकारी होने के कारण ब्रह्म विद्या का अधिकारी कहा गया है।[५] इस प्रकार अद्वैत

---

१. ऐतरयोपनिषद्, शा० भा० उपोद्घात।
२. वृ० उ०, शा० भा० ४।४।२२।
३. स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूययदा शुभवासनाप्राबल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेपप्राबल्येन अधर्मपरायणोभवति तदा असुरः। गीता व्याख्यायां मधुसूदनः (बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृ० ४८७ से उद्धृत)
४. ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६।
५. पुरुपमात्र सम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३८।

द्वितीय अध्याय

अद्वैतवाद का अव्यवस्थित इतिहास

वैदिक अद्वैतवाद

अद्वैतवाद दर्शन के एकमात्र तत्व ब्रह्म के सत्, सर्वव्यापी, अनादि एवं अनन्त होने के कारण इस अनादि सृष्टि में, उसके रहस्यमय रूप की जिज्ञासा एवं तद्विषयक चिन्तन - मनन की प्रवृत्तियों का अनादिकाल से ही पाया जाना स्वभाविक है। यही कारण है कि अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक विकास अत्युत्तरकाल (शंकराचार्य काल) में होने पर भी, वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हमें अद्वैतवाद दर्शन की पृष्ठभूमि को बलवती बनाने वाली अभिव्यक्तियां मिलती हैं[1]। इस स्थल पर हम वैदिक साहित्य के अंग-संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों में अद्वैत दर्शन की पोषक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

संहिताएँ और अद्वैत वेदान्त

संहिताओं में दार्शनिक विचारों की उपलब्धि के सम्बन्ध में विचार करते हुए इम्पीरियल गजेटियर में कहा गया है कि इस काल में ही चिन्तकों द्वारा आत्मवाद का चिन्तन आरम्भ हो गया था[2]। इस सम्बन्ध में प्रो० कीथ ने कहा है— The earliest poetry of India already contains many traces of the essential character of the philosophy of India.[3]
अर्थात् भारत की प्राचीनतम कविता में भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप के चिह्न पहले से वर्तमान हैं।

प्रो० मैक्समूलर[4] तथा डायसन[5] ने भी वैदिक संहिताओं में भारतीय दर्शन के बीज निःसंकोच रूप से स्वीकार किए हैं। अब यहां यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि संहिताओं में भारतीय दर्शन की प्रमुख विचारधारा अद्वैतवाद के बीज किस सीमा तक उपलब्ध होते हैं।

---

१. तिलेपुतैलवद्वेदेवेदान्तः सुप्रतिष्ठतः। मु० उ० १। ६।
   वेदाः ब्रह्मात्म विषयाः। श्रीमद्भागवत ११। २१. ३५।
२. Imperial Gazetteer of India, Vol. : I, p. 404.
३. *Keith* : RELIGION AND PHILOSOPHY OF THE VEDA, p. 433. Harvard Oriental Series, Longman Vol : 32.
४. *MaxMuller* : THE SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol : II, p. 32.
५. *Deussen* : ALLGEMLIUE - GESEHICHTE DER PHILOSOPHIE, p. 83.

ऋग्वेद संहिता और अद्वैतवाद

देवतावाद और अद्वैतवाद—ऋग्वेद के अन्तर्गत प्राप्त देवताओं के वर्णन में अद्वैतवाद सिद्धांत की स्पष्ट पृष्ठभूमि दिखाई पड़ती है। मैक्समूलर द्वारा विचारित हेनोथीज़्म (Henotheism) की विचारधारा में भी अद्वैतवाद के अन्तर्गत प्रतिपादित परमात्मा सम्बन्धित सर्वशक्तिवाद की छाया मिलती है। हेनोथीज़्म की विचारधारा के सम्बन्ध में पाश्चात्य समालोचक विद्वानों में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया था। जर्मन विद्वान प्रो० वेबर भी हेनोथीज़्म के सम्बन्ध में भ्रांत हो गये थे।[१] कदाचित् हेनोथीज़्म के सम्बन्ध में होने वाली भ्रान्तियों की आशंका से ही मैक्समूलर ने हेनोथीज़्म की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

> .. to address either Indra or Agni or Varuna, as for the time being the only God in existing with an entire forgetfulness of all other gods, is quite another; and it was this phase, so fully developed in the hymns of the Veda, which I wished to mark definitely by a name of its own calling it Henotheism.[२]

मैक्समूलर की उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार अन्य देवताओं की सत्ता को पूर्णतया भूलकर इन्द्र अथवा अग्नि वरुण को अद्वितीय देवसत्ता के रूप में सम्बोधित करना 'हेनोथीज़्म' का विचार है। उक्त विचार के अनुसार जिस समय जिस देवता का वर्णन किया जाता है उस समय उसका स्वरूप सर्वोच्च होता है। परन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक देवता की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करते समय अन्य देवताओं का मूल्य न्यून हो जाता है[३]। वस्तुस्थिति तो यह है कि उस समय देवताओं के वर्णनकर्ता की दृष्टि में अन्य देवताओं की सत्ता का लोप-सा रहता है। अन्य देवताओं की सत्ता के लोप का कारण मेरी दृष्टि में यही प्रतीत होता है कि वर्णनकर्ता का मस्तिष्क स्वरुचि के अनुसार जिस देवता से प्रभावित होता था, वह उसी को सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान् मानकर वर्णन करता था। यही कारण है कि एक स्थान पर यदि इन्द्र को सर्वप्रधान एवं उत्कृष्टतम कहा गया है तो एक दूसरे स्थान पर वरुण देवता को अखिल भुवन का अधिपति कहा गया है[५]। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर वरुण देव की प्रधानता को द्योतित करते हुए उनकी प्रज्ञा को अहिंस्य कहा गया है[६]। इसी प्रकार अग्नि देवता को भी त्रिलोकी[७] का शिरोभूत कहा गया है। इस प्रकार के वर्णन, चाहे प्रो० मैक्डोनल के मत में अत्युक्ति पूर्ण ही क्यों न हों,[८] परन्तु इतना तो निःसंकोच कहा जा

---

१. *MaxMuller* : SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 39.
२. वही, पृ० ३९।
३. THE RIGVEDA by *Dr. Adolf Kaegi* p. 27.
४. ऋग्वेदसंहिता ५। ३०। ५।
५. वही० ५। ८५। ३।
६. ऋग्वेद ५। ८५। ६।
७. ऋग्वेद १०। ८८। ५।
८. *Macdonell* : Vedic Mythology, p.17.

सकता है कि उनमें अद्वैतवादी विचार की आरम्भिक पृष्ठभूमि निश्चित मिलती है। परन्तु यहां यह संकेत करना भी उपयुक्त होगा कि जहां देवताओं के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में अद्वैतिक विचार के बीज मिलते हैं, वहां देवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्वतन्त्र सत्ता के आधार पर बहुदेववाद का भी समर्थन होता है।[१]

प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा के वर्णन में अद्वैतवाद के बीज

ऋग्वेद में प्रजापति, विश्वकर्मा और त्वष्टा सर्वोच्च देवताओं के रूप में वर्णित हुए हैं। ऋग्वेद में प्रजापति को अद्वितीय अधीश्वर एवं अखिल जगत् का स्रष्टा कहा गया है।[२] इसी प्रकार विश्वकर्मा को भी जगत् का स्रष्टा तथा पालक एवं इन्द्रादि देवताओं का निर्माण करने वाला तथा उन्हें तत् तत् पदों पर स्थापित करने वाला कहा है।[३] ऋग्वेद में प्रजापति एवं विश्वकर्मा की ही तरह त्वष्टा को भी सर्वोच्च देवता का रूप दिया गया है। त्वष्टा के सम्बन्ध में कहा है कि वे द्यावा पृथिवी एवं संसार के समस्त प्राणियों के स्रष्टा हैं।[४]

उपर्युक्त देवताओं के सर्वोच्च एवं देवाधिदेवत्व के रूप में हमें अद्वैत वेदान्त के परात्पर एवं जगत् के स्रष्टा परमात्मा के स्वरूप के बीज रूप में दर्शन होते हैं।

भी अवस्थित है।[1] यह सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुष का चतुर्थांश मात्र है। इस विराट् पुरुष के अविनाशी तीन पाद तो दिव्यलोक में स्थित हैं। पुरुष के स्रष्टा रूप का वर्णन करते हुए पुरुष सूक्त में कहा है कि उस आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव मनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि बनाई और पुनः जीवों के शरीरों की रचना की[2] इस प्रकार पुरुष सूक्त के पुरुष को अद्वैत वेदान्त के उस ब्रह्म का पूर्वरूप कहना अनुचित न होगा जो सर्वत्र व्यापक तथा जगत् का कारण है।

नासदीय सूक्त और अद्वैतवेदान्त

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूक्त है। लोकमान्य तिलक ने तो इस सूक्त को मनुष्य जाति का सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन चिन्तन कहा है।[3] वस्तुतः नासदीय सूक्त ऋग्वेद काल के ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिन्तन का पूर्णतया परिचायक है। इस सूक्त का देवता भी परमात्मा है। इस सूक्त का ऋषि परमेष्ठी प्रजापति जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में न असत् था और न सत् न दिन था और न रात थी। पृथिवी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाश में विद्यमान सप्तभुवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहां था? किसका कहां स्थान था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था?[4] इस प्रकार जगत् की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय सभी अज्ञात और सभी जलमय था। तुच्छ वस्तु अज्ञान के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्व उत्पन्न हुआ।[5] इसके पश्चात् परमात्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई।[6] उपनिषद् में भी परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत करते हुए कहा है—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इति'[7] सृष्टि का आरम्भ बताते हुए नासदीय सूक्त में कहा है कि सर्व प्रथम परमात्मा से बीज की उत्पत्ति हुई और बुद्धिमानों ने बुद्धि द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति स्थान निरूपित किया।[8] इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में परमात्मा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि यह नाना सृष्टियां कहां से उत्पन्न हुईं, किसने सृष्टियां उत्पन्न कीं, किसने नहीं कीं - यह सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। वह सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सृष्टि को जानता है अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन की दृष्टि से नासदीय सूक्त में परमात्मा को अज्ञान से

---

१. ऋग्वेद १०।९०।३।
२. वही १०।९०।३,५।
३. ऋग्वेद संहिता १०।१२९ पर देखिये पाद टिप्पणी (गौरीनाथ झा द्वारा प्रकाशित, सुल्तान गंज, १९९२)।
४. ऋग्वेद १०।१२९।१।
५. ऋग्वेद संहिता १०।१२९।३।
६. कामस्तदग्रे समवर्तत।—ऋग्वेद संहिता १०।१२९।३।
७. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली, षष्ठ अनुवाक्।
८. ऋग्वेद १०।१२९।४।

प्राच्छन्न कहना, परमात्मा की सिसृक्षा का वर्णन करना, परमात्मा से बीजोत्पत्ति का निरूपण करना तथा परमात्मा की सर्वज्ञता की ओर निर्देश करना अद्वैत वेदान्त के परमेश्वर के रूप का ही अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत नासदीय सूक्त की प्राचीनतम टिप्पणी मिलती है।[1] इस टिप्पणी के अनुसार "आरम्भ में यह जगत् न सत् रूप था और न असत् रूप था। आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था। उस समय केवल मन मात्र की ही सत्ता थी। यही कारण था कि ऋषि ने यह कहा कि 'न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीम्' अर्थात् आरम्भ में न असत् था और न सत् था क्योंकि मन न सत् है और न असत् है। उस मन ने ही अनेक रूपों में प्रगट होकर अनेक रूप ग्रहण करके सृष्टि की इच्छा की। उसने अपने आपको खोजा, फिर तप किया और इस प्रकार फिर सृष्टि की उत्पत्ति हुई।"[2]

इस प्रकार शतपथब्राह्मण की उपर्युक्त टिप्पणी से यह पता चलता है कि सत् असत् तत्व की जो विवेचना उत्तर काल में आकर अद्वैत वेदान्त की मूलाधार बनी, उसका आरम्भिक रूप हमें नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायिक जगत् को सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। यह सिद्धान्त नासदीय सूक्त के अन्तर्गत 'नासदासीन्नो सदासत्तदानीं' मन्त्र में अन्तर्भूत है। नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रयुक्त असत् शब्द का अर्थ शशविषाणवत् असत् तथा सत् शब्द का अर्थ निर्वाच्य पदार्थ से है।[3] इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जो मूल तत्व था वह न शशविषाण वत् असत् था और न निर्वाच्य (व्यावहारिक) सत्। इसीलिए वह सत् तथा असत् से विलक्षण है।

प्रो० गफ़ ने नासदीय सूक्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के मायावाद सिद्धान्त के मूल रूप के दर्शन किये हैं।[4] प्रो० गफ़ के कथन का औचित्य इस तथ्य से प्रकाशित होता है कि जिस प्रकार नासदीय सूक्त में जगत् के मूल कारण को सत् तथा असत् से विलक्षण कहा गया है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्पादिका बीज शक्ति अविद्या को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। परन्तु यहां यह और विचारणीय है कि नासदीय सूक्त में मूल तत्त्व के जिस सत् रूप का निषेध किया गया है उससे निर्वाच्य एवं व्यावहारिक सत् का तात्पर्य है, परन्तु इसके विपरीत माया की सद्रूपता के निषेध से उसकी (माया की) पारमार्थिक सत्ता के निषेध का तात्पर्य है।

हंसवती ऋचा और अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त विचारधारा की दृष्टि से ऋग्वेद की हंसवती ऋचा (४।४०।५) अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस ऋचा के अन्तर्गत सर्व प्राणियों के चित्त में स्थित एव समस्त उपाधियों से रहित परमात्मा का वर्णन हंस रूप में किया गया है। यहां हंस शब्द का अर्थ आदित्य है। इस ऋचा

---

१. शतपथब्राह्मण १०।५।३।१।

२. *Dr. Muir*: SANSKRIT TEXTS, p. 358, Eggling's Translation of S. B. S. B. E. Vol. XLIII, p. 374, 375.

३. यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरुपाख्यं न आसीत् ।'' तथा नो सत् नैवसदात्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम् आसीत् ॥ सायणभाष्य ऋग्वेद १०।१२९।१।

४. गफ़ के मत के लिए देखिए—जे० कीतिकर—स्टडीज इन वेदान्त, पृ० ३८।

के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वाधिष्ठान ब्रह्म के रूप में करते हुए कहा गया है कि आदित्य दीप्त द्युलोक में स्थित रहते हैं। वे ही वायु रूप में अन्तरिक्ष में अवस्थित रहते हैं तथा होता (वैदिकाग्नि) के रूप में वे ही स्थूल पर गार्हपत्यादि रूप में स्थित रहते हैं एवं अतिथिवत् पूज्य होकर गृह (पाकादि साधन रूप से) अवस्थिति करते हैं। वे मनुष्यों के मध्य में चैतन्य रूप से स्थित रहते हैं। इस लेखक की दृष्टि से उक्त विचार आदित्य की परमात्म-रूपता का द्योतक है। इस ऋचा में आदित्य की परमात्मरूपता का वर्णन करते हुए कहा है कि वे वरणीय मण्डल, ऋत (सत्य, ब्रह्म या यज्ञ) तथा अन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वे (आदित्य) जल में उत्पन्न हुए हैं, रश्मियों में उत्पन्न हुए हैं, सत्य में उत्पन्न हुए हैं तथा पर्वतों में उत्पन्न हुए हैं। आदित्य के सर्वदृश्य एवं सत्य जात स्वरूप को सिद्ध करते हुए सायण का कथन है कि आदित्य इन्द्रादि की तरह परोक्ष नहीं होते।[१]

हंसवती ऋचा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में किया गया है। आदित्य के उक्त रूप का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत भी मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के मन्त्र में भी आदित्य का सूचक हंस शब्द ही है।[२]

इस प्रकार ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि अपने परिपक्व रूप में मिलती है।

सामवेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

जैसा कि प्रो० ग्रिफिथ ने कहा है सामवेद का महत्त्व पवित्रता एवं धार्मिकता की दृष्टि से ऋग्वेद से दूसरा है।[३] परमात्मा कृष्ण ने तो गीता में अपने आप को सामवेद ही कहा है—वेदनां सामवेदोऽस्मि (गीता १०।२२)। अतः परमात्मा रूप सामवेद में परम तत्त्व सम्बन्धी विचार सूत्र मिलना आश्चर्यास्पद नहीं है। सामवेद के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के परम तत्त्व ब्रह्म को सत्यरूप वाला कहा है।[४] ब्रह्म की एक मात्र सत्यता अद्वैत वेदान्त का तो प्राण ही है। इसके अतिरिक्त सामवेद के एक मन्त्र[५] में सृष्टि के आदिकारण के रूप में भी अद्वैत तत्त्व रूप परब्रह्म की चर्चा हुई है। यद्यपि उक्त मन्त्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख

---

१. देखिये, सायण भाष्य, ऋग्वेद ४।४०।५।

२. हंस : शुचिपदित्येप वै हंसःशुचिपत्॥ (ऐ० ब्रा० ४।२०)

३. The Samveda or Veda of holy songs, third in the usual order of enumeration of the three vedas, ranks next in sanctity and litergical importance to the R, gveda or veda of Recited praise.
R. T. H. Griffith : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, preface, (Lazaras & Co: Banaras) 1926.

४. सामवेद ६।३।४।१० (श्रीराम शर्मा आचार्य संपादित, गायत्री तपोभूमि, मथुरा १९६०)।

५. In all the worlds that was the best and highest whence sprang the mightyone, of splendid valour. *R. T. H. Griffith* : HYMNS OF THE SAMVEDA, 6/3/17.

नहीं है। परन्तु जैसा कि आचार्य सायण मानते हैं तत्[1] शब्द से यहां ब्रह्म का ही तात्पर्य है।[2] 'स्टीवेन्सन ने तत्' (that) शब्द से आदिम मूल तत्त्व का अर्थ ग्रहण किया है।[3] मेरे विचार से यहां तत शब्द का अर्थ सृष्टि का आदि कारणरूप मूल तत्त्व ही प्रतीत होता है। इसी मूल तत्त्व की परवर्ती वेदान्त दर्शन में ब्रह्म रूप से विस्तृत व्याख्या हुई है। सामवेद संहिता में एक स्थल[4] पर ब्रह्मज्ञान का संकेत भी मिलता है। इस स्थल पर स्कालिअस्ट (Scholiast) के अनुसार 'Great delight' का अर्थ ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है।[5] मेरी विचार दृष्टि से 'Great delight' का अर्थ ब्रह्मानन्द ही है।

उपर्युक्त संकेतों के आधार पर यह सन्देहास्पद नहीं रह जाता कि सामवेद के अन्तर्गत भी अद्वैत वेदान्त के पुष्ट एवं प्रामाणिक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित विचार रेखायें मिलती हैं। यहां कतिपय स्थलों की ओर ही संकेत किया जायेगा।

यजुर्वेद के ३२वें काण्ड के प्रथम से पंचम मन्त्र तक के स्थल में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र ब्रह्म आप और प्रजापति आदि नामों से अभिहित होता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर, नीचे, तिरछे और मध्य से नहीं ग्रहण किया जा सकता। उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, क्योंकि वह महान् यश वाला है। इसीलिए अनेक वेद मन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। परमात्मा के सर्वव्यापकत्व एवं अधिष्ठातृत्व को सिद्ध करते हुए इसी स्थल पर कहा है कि वही देव सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है और वही सब के अन्दर पहिले से स्थित है।[6] इसके अतिरिक्त बीसवें काण्ड के ३२वें मन्त्र में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान स्वीकार किया गया है।[7] अद्वैत वेदान्त के मत के अनुसार भी ब्रह्म समस्त जगत् का अधिष्ठान ही है। एक और

मन्त्र में परमात्मा को समस्त लोक लोकान्तरों का वेत्ता कहा गया है।[1] ४०वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के अन्तर्गत 'ईशावास्यमिदं सर्वं' द्वारा भी अद्वैत सत्ता का ही बोध होता है। यजुर्वेद के अन्तर्गत उपलब्ध प्रसिद्ध विराट् पुरुष का वर्णन[2] भी अद्वैत मत का ही समर्थक है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्म रूप होने की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि जो द्यावा पृथिवी को ब्रह्म जानकर और लोकों को भी ब्रह्म मानते हुए तथा दिशाओं और स्वर्गादि की परिक्रमा कर, यज्ञ कर्म को अनुष्ठान आदि से सम्पन्न कर ब्रह्म को देखता है, वह अज्ञान से छूटते ही ब्रह्म रूप हो जाता है।[3]

यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है।[4] परन्तु यह विचारणीय है कि इस शब्द का प्रयोग वहां सर्वत्र परमात्मा या अद्वैत तत्त्व के लिए ही नहीं मिलता। ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में कहीं परमात्मा,[5] कहीं ब्रह्मा,[6] कहीं ब्राह्मण[7] और कहीं प्रजापति[8] के लिए किया गया है।

अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिपादक माया का उल्लेख भी यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है। यजुर्वेद के ११वें अध्याय के ६९वें मन्त्र में आसुरी माया का वर्णन किया गया है। वहां माया की अचिन्त्यरूपता तथा विचित्रता भी प्रतीत होती है। यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्रायः प्रज्ञा के लिए ही किया गया है।[9]

इस प्रकार यजुर्वेद संहिता में हमें अद्वैतवाद से सम्बन्धित पर्याप्त विकीर्ण सामग्री मिलती है।

अथर्ववेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद संहिताओं की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का कहीं अधिक स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद संहिता में उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में यहां कतिपय स्थलों का विवेचन किया जायेगा।

वेदान्त सूत्र के अन्तर्गत बादरायण ने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'[10] सूत्र के द्वारा कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की अनन्यता स्वीकार करते हुए अद्वैतवाद के समर्थक विवर्तवाद सिद्धान्त की पुष्टि की है। अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत भी हमें परमात्मा के इस अनन्यत्व एवं

---

१. यजुर्वेद ३२।१०।
२. वही, ३१।५।
३. वही, ३२।१२
४. यजुर्वेद संहिता २३।४८,२३।६२ ११।८१, २२।२२ ३२।११, ३२।१६, ३२।१२, ३१।१।
५. यजुर्वेद २३।४८, २२।२२, ३२।११ ३२।१२।
६. वही, २३।६२,।
७. वही, ११।८१, ३२।१६,।
८. वही, ३२।१।
९. वही, १३।४४, ३०।७।
१०. ब्र० सू० २।१।१४।

अधिष्ठान रूप के दर्शन होते हैं। अथर्ववेद संहिता में कहा गया है कि गुहारूप सब प्राणियों के हृदय में सत्य, ज्ञानादि लक्षण वाला परब्रह्म विद्यमान है, जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार हो जाता है, क्योंकि आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अलग नहीं होती।[1] ऐसे ब्रह्म को वेन-सूर्य ने देखा। इस प्रकार नाम रूपवाले प्रपंचमय भौतिक जगत् को ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, सर्व शक्ति सम्पन्न होने से पृश्नि (सूर्य या आकाश)[2] ने प्रकट नाम और रूप वाला कहा है।[3] अथर्ववेद में एक स्थल पर ब्रह्म को उपदेश योग्य सिद्ध करते हुए कहा है कि निरुपाधिक ब्रह्म के तीन पद गुहा में निहित हैं। इससे यहां पर तात्पर्य है कि गुहा में स्थित पदार्थ के समान अज्ञात एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म केवल उपदेश द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।[4] आगे चलकर अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक सदानन्द ने भी अध्यारोप एवं अपवाद न्याय के द्वारा ब्रह्म विद्या के उपदेश की बात बतलाई है।[5]

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में एक स्थान पर माया शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का वर्णन है। इस स्थान पर कहा गया है कि परब्रह्म अपनी माया शक्ति से आदित्य (वेन) का रूप ग्रहण करके अपने तेज से भूतभौतिकात्मक प्रपंच रूप जगत् को व्याप्त किये रहता है।[6] एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्म की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वह (ब्रह्म) ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर एवं परम तत्व का स्वरूप है।[7] परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परब्रह्म के उक्त स्वरूप का चित्रण विस्तार से किया है।

अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार परब्रह्म का बोध अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को अपने में ही होता है। उक्त विचार की मूल पृष्ठभूमि हमें अथर्ववेद संहिता में उस स्थल पर मिलती है जहां विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कश्यप ऋषि यह कहते हैं कि अप्राणा विराट् प्राणन करने वाली प्रजाओं के प्राणरूप में आता है, और विराट् स्वराट् रूप को प्राप्त हो जाता है। सर्वस्पर्शी विराट् के दर्शन पुरुष माया से अमोहित होने पर ही कर सकते हैं, मोहित होने पर कदापि नहीं।[8] अद्वैत वेदान्त सम्मत जगत् की उपादान कारणता के स्पष्ट बीज भी हमें अथर्ववेद में उस स्थल पर उपलब्ध होते हैं जहां ब्रह्म की स्तुति की गई है। इस स्थल पर कहा गया है कि ब्रह्म होता है और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म के द्वारा ही सप्त स्वरों एवं उदात्तादि की यज्ञानुप्रवेष्टता अर्थात् उद्गातृत्व आदि हैं। इस स्थल पर ब्रह्म के होता आदि कहने से ब्रह्म का जागतिक पदार्थों से अपार्थक्य एवं उपादान कारणत्व सिद्ध होता है।[9]

---

१. यत्र यस्मिन् अधिष्ठान रूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितम् कृत्स्नं जगत एकरूपं एकाकारं भवति, आरोपितस्य अधिष्ठान व्यतिरेकेण सत्वाभावात ।। सायणभाष्य—अ० वे० सं० २।१।१।१।

२. दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत (सायणभाष्य—अ० वे० सं० २।१।१।१)।

३. अथर्ववेद संहिता—२।१।१।१।

४. देखिये अथर्ववेद संहिता २।१।१।१ पर सायण भाष्य।

५. वेदान्त सार ५।६।

६. सायणभाष्य अथर्ववेद संहिता ४।१।१।

७. सायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ७।१।१।१।

८. सायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ८।५।६।६।

९. अथर्ववेद संहिता १९।५।४२।१।

इस प्रकार अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत हमें अद्वैत वेदान्त का पर्याप्त विकसित पृष्ठाधार मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्व है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ज्ञान एवं कर्मकाण्ड सम्बन्धी अनेक विवेचन मिलते हैं। ब्राह्मणों में अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित अनेक विचार संकेत मिलते हैं।

ऋग्वेद में ब्रह्म का दार्शनिक अर्थ में स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत ब्रह्म का स्पष्ट विवेचन करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में यह जगत् ब्रह्म रूप ही था।[१] इसी ने पहिले देवताओं की सृष्टि की और फिर उन्हें भिन्न-भिन्न लोकों का स्वामित्व प्रदान किया, जैसे अग्नि को इस मर्त्य लोक का, वायु को वायुलोक का और सूर्य को आकाश लोक का। तत्पश्चात् ब्रह्म परार्थ अथवा सत्यलोक को चला गया।[२] फिर उसने इस पर विचार किया कि वह किस प्रकार इस जगत् में अवतरित हो सकता है। उक्त विचार के बाद वह नाम और रूप के द्वारा इस जगत् में अवतरित हुआ। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि नाम और रूप ब्रह्म की महती शक्तियां हैं। जो इन नाम और रूप शक्तियों को जान लेता है वह स्वयं महती शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।[३] एक दूसरे स्थान पर ब्रह्म का पूर्ण सत्ता के रूप में उल्लेख किया गया है तथा उसका सम्बन्ध प्रजापति, पुरुष एवं प्राण (वायु) से दिखाया गया है।[४] इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण को स्वयम्भू भी कहा गया है।[५] शतपथ में ही सृष्टि के आरम्भिक रूप के सम्बन्ध में भी एक सूक्ष्म दृष्टि देते हुए कहा है कि आरम्भ में न सत् था और न असत्। उस समय केवल मन (mind) मात्र ही था। मन ही ने अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा की।[६] इसी सिद्धान्त बिन्दु का सविस्तार विकास हमें अद्वैत वेदान्त के 'सो कामयत बहुस्यां प्रजायेय'[७] सिद्धान्त के अन्तर्गत मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ईश्वर शब्द का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु वहां इस शब्द का अर्थ परमेश्वर न होकर सामर्थ्यवान् है।[८]

शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त स्थलों में अद्वैत वेदान्त की विचारधारा का स्पष्ट आधार कहा जा सकता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत ईश्वर शब्द का प्रयोग तो हुआ है परन्तु वह परमात्मा के

---

१. श० ब्रा० ११।२।३।१
२. श० ब्रा० ११।२।३।१ पर देखिए हरिस्वामी की टीका।
३. देखिए *Eggeling's* translation of SATHPATH BRAHMAN, S.B.E. Vol. XLIV, pp. 27. 28.
४. S B. E. Vol. XLIII, pp. 59, 60, 400 & Vol. XLIV, p. 409.
५. S. B. E. Vol. XLIV. pp. 417 - 18.
६. शतपथ ब्राह्मण १०।५।३।१।
७. तै० उ० ब्रह्मवल्ली ६।
८. श० ब्रा० १३।२।६।६, १३।१।२।४, १३।३।४।

अर्थ में नहीं।[१] ऐतरेय ब्राह्मण में ही बृहस्पति का ब्रह्म रूप से भी वर्णन मिलता है।[२] इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट् रूप से भी वर्णन किया गया है।[३]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋग्वेद के[४] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि किस काष्ठ और किस वृक्ष से स्वर्ग एवं भूलोक की सृष्टि हुई, कहा गया है कि ब्रह्म रूप काष्ठ एवं ब्रह्म रूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण किया गया है।[५] उक्त कथन से ब्रह्म की जगत् कारणता का तथ्य प्रकट होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही ब्रह्म ज्ञानी के अर्थ में ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है।[६] उक्त अर्थ में ही एक स्थान पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्रह्मविद् शब्द का प्रयोग भी किया है।[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही ब्रह्म को शुद्धि का साधन भी कहा है।[८] पंचविंश ब्राह्मण के अन्तर्गत भी ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है[९] षड्विंश ब्राह्मण में प्रजापति का वर्णन किया गया है जो अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना करते हैं।[१०] सामवेद के दैवत ब्राह्मण में सकल साम मन्त्रों की सृष्टि ब्रह्म से ही स्वीकार की गई है तथा भिन्न-भिन्न देवताओं के व्याज से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।[११]

ब्राह्मण ग्रन्थों के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपर्युक्त संकेतों से अद्वैत वेदान्त के मूल इतिहास का परिचय मिलता है। संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणों का वेदान्त कुछ अधिक स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक है।

आरण्यक ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आरण्यक ग्रन्थों में भी ब्रह्म विद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में परम पुरुष को ही महान् प्रजापति का रूप दिया गया है—'अयमेव महान् प्रजापतिः' (ऐ० आ० २।१।२)। आत्मा के विभुत्व को सिद्ध करते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि आकाश और पृथिवी आत्मा का ही रूप हैं।[१२] ऐतरेय आरण्यक में ही कहा है कि सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही जगत् का कारण है और वह मृत्पाषाणादि, औषध्यादि

---

१. ईश्वरः पर्जन्योवर्ष्टो :(ऐ० ब्रा० ३।१८) ईश्वरोहानृणाकर्तोः (ऐ० ब्रा० १।१४) (डॉ० मंगलदेव शास्त्री के 'हिस्ट्री आफ दि वर्ड ईश्वर' नामक लेख से उद्धृत। यह लेख सातवीं आल इन्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स बड़ौदा की रिपोर्ट के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।)
२. ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१३।
३. वही, (प्रथम भाग पृ० २८) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ माला बनारस।
४. ऋग्वेद १०।३१।४।
५. ब्रह्म वनं ब्रह्म सवृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० २।८।६।६।
६. ब्रह्मवादिनोवदन्ति, तै० ब्रा० १।३।१०।६।
७. तै० ब्रा० १।४।८।६।
८. वही, १।४।८।२।
९. पंचविंश ब्राह्मण ४।३।३, ६।४।१५।
१०. षड्विंश ब्राह्मण २।१।१।
११. दैवत ब्राह्मण २।२१ तथा देखिए इसी पर सायण भाष्य।
१२. यावती वै द्यावा पृथिवी तावानात्मा ऐ० आ० १।३।८।

एवं प्राणधारियों में क्रम से अपने को प्रकट करता है।[१] सृष्टि की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए ऐतरेयारण्यक में कहा है कि आरम्भ में केवल आत्मा की सत्ता थी। उसने ही लोकों की सृष्टि की इच्छा की और फिर लोकों की सृष्टि की।[२] ऐतरेयारण्यक में ब्रह्म को प्रज्ञान स्वरूप कहा है।[३] ऐतरेयारण्यक में ही एक स्थान पर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि शार्कराक्ष्य (शर्कराक्ष नामक महर्षि के पुत्र) 'उदर ब्रह्म हैं', यह मानकर उपासना करते हैं और अरुण नामक महर्षि के पुत्र 'हृदय ब्रह्म हैं' ऐसा मानकर उपासना करते हैं।[४] इसके अतिरिक्त पुरुषार्थोपलब्धि के सम्बन्ध में कर्म और ज्ञान का समन्वय सिद्ध करते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है—एष पन्थाः—एतत्कर्मैतद् ब्रह्म. (ऐ० आ० २।१।१) अर्थात् यह कर्म और ब्रह्म दोनों ही पुरुषार्थ के साधन हैं। यहां सायण ने कर्म शब्द से विषय के ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का तात्पर्य ग्रहण किया है और ब्रह्मशब्द से विषय के ज्ञान मात्र का।[५]

इस प्रकार ऐतरेयारण्यक में अद्वैत वेदान्त की विचार दृष्टि के सम्बन्ध में अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक में प्रजापति के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने पहले अपने आपसे जगत् को उत्पन्न किया और फिर वे उस जगत् में प्रवेश कर गये।[६] इस प्रकार समग्र जगत् प्रजापति का ही रूप है। यहां प्रजापति का वर्णन परमात्मा के रूप में किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में परब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि वह परब्रह्म ही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, जल, और प्रजापति हैं।[७] इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में एक और स्थल पर भी कहा है कि वह ब्रह्म ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर और परम तत्त्व है। वह स्वतः दीप्त रहता है।[८]

परवर्ती अद्वैत वेदान्त दृष्टि के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म रूप ही हो जाता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। उक्त विचार के सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक में भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'[९] अर्थात् ब्रह्म रूप होता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। एक दूसरे स्थल पर भी कहा है कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म में लीन हो जाता है—ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति[१०]—तैत्तिरीय आरण्यक में ही यह भी कहा है कि परमात्मा ने इस जगत् प्रपंच की सृष्टि की और फिर वह उसी में प्रवेश कर गया।[११]

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम्, पृ० ३५।
२. ऐ० आ० २।४।१।
३. प्रज्ञानं ब्रह्म—ऐ० आ० २।३।१।
४. उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते। हृदयंब्रह्मेत्या रुणयः—ऐ० आ० २।१।४।
५. ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम्, पृ० १७।
६. तै० आ० १।२३।
७. तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेवशुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपस्तत् प्रजापतिः—तै० आ० १०।१।२।
८. तै० आ० १०।११।२।
९. वही, २।१।
१० वही, ८।१।
११. वही, ८।६।

शाङ्खायनारण्यक में जिसे कावेल ने कौषीतक्यारण्यक भी कहा है, आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर, अनन्त एवं अबाह्य है।[1]

उपर्युक्त संकेतस्थलों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी हमें अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, जगत् और मोक्ष आदि विचारों के स्पष्ट संकेतवर्णन मिलते हैं। उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में आत्मा का व्यवहार तीन अर्थों में मिलता है—प्राण श्वास के अर्थ में, विश्वात्मा के रूप में और जीवात्मा के रूप में।[2]

उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त

उपनिषदों में प्राप्त वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहां उनमें से कतिपय का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

सदानन्द का मत

वेदान्त को उपनिषद् प्रमाण कहकर सदानन्द ने उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की प्रामाणिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया है। (वेदान्त सार ३)

ब्लूमफील्ड का मत

पाश्चात्य विद्वान् ब्लूमफील्ड का तो यहां तक कहना है कि नास्तिक बुद्धवाद को मिलाकर हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्वपूर्ण रूप नहीं है जिसका मूल रूप उपनिषदों में निहित न हो।[3]

मैक्समूलर का मत

प्राचीन उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि खोजते हुए मैक्समूलर का विचार है कि शंकर वेदान्तिकविचारों या उनके अंकुरों को प्रत्येक स्थिति में प्राचीन उपनिषदों में खोजने में सफल हुए हैं।[4]

डायसन का मत

पाश्चात्य विद्वान् डायसन मैक्समूलर के मत के ही समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने परवर्ती वेदान्त की आधार भूमि वेदान्त सूत्र को औपनिषद सिद्धान्त का ही सूक्ष्म संग्रह कहा है।[5]

---

१. शाङ्खायनारण्यकम्, पंचदश अध्याय; आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, १६२२।

२. *S. N. Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol : I, P. 26.

३. There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upanishads. (THE RELIGION OF THE VEDA, p. 51)

४. *MaxMuller* : VEDANTA PHILOSOPHY, p. 135.

५. *Deussen* : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 27.

प्रो० जे० एस० मेकेन्जी का मत

प्रो० मेकेन्जी का कथन है कि सृष्टि विज्ञान के क्रमिक सिद्धान्त का प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण प्रकथन वह है, जो उपनिषदों में प्रकट किया गया है। इस प्रकार मेकेन्जी ने भी उपनिषदों को वेदान्त सिद्धान्तों की प्राचीनतम पृष्ठभूमि के रूप में ही स्वीकार किया है।[1]

प्रो० गफ का मत

गफ महोदय का विचार है कि उपनिषद् दर्शन के सर्वाधिक विद्वान् व्याख्याता शंकर या शंकराचार्य हैं।[2] गफ कहते हैं कि स्वयं शंकर की शिक्षा उपनिषद् दर्शन को ही स्वाभाविक एवं उचित बताता है।

उपर्युल्लिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी आलोचक विद्वान् उपनिषदों को वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं। यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में केवल शांकर वेदान्त के ही मूल बीज नहीं उपलब्ध होते वरन् रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क के दार्शनिक विचारों के बीज भी उनमें देखे जा सकते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि उपनिषद् किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु जैसा कि प्रो० दासगुप्त भी मानते हैं,[3] शंकराचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों के प्रतिनिधित्व में अत्यधिक सफल हुआ है। वैसे तो, जहां उपनिषदों में विभिन्न दर्शन पद्धतियों के मूल बीज खोजने की बात है वहां यह कहना असंगत न होगा कि उनमें केवल रामानुज एवं वल्लभादि आचार्यों के वेदान्तिक सिद्धान्तों के बीज ही नहीं उपलब्ध होते, अपितु जैसा कि रानाडे आदि विद्वानों ने अपने खोजपूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत स्पष्ट किया है,[4] बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा एवं शैवदर्शन के बीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। यहां हमारा अभिप्राय उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के बीजदर्शन मात्र से है। इस दिशा में यह देखने का प्रयत्न किया जायेगा कि उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों की आधार भूमि किस रूप में उपलब्ध होती है।

उपनिषद् और ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन

परवर्ती अद्वैत-प्रासाद का आधार ब्रह्म और जगत् के बीच भेद दृष्टि का अभाव एवं एकमात्र ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करना है। कठोपनिषद् के उक्त विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो इस जगत् में भेद देखता है वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होता परन्तु अद्वैत विद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर ही द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव है।[5] इसके अतिरिक्त

---

१. E. R. E. Vol. VIII, p. 597.
२. *Gough* : PHILOSOPHY OF THE UPANISHADS, Preface p. VIII.
३. *Das Gupta* : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 42.
४. *Ranade* : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 182 - 184.
५. क० उ० २।१।११।

छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेनकेतु और उनके पिता आरुणि के सम्वाद में भी ब्रह्म एवं नामरूपात्मक जगत् की एकरूपता का स्पष्ट विचार मिलता है। जब द्वादश वर्ष के पश्चात् श्वेतकेतु विद्या अध्ययन करके अपने पिता आरुणि के पास पहुंचे तो वह बड़े गर्वित एवं सन्तुष्ट थे और अपने आपको विद्वान् समझ रहे थे। पिता आरुणि ने श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने अपने गुरु से वह शिक्षा प्राप्त करली है जिसके प्राप्त कर लेने पर अश्रुतश्रुत, अचिन्तित, चिन्तित एवं अज्ञात ज्ञात हो जाता है। पिता के उक्त वचनों को सुनकर श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता स्वीकार की और पिता से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। तब पिता की आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा कि एक मृन्पिण्ड का ज्ञान होने पर सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सुवर्ण पिण्ड का ज्ञान होने पर सुवर्ण जन्य कुण्डलादि विकारों का ज्ञान हो जाता है एवं जिस प्रकार निहिन्ने का ज्ञान होने पर सारे लौह निर्मित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि मृत्तिका सुवर्ण एवं लौह के विभिन्न विकार नाम मात्र के तथा वाचारम्भण मात्र हैं।[1] इसी प्रकार जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है सारा जगत् ब्रह्म का ही रूप है। यही विचार बृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, समस्त लोक, सहस्र देवता, समस्त भूत और यह सब आत्मा का ही स्वरूप है।[3] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की जो परिभाषा मिलती है वह भी पूर्णतया अद्वैत मत की ही समर्थक है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत वरुण अपने पुत्र भृगु से ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और मृत्यु होने पर जिसमें प्रवेश करते हैं उसी को जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है।[4] तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त उद्धरण में अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म की अधिष्ठानता के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् अध्यास। जगत् रूप अध्यास ब्रह्म रूप अधिष्ठान में अविद्या से उत्पन्न होता है और अविद्या निवृत्ति होने पर अध्यास भी नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष उर्ध्वमूल एवं अवाक्-शाख है। वही शुद्ध, शुभ्र ब्रह्म एवं अमृतरूप है। समस्त लोक उसी में आश्रित हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहां अश्वत्थ वृक्ष से संसार रूप वृक्ष का संकेत किया गया है और ब्रह्म से उसके मूल का।[5] यहां भी ब्रह्म के अद्वैत एवं अधिष्ठान रूप का चित्रण स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश अनेक रूपों में मिलता है। यहां उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख किया जायेगा।

१—सत् एवं असत् रूप में ब्रह्म का चित्रण

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन सत् एवं असत् दोनों रूपों में किया

---

१. छा० उ० ६।१।२-७।
२. बृ० उ० २।४।६-९।
३. वही ४।२।६।
४. कठोपनिषद् २।३।१।
५. यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेवशुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्म ज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्वाप्॥ शा० भा० क० उ० २।३।१।

गया है।[1]

२—ब्रह्म का चित् रूप में वर्णन

ब्रह्म का चिद् विशेषण उसकी ज्ञान एवं प्रकाशमयता का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान एवं प्रकाश रूप है। इसीलिये बृहदारण्यक में ब्रह्म को 'ज्योतिषांज्योतिः'[2] कहा गया है। बृहदारण्यक में ही एक स्थान पर परम तत्त्व को सत्, चित् एवं आनन्द से पूर्ण कहा है।
(बृ० उ० ३।९।२८)

३—आनन्द रूप में किया गया ब्रह्म वर्णन

आनन्दवादी अद्वैत दर्शन में ब्रह्म को आनन्द स्वरूप कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म बोध की स्थिति को आनन्द का ही रूप कहा है। (छा० उ० ७।२३)

४—देशातीत ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदों में ब्रह्म को देशादि की सीमा से अतीत कहा गया है। याज्ञवल्क्य गार्गी को ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि—हे गार्गी, जिसमें सब ओत-प्रोत हैं, वह अविनाशी है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है न बड़ा है, न वह लोहित है, न वह संसार जीव की तरह स्नेह वाला है। वह आवरण रहित, तम रहित, वायु रहित, स्वाद रहित, गन्ध रहित, नेत्र रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, प्राण रहित, मुख रहित, परिणाम रहित, अन्तर रहित,[3] तथा बाह्य रहित है। न वह कुछ खाता है और न कोई उसको खाता है।[4] इस प्रकार उक्त विवेचन में ब्रह्म का देशातीत रूप स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।

५—कालातीत ब्रह्म का वर्णन

जिस प्रकार कि ब्रह्म देशातीत है उसी प्रकार कालातीत भी है। बृहदारण्यक में ब्रह्म को भूत एवं भविष्यत् काल का स्वामी[5] तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में त्रिकालातीत कहा है।[6]

६—कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को अक्षर[6] कहना उसकी कार्य-कारणावस्था का निषेध करना है। क्योंकि जो अक्षर है उसमें परिवर्तन सम्भव नहीं होता। उक्त विचार को ही स्पष्ट करते हुए बृहदारण्यक (४।४।२०) में याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं कि यह ब्रह्म अप्रमेय, एवं ध्रुव है। इस प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का

---

१. द्वेवाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।
(बृ० उ० २।३।१)।

२. बृ० उ० ४।४।१६।

३. बृ० उ० ३।८।८।

४. ईशानम् भूतभव्यस्य बृ० उ० ४।४।१५।

५. 'परस्त्रिकालात्' श्वे० उ० ६।५।

६. बृ० उ० ३।८।८,६,१०।

वर्णन भी उपलब्ध होता है।

७—पूर्ण सत्य के रूप में ब्रह्म वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन पूर्ण सत्य के रूप में भी मिलता है। बृहदराण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है।[1] बृहदराण्यक में ही एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि आत्मा के दर्शन, श्रवण एवं ज्ञान से समग्र जगत् का ही ज्ञान हो जाता है।[2] इस प्रकार औपनिषद दर्शन के अनुसार ब्रह्म अद्वैत एवं पूर्ण सत्ता है।

८—ईश्वर रूप में ब्रह्म वर्णन

परवर्ती वेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी परमेश्वर को मायी कहा है।[3] कौषीतकी उपनिषद् में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह न साधु कर्मों से महान् बनता है और न असाधु कर्मों से हीन बनता है। वही जिसकी उन्नति चाहता है उसे साधु कर्म करने की प्रेरणा देता हैं और जिसकी अवनति चाहता है उसे असाधु कर्म करने की प्रेरणा देता है। वही लोकपाललोकाधिपति एवं सर्वेश है। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म का ईश्वर रूप में वर्णन मिलता है।[4]

९—स्रष्टा रूप में ब्रह्म वर्णन

सूत्रकार बादरायण ने 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।१) सूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा है। परवर्ती वेदान्ती बादरायण का उक्त विचार अपने मूल रूप में हमें सर्व प्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत मिलता है।[5] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के स्रष्टा रूप का वर्णन करते हुए वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा है कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का स्रष्टा रूप भी प्राप्त होता है।

१०—रक्षक रूप में ब्रह्म वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ईश्वर का रूप दिया है और उन्होंने कहा है कि वह आत्मा ही सबका ईश्वर है। वही सब भूतों का अधिपति एवं पालक है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने आत्मा की तुलना सेतु से की है क्योंकि जगत् का रक्षक आत्मा ही सेतु की तरह सब को पार लगाने वाला है। वही लोकों की रक्षा के लिये

---

१. न तु तद्द्वितीयमस्तिततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्, बृ० उ० ४।३।२३।
२. बृ० उ० २।४।५ तथा देखिए मु० उ० १।१।३।
३. श्वे० उ० ४।१०।
४. कौषीतकी उपनिषद् ३।८ तथा देखिए ईशावास्योपनिषद् १ छा० उ० ४।१५।२,४ बृ० उ० ४।४।२२।
५. तै० उ० ३।१।

उनको धारण करता है।[1] इस प्रकार उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म एवं आत्मा के रक्षक का वर्णन भी स्पष्ट रूप से मिलता है।

११—उपनिषदों में ब्रह्म के नियन्ता रूप का वर्णन

उपनिषदों में परमात्मा का नियन्ता रूप भी मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो पृथिवी के अभ्यन्तर और बाहर, ऊपर और नीचे स्थित है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है और जो पृथिवी को जानता है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के बाहर व भीतर रह कर पृथिवी का शासन करता है, जो अविनाशी एवं निर्विकार है और जो तुम्हारा और सब का आत्मा है, वही हे गौतम, अन्तर्यामी है।[2] इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद्[3] नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्[4] व नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्,[5] रामोत्तरतापिन्युपनिषद्,[6] ब्रह्मोपनिषद्[7] में भी ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप का वर्णन मिलता है।

उपनिषदों में ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का नकारात्मक रूप से भी वर्णन किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने पांच स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के अज्ञेयत्व की ओर संकेत किया है।[8] ब्रह्म के नाकारात्मक रूप का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक के अन्तर्गत एक स्थल पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

......सएष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयात्,[9] अर्थात् वह आत्मा 'नेति-नेति' शब्द करके अग्राह्य है। वह आत्मा अशीर्य, असंग एवं अबद्ध है। क्योंकि न वह जीर्ण हो सकता है, न किसी में आसक्त है और न उसको कोई पीड़ा दे सकता है तथा न वह हत् हो सकता है। मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को कोई किस के द्वारा जान सकता है। बृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश में प्रयुक्त 'असितः' शब्द के विद्वानों ने एकाधिक अर्थ किये हैं। यहां इस सम्बन्ध में डाक्टर दास गुप्त के मत के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

---

१. एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एषसेतु विधरण एषां लोकानामसंभेदाय......
बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२।

२. बृ० उ० ३।७।१।

३. माण्डूक्योपनिषद्-६।

४. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ४।१३।

५. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् १।

६. रामोत्तरतापिन्युपनिषद् १।

७. ब्रह्मोपनिषद् १।

८. बृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५, ३।६।२६, २।३।६।

९. बृ० उ० ४।५।१५।

डा० दास गुप्त का मत और उसकी आलोचना

डाक्टर दास गुप्त ने 'असितः' का अर्थ करते हुए कहा है कि वह आत्मा खड्ग के आघात से आहत नहीं हो सकता।[१] डायसन ने 'असितः' का अर्थ Not Fettered अर्थात् अबद्ध किया है।[२] डाक्टर दास गुप्त ने डायसन, मैक्समूलर और विद्वान् रोर के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने बृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है। उक्त विद्वानों के मत की आलोचना करते हुए डा० दासगुप्त का विचार है कि डायसन, मैक्समूलर और रोर ने 'असितः' की व्याख्या विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मान कर की है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' की विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मानकर की गई व्याख्या अप्रामाणिक है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' असि शब्द का अपादान कारक का रूप है।[३] मेरे विचार से डाक्टर दास गुप्त का 'असितः' को अपादान कारक का रूप मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि अपादान कारक का व्यवहार पृथक्करण के अर्थ में होता है। इसके विपरीत डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ करते समय असितः को अपादान कारक न मानकर करणकारक माना है। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ किया है—He cannot suffer by a stroke of the sword......अर्थात् वह आत्मा खड्ग के आघात से आहत नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असितः' को अपादान स्वीकार कर लेने पर उससे करण कारक का अर्थ निकालना, मेरे विचार से अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। अतः मैक्समूलर आदि विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'असितः' का अबद्ध अर्थ ही समीचीन कहा जायेगा। इस मत के समर्थन में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि जिस प्रसंग में असितः का प्रयोग हुआ है वहां असितः से पूर्व अगृह्य, अशीर्य एवं असंग शब्द का नञर्थ बोध्य है। अतः असितः में भी असि को पृथक् शब्द के रूप में न ग्रहण करके नञर्थ बोध्य अबद्ध अर्थ लेना ही संगत होगा। जैसा कि बृहदारण्यक के उपर्युक्त स्थल (बृ० उ० ४।५।१५) में भी कहा गया है, नेति-नेति के द्वारा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के विचार का निरूपण नकारात्मक रूप से ही किया गया है। नेति नेति से आत्मा अथवा ब्रह्म के अवर्ण्य होने का अभिप्राय है।[४] याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म का नकारात्मक रूप ही से वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म अक्षर, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असंग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर तथा अबाह्य है।[५] याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के उक्त नकारा-

---

१. ...He cannot suffer by a stroke of the sword. *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 44, 45.

२. डायसन, फिलासफी आफ उपनिषद्स, पृ० १४७। (मैक्समूलर ने भी डायसन के समान ही असितः का अर्थ अबद्ध ही किया है—मैक्समूलर के मत के लिये देखिए—सेक्रिड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग १५, पृ० १८५)

३. ...It is evidently the ablative of Asi, a sword. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45 (F.N).

४. बृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ३।९।२६, २।३।६।

५. बृ० उ० ३।८।८।

त्मक रूप के प्रतिपादन में भी 'नेति नेति' वाली शैली की ही पृष्ठभूमि है। पश्चिमी विद्वान् हिलेब्रां और एकहार्ट ने नेति नेति के सम्बन्ध में एक विलक्षण मत प्रस्तुत किया है। यहां इस मत के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

'नेति नेति' के सम्बन्ध में हिलेब्रां और एकहार्ट का मत और उसकी आलोचना

हिलेब्रां ने 'नेति नेति' में 'न' का अर्थ निषेध परक न स्वीकार करके स्वीकृति परक माना है।[१] इसी प्रकार पश्चिमी विद्वान् एकहार्ट भी 'न' का अर्थ निषेध परक न ग्रहण करके स्वीकृति परक मानते हैं। एकहार्ट ने 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं है, वरन् वह (ब्रह्म है) (न इति न, इति) इस प्रकार एकहार्ट ने नकारद्वय के द्वारा निषेध का भी निषेध माना है।[२]

पश्चिमी विद्वानों का उपर्युक्त मत भारतीय अध्येताओं के लिए एक नवीन मत तो है परन्तु उचित नहीं। 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

'नेति नेति' 'नह्येतस्मादिति नेति, अन्यत् परमस्ति'[३] अर्थात् 'नेति नेति' से बढ़कर परमात्मा का उपदेश दूसरा नहीं है। इस स्थल पर स्पष्ट ही नेति के अन्तर्गत प्रयुक्त नकार का अर्थ निषेध परक है। बादरायण ने भी 'प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' (ब्र० सू० ३।२।२२) के अन्तर्गत यही कहा है कि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृत में प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का ही निषेध करती है। शंकराचार्य ने भी बादरायण के उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि 'नेति नेति' श्रुति ब्रह्म के रूप प्रपंच का प्रतिषेध करती है और ब्रह्म को शेष रखती है।[४]

प्रकरण एवं विषय समन्वय की दृष्टि से हिलेब्रां एवं एकहार्ट की 'नेति नेति' की व्याख्या ऊपर निर्दिष्ट की गई उपनिषद्वर्तिनी एवं बादरायण और शंकराचार्य कृत व्याख्या की अपेक्षा हेय एवं अनुचित प्रतीत होती है।

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप

ऋग्वेद में एक ओर आत्मा का प्रयोग जगत् के मूल तत्त्व के लिये किया गया था और दूसरी ओर मनुष्य के प्राणवायु के अर्थ में।[५] उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में मिलता है।[६] उपनिषदों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पुरुष और आदित्य में रहने वाला ब्रह्म एक ही है।[७]

उपनिषदों में आत्मा के भेदों (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण

छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसंग के आधार पर आत्मा के निम्नलिखित तीन रूप मिलते

---

१. A Review of Deussen's Translation of the Upanishads, Deutsche Literaturz, 1897.
२ देखिए एकहार्ट के मत के लिए—*Deussen* : Philosophy of Upanishads, p. 149.
३. बृ० उ० २।३।६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२ तथा देखिये शा० भा०, बृ० उ० ४।५।१५।
५. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45.
६. तद् ब्रह्म स आत्मा—तै० उ० १।५।१।
७. स यश्चायं पुरुषे यश्चासौ आदित्ये—तै० उ० २।८ तथा देखिए छा० उ० ३।१३।७, ३।१४।२-४; बृ० उ० ५।५।२; मु० उ० २।१।१०।

हैं—[1] (१) शारीरिक आत्मा (२) जीवात्मा (३) सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

शारीरिक आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए प्रजापति—इन्द्र तथा विरोचन से कह रहे हैं कि अन्य पुरुष के नेत्र में पुरुष का दर्शन आत्मा का ही स्वरूप है और यह आत्मा अमर तथा अभय है। उक्त विषय के सम्बन्ध में जब इन्द्र तथा विरोचन प्रजापति से पूछते हैं कि भगवन् जल और दर्पण में दिखाई पड़ने वाली वस्तु क्या है तो प्रजापति यही उत्तर देते हैं कि वह आत्मा ही सब में दिखाई पड़ता है।[2] आत्मा के दूसरे रूप जीवात्मा के सम्बन्ध में शिक्षा देते हुए प्रजापति कहते हैं कि स्वप्न में जो आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करता है, वह आत्मा ही है। आत्मा के इस स्वरूप का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के एक तीसरे स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रजापति इन्द्र और विरोचन से कहते हैं कि यह जीव सुप्त रहता हुआ आनन्द की ऐसी ऊंची स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उसे किसी स्वाप्निक विचार का ज्ञान नहीं होता।[3] आत्मा का यही सर्वोच्च रूप है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा के अन्य पांच रूप और मिलते हैं। यह पांच रूप हैं—(१) अन्नमय आत्मा (२) प्राणमय आत्मा (३) मनोमय आत्मा (४) विज्ञानमय आत्मा (५) आनन्दमय आत्मा।

उपनिषदों में माया का स्वरूप—मायावाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त है। बिना माया के ब्रह्म की सिद्धि असम्भव ही कही जायेगी। यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में प्राप्त माया सम्बन्धी विचार परवर्ती मायावाद (शांकर मायावाद) की विचारधारा से भिन्न है। परन्तु इतना तो निःसंकोच स्वीकार किया जायेगा कि उपनिषदों में परवर्ती मायावाद की पृष्ठभूमि अवश्य मिलती है। प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है—एक बार प्रश्नोपनिषद् (१।१६।१) में और एक बार बृहदारण्यकोपनिषद् (२।५।१९) में। प्रश्नोपनिषद् में माया शब्द का प्रयोग आचार की कुटिलता के लिए किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन उपनिषदों के उपर्युक्त माया शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त उत्तरकालिक उपनिषदों में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया को प्रकृति एवं परमेश्वर को मायी कहा है।[4] इसके अतिरिक्त भी उत्तरकालिक उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है।[5]

उपनिषदों में मुक्ति का सिद्धान्त—मुक्ति सम्बन्धी विचार का पृष्ठाधार औपनिषद दर्शन में भी पूर्ण रूप से मिलता है : मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[6] मुक्त पुरुष का लक्षण बतलाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जिस प्रकार पुष्करपलाश को जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार आत्मज्ञानी को पापकर्म नहीं

लगता।[1] मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे सर्प जब अपनी निर्जीव त्वचा को त्याग देता तो वह किसी बाँबी के ऊपर पड़ी रहती है उस समय सर्प न उसकी रक्षा का यत्न करता है और न उसे फिर ग्रहण करना चाहता है। इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर सर्प की त्यागी हुई त्वचा की तरह जीते जी भी निर्जीवित पड़ा रहता है अर्थात् ज्ञानी उससे असम्बद्ध रहता है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष शरीर रहित और मरण धर्म रहित होता है।[2] मेरे विचार से परवर्ती वेदान्त सम्मत जीवन्मुक्ति सम्बन्धी विचार की पृष्ठभूमि बृहदारण्यक के उपर्युक्त विचार में मिलती है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि परवर्ती अद्वैत दर्शन में मुक्ति के जिस स्वरूप की विवेचना की गई है उसकी मूल रूपरेखा उपनिषद् दर्शन में उपलब्ध होती है।

सूत्र साहित्य और अद्वैतवाद

अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का प्रयोग चार जगह हुआ है।[3] चारों जगह ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है। अद्वैतवाददर्शन की प्राणप्रतिष्ठाकर्त्री माया का संकेत ब्रह्मसूत्र में केवल एक स्थान पर हुआ है और वह 'माया मात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सूत्र ३।२।३) सूत्र के अन्तर्गत हुआ है। उक्त सूत्र में माया शब्द का प्रयोग स्वाप्निक प्रपंच के मिथ्यात्व के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र के अन्तर्गत सूत्रकार ने जागतिक प्रपंच की सत्यता का स्पष्ट निषेध किया है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र—अथातोब्रह्मजिज्ञासा—में भी सूत्रकार के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही बतलाया गया है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र के सूत्रों की रचना सिद्धान्तबद्ध नहीं है तथापि उसमें अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि का पर्याप्त आधार मिलता है।

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त शाण्डिल्य सूत्र आदि सूत्रों में भी अद्वैतिक विचारधारा के स्रोत मिलते हैं,[4] परन्तु न्यून रूप में ही।

पुराण साहित्य और अद्वैतवाद

यद्यपि कालनिर्णय आदि की दृष्टि से पुराणों की प्रामाणिकता संशयग्रस्त है, परन्तु कहीं-कहीं तो पुराणों को वेदों से भी प्राचीन बतलाया गया है।[5] अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी

---

१. यथापुष्करपलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेनं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते। छा० उ० ४।१४।३।

२. बृ० उ० ४।४।७।

३. अथातोब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१), ब्रह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः (४।४।५), स्याच्चैकस्यब्रह्मशब्दवत् २।३।५, ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४।१।५।

४. *S. K. Belvalkar & R. D. Ranade*: History of Indian Philosophy, Vol. VII, p. 12.

५. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणास्मृतम्—अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः (अग्निपुराण ५।३।३ अष्टादशपुराण दर्पण, पृ० ११ से उद्धृत)

पुराणों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। पुराण भारतवर्ष के प्राचीन धर्म एवं दर्शन के अद्भुत संग्रह रूप हैं। भारतीय दर्शन के विविध सिद्धान्तों का व्यवस्थित नहीं तो विस्तृत विवेचन पुराणों में अवश्य मिलता है। यहां पुराणों के अद्वैततत्त्व सम्बन्धी विचार सूत्रों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

विष्णु पुराण के अन्तर्गत परमात्मा के वासुदेव नाम की चरितार्थता बतलाते हुए कहा है कि यह सर्वत्र स्थित है और सब कुछ इसी में स्थित है, इसीलिए इसे वासुदेव कहते हैं।[1] यह तत्त्व पूर्णतया शुद्ध है, क्योंकि इसमें हेयांश किंचित् भी नहीं है।[2] परम तत्त्व सम्बन्धी उक्त संकेतों में ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व और उसकी शाश्वतता का स्पष्ट निरूपण मिलता है। विष्णु-पुराण के अन्तर्गत विष्णु की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता का संकेत करते हुए एक स्थल पर कहा है कि जगत् के अनेक रूप विष्णु के ही विकार रूप हैं।[3] विष्णु पुराण के अन्तर्गत विष्णु की माया का उल्लेख भी मिलता है। मोहिनी रूप धारी भगवान् विष्णु अपनी माया के द्वारा दानवों को मोहित करके उनसे कमण्डलु लेकर देवताओं को दे देते हैं।[4] विष्णु पुराण के अन्तर्गत एक स्थल पर विष्णु के मायामोह उत्पन्न करने का वर्णन भी मिलता है।[5]

शिव पुराण का शिवाद्वैत वाद तो प्रसिद्ध ही है। शिव पुराण की कैलाससंहिता में शिव का वर्णन परब्रह्म के रूप में मिलता है। इसीलिए शिव पुराण का दार्शनिक सिद्धान्त शिवाद्वैत कहलाता है।[6] शिव पुराण की रुद्र संहिता के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत परमार्थसत्य का विवेचन करते समय जीव और ब्रह्म की अद्वैतता का निरूपण करते हुए कहा है कि सर्वोच्च सत्य जिससे कि मुक्ति की प्राप्ति होती है शुद्ध चिद् रूप है और उस चिद्रूपता की स्थिति में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता।[7] जीव और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विस्तार से सम्पन्न हुआ है। अज्ञान के सम्बन्ध में शिव पुराण में कहा गया है कि वह तो बुद्धि भेद का ही फल है। अज्ञान की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।[8] परमात्मा रूप शिव के अतिरिक्त जगत् के दर्शन का मूल शिव पुराण में भ्रान्ति बतलाई गयी है।[9] शिव पुराण में कारण और कार्य के भेद को भी अवास्तविक कहा गया है। इस प्रकार शिव पुराण के अन्तर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहां अद्वैत तत्त्व का स्पष्ट विवेचन मिलता है।

श्रीमद्भागवत पुराण का महत्व तो 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' से स्पष्ट ही है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में ही अद्वैतवाद का विचार सूत्र वर्तमान है। इस श्लोक में परम सत्य का वर्णन किया गया है। श्रीधराचार्य ने इस श्लोक में प्रयुक्त पर शब्द का अर्थ परमेश्वर

---

१. विष्णु पुराण १।२।१२।

२. हेयाभावाच्च निर्मलम्—विष्णु पुराण १।२।१३।

३. विष्णु पुराण १।२।३२

४. वही, ६।१०६।

५. वही, ३।१७-४१।

६. शिवाद्वैतमहाकल्पवृक्ष भूमिर्यथाभवत् ।। शिव पुराण ६।१६।११।

७. शिव पुराण २।२।२३।

८. अज्ञानं च मतेर्भेदो नास्त्यन्यच्चद्द्वयं पुनः। शिवपुराण ४।३८।८।

९. भ्रान्त्या नानास्वरूपो हि भासते शंकरस्तदा—शिव पुराण ४।४३।१५।

किया है। इसी श्लोक में परमेश्वर के अधिष्ठान रूप का भी संकेत उपलब्ध है।[१] इस पुराण में प्रायः सभी प्रमुख दर्शन पद्धतियों के सूत्र मिलते हैं। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म आदि तत्वों के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत में परमेश्वर के ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम दिये गये हैं। परन्तु वस्तुतः परमेश्वरको श्रीमद्-भागवत में अरूप एवं चिदात्मा कहा है।[२] परमात्मा अपनी माया शक्ति द्वारा ही जगत् का स्रष्टा है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के बिना माया की सत्ता सम्भव नहीं, परन्तु उसकी सत्ता की प्रतीति ब्रह्म में सम्भव नहीं है।[३] श्रीमद्भागवत में जगत् के स्रष्टा परमात्मा को आनन्द एवं अव्यक्त रूप तथा चित् एवं अचित् शक्ति से सम्पन्न बतलाया गया है।[४] इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अद्वैतवाद सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों का निरूपण स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है।

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के समान ही ज्ञान का महत्व प्रदर्शित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति को ही योग कहा है। जिसका फल एक ओर तो मुक्ति एवं ब्रह्मैक्य है और दूसरी ओर प्राकृत गुणों के साथ अनैक्य का भाव है। जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में एक स्थल पर कहा है कि जिस प्रकार जल में फेंका गया जल एकता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार योगी भी पूर्णता की स्थिति में एकता को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।[५] मार्कण्डेय पुराण के उक्त विचार अद्वैत के प्रमुख विचार सूत्रों के अत्यन्त समान हैं।

नारदीय पुराण में तो नारायण का ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णन किया गया है। नारायण ही स्वयं स्रष्टा, ब्रह्मा, लोकरक्षक, विष्णु एवं संहारकर्ता रुद्र का रूप ग्रहण करते हैं।[६] नारदीय पुराण में सर्वोच्च सत्य को महाविष्णु भी कहा है। महाविष्णु या नारायण अपनी शक्ति के द्वारा संसार की सृष्टि करते हैं। नारायण की यह शक्ति सत् एवं असत् तथा विद्या एवं अविद्या दोनों प्रकार की है।[७] नारायण और उनकी शक्ति का उक्त विचार अद्वैत दर्शन की प्रमुख विचारधारा के बहुत कुछ समीप है। शक्ति के सम्बन्ध में नारदीय पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि में व्याप्त होती है उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति भी परमेश्वर से कभी पृथक् नहीं हो सकती।[८] नारदीय पुराण में ईश्वर प्राप्ति के दो साधन बत-लाये हैं एक ज्ञान और दूसरा कर्म। ज्ञान का विकास नारदीय पुराण में दो प्रकार से बतलाया गया है—एक श्रुति ग्रन्थों के अध्ययन से और दूसरे विवेक के द्वारा।[९]

---

१. श्रीमद्भागवत प्रथम अध्याय, प्रथम स्कन्ध, प्रथम श्लोक। तथा देखिये श्रीधरी टीका।
२. श्रीमद्भागवत १।३।३०।
३. वही, २।९।३३।
४. वही, ७।३।३४।
५. मार्कण्डेय पुराण ३।९।१, ४०-४१।
६. नारदीय पुराण १।३।४।
७. वही, १।३।९।
८. वही, १।३।१३।
९. वही, १।३।४,५।

कूर्म पुराण में सर्वोच्च सत्ता को विष्णु न कहकर महेश्वर कहा गया है। कूर्म पुराण के अनुसार महेश्वर को अव्यक्त चतुर्व्यूह, सनातन, अनन्त, अप्रमेय, नियन्ता एवं सर्वतोमुख वतलाया गया।[1] अव्यक्त रूप सनातन ईश्वर से ही सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति होती है।

वायु पुराण में सर्वोच्च सत्य का वर्णन ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति, आत्मा, गुह, चक्षुप क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तप, सत्य एवं अति प्रकाश आदि रूपों में किया गया गया है। वायु पुराण में ब्रह्म को सर्वोच्च सत्य सूक्ष्म अनन्त, आनन्दमय, सर्वव्यापी, कूटस्थ, स्वयंप्रकाश एवं चिद्रूप कहा है। वायु पुराण के अनुसार परमात्मा सर्वात्मा एवं भूतात्मा है। इस प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त एवं सर्वोच्च है।[2] मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वायु पुराण में कहा गया है कि सत् एवं असत् कर्मों का त्याग ही मोक्ष का हेतु है।[3] जो पूर्णतया शुद्ध एवं पापरहित है वही परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मानुभव के सम्बन्ध में वायु पुराण में वतलाया गया है कि समाधि के द्वारा उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसकी स्थिति में साधक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।[4] इस प्रकार वायु पुराण के उक्त विचार अद्वैतवाद की विचारधारा के लिये उपयुक्त विचार-सूत्र प्रदान करते हैं।

स्कन्द पुराण का अद्वैत-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। स्कन्द पुराण की ब्रह्म गीता के अन्तर्गत ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया, जगत् एवं कार्य कारणवाद आदि के सम्बन्ध में अद्वैत दृष्टि से विचार किया गया है। स्कन्द पुराण में शिव को ही परमात्मा एवं परब्रह्म का रूप दिया गया है। यह शिव रूप परमात्मा भोक्ता, भोग्य एवं भोग से विलक्षण है। यही सदाशिव एवं अद्वैत सत्य है।[5] स्कन्द पुराण के अनुसार ईश्वर जीव अज्ञान एवं दृश्य जगत् की सत्तायें ब्रह्म से भिन्न न होकर ब्रह्म ही हैं।[6] यहां तक कि व्यावहारिक सत्तारूप अज्ञान को भी स्कन्द पुराण में ब्रह्म रूप ही माना गया है।[7] इस प्रकार स्कन्द पुराण में अद्वैत सिद्धान्त का बहुत कुछ व्यवस्थित विवेचन मिलता है।

गरुड़ पुराण में शिव का ही ब्रह्म रूप में वर्णन किया गया है। गरुड़ पुराण का शिव सर्वव्यापी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। गरुड़ पुराण में शिव का परब्रह्म रूप से वर्णन मिलता है।[8] गरुड़ पुराण के अनुसार अविद्याबन्धन से मुक्ति प्राप्ति करने का उपाय ज्ञान है। ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्ति का गरुड़ पुराण का उक्त विचार अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है।

ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत अदिति द्वारा की गयी कृष्ण की एक स्तुति में उन्हें सनातन

---

१. माहेश्वरः परो व्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः। अनन्तश्चाप्रमेयश्च नियन्ता सर्वतोमुखः॥ कूर्म पुराण ४, ५।
२. वायु पुराण १४।३, ६-८, १३-१४।
३. वही, १७।७।
४. वही, १०, ८६, १८।५, १४।७।
५. ब्रह्मगीता २।१७, १८, ३।१६, १७, ५१-५३, ६।१, १४।१७, १०।३५, ३६, ११।३६।
६. वही, ५।११०।
७. वही, ५।८५, ८६।
८. गरुड़ पुराण ४६।६।

भूतात्मा एवं सर्वात्मा कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त संसार में ममत्व की भावना का कारण परमेश्वर की माया को बतलाया गया है।[2] इसी स्थल पर भगवान् की माया के द्वारा पुरुषों के बद्ध होने का उल्लेख भी मिलता है।[3] इस पुराण के अन्तर्गत माया को बन्धन का मूल स्वीकार करना अद्वैत दर्शन के ही समान है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अन्तर्गत कृष्ण को ही सर्वोत्तम तत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार भगवान एवं भक्त में भेद नहीं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं भक्तों का प्राण हूं और भक्त मेरे प्राण हैं।[4] इतना ही नहीं, भगवान् यह भी कहते हैं कि मैं भक्तों की रक्षा करने के लिये सदा उनके समीप स्थित रहता हूं।[5] ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार मुक्ति इसी जीवन में सुलभ बतलाई गयी है। जीवन मुक्ति के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा गया है कि जो आन्तरिक एवं बाह्य रीति से हरि का स्मरण करता है वह इसी जन्म में मुक्ति लाभ करता है।[6]

आग्नेय पुराण में तो स्पष्ट रूप से ही अद्वैत सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। अग्नि पुराण के अनुसार जीव एवं ब्रह्म के योग के ऐक्य का नाम योग है। अग्नि पुराण में विष्णु को ही ब्रह्म का रूप दिया गया है। अग्नि पुराण के अनुसार ब्रह्म के भी दो रूप हैं—एक परब्रह्म और शब्द ब्रह्म।[7] विद्या भी दो प्रकार की है—एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। परा विद्या ब्रह्म सम्बन्धिनी है और अपरा विद्या वेद-वेदांग के ज्ञान से सम्बन्धित है।[8] जब जीव परमात्मा के साथ पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाता है तो उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। इस प्रकार अग्नि पुराण के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अत्यन्त स्पष्ट बीज मिलते हैं।

पद्मपुराण में एक स्थल पर भगवान् शंकर का वर्णन परमेश्वर के रूप में किया गया है। इस स्थल पर परमेश्वर शंकर को सत्य, शाश्वत एवं आत्मा कहा गया है। इसी प्रसंग में विष्णु आदि की उत्पत्ति भी मायिक बतलाई गयी है।[9] पद्मपुराण में आत्मा के अविनाशित्व का भी वर्णन मिलता है।[10] इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में ब्रह्मज्ञानियों की भी चर्चा मिलती है।[11]

वामन पुराण में एक स्थल पर जब वामन भगवान् की स्तुति की गयी है तो उनके मायिक स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी स्थल पर भगवान् की माया का भी वर्णन है।[12]

---

१. ब्रह्मपुराण २०३।६
२. वही, ३०२।११
३. यदेतेपुरुषा बद्धा मायया भगवंस्तव। ब्रह्मपुराण २०२।१५।
४. ब्रह्मवैवर्तपुराण ६।५२।
५. वही, ६।४७।
६. *J. N. Sinha* : A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 165. (Sinha Publishing House, Calcutta 1956).
७. अग्नि पुराण १।१।११, ५।
८. वही, १।१।१५, १७।
९. पद्मपुराण १।४५।१७६, १।४५।१७८।
१०. वही, १।४५।१७९।
११. वही, १।३२।१२३।
१२. वामनपुराण ३०-२४, २५, २६, २९।

अद्वैत वेदान्त के माया सम्बन्धी विचार का उल्लेख **ब्रह्माण्ड पुराण** में भी किया गया है ब्रह्माण्ड पुराण में माया का प्रयोग अनाचारसूचक अर्थ में किया गया है।[१]

देवी भागवत में शक्ति को परब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। देवी भागवत के अन्तर्गत ब्रह्मा जी के यह पूछने पर कि शक्ति और वैदिक ब्रह्म में क्या भेद है, देवी स्वयं कहती है कि मुझमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। मतिविभ्रम के कारण मनुष्यों को भेद की प्रतीति होती है।[२] देवी भागवत में अद्वितीय ब्रह्म को नित्य एवं सनातन कहा है।[३] शक्ति और परब्रह्म के सम्बन्ध को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए देवी भागवत में कहा है कि जो दर्पण और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ब्रह्म और शक्ति का है।[४] इस प्रकार देवी भागवत का शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही पोषक है।

मत्स्य पुराण में एक स्थान पर देवता शंकर की स्तुति कर रहे हैं। देवताओं द्वारा की गई इस स्तुति में शंकर का स्वरूप अद्वैत-परमात्मासम्बन्धी विचार के अत्यन्त सन्निकट कहा जा सकता है। इस स्तुति-स्थल पर शंकर को विश्वात्मा विश्वस्रष्टा एवं विश्व को आवृत करके स्थित रहने वाला कहा गया है।[५] अद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्म के भी उक्त लक्षण ही विशेष रूप से बतलाये गये हैं। मत्स्य पुराण के अन्तर्गत औपनिषद ज्ञान का भी संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में नारायण को ब्रह्म स्वरूप बतलाया गया है।[६]

ऊपर पुराणों के जिन विचार सूत्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधान विचार-धारा, अद्वैतवाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि मिलती है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और अद्वैतवाद

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में अद्वैत तत्व का निरूपण अनेक स्थलों पर किया गया है। ब्रह्म का वर्णन भी गीता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि गीता में सर्वत्र ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में नहीं है परन्तु अनेक स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में किया गया है।[७] इस प्रकार गीता में जहां आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है वहां वह सर्वोच्च सत्य के रूप में ही वर्णित हुआ है। यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि गीता द्वारा प्रतिपादित सर्वोच्च सत्य निर्गुण तत्व ही है, सगुण नहीं। गीता में परमात्मा को अनादि एवं निर्गुण होने के कारण ही अव्यय कहा गया है।[८] अनादि ब्रह्म को सत् तथा असत् से विलक्षण कहना भी उसके निर्गुण होने का

---

१. ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, अनुषंगपाद १६।१०५।

२. देवीभागवत ३।६।२।

३. एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्मनित्यंसनातनम्, देवीभागवत ३।६।४।

४. देवीभागवत ३।६।५।

५. मत्स्य पुराण १६६।२१।

६. वही, १६६।४, १६६।२१।

७. 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म' गीता ३।१५, ४।२४, ४।३१, ५।६, ५।१६, ७।२६, ८।३, ८।१३, १०।१२, १३।३०, १४।४, १३।१२, १०।५०।

८. गीता १३।३१।

ही प्रमाण है। माया परमात्मा ज्ञान की बाधिका है। गीता में स्पष्ट कहा है कि योग माया के आवृत होने के कारण परमात्मा साधारणतया लोगों के लिये नहीं प्रकट होता। यही नहीं, गीता में ईश्वर की माया के भ्रमोत्पादक रूप का वर्णन भी मिलता है।[१] गीता में माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के रूप में किया गया है।

माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर है और जीव ईश्वर का ही अंश है। यहां अंश शब्द का अर्थ अंग, भाग एवं देश है।[२] इस दृष्टि से गीता का जीव और ईश्वर का सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही समर्थक है। जहां तक जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न है, परमेश्वर माया शक्ति के द्वारा जगत् का कारण है।[३] परमात्मा से पृथक् जगत् के मिथ्यात्व का संकेत भी गीता में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। सप्तम अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त जगत् का कारण और कुछ नहीं है। यह जगत् मुझ में उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार कि सूत्र में मणियां अनुस्यूत रहती हैं।[४] वैसे तो, गीता में कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग के रूप में तीन प्रकार के योग का वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें सर्वाधिक महत्व ज्ञानयोग का ही है। इसीलिये आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को ही भगवान् का अत्यधिक प्रिय बतलाया गया है।[५] इस प्रकार गीता में परम तत्त्व को ज्ञान रूप, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य सिद्ध किया गया है।[६] मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए गीता में कहा गया है कि जिसने इन्द्रिय मन और बुद्धि को वश में कर लिया है, जो ईश्वर का मनन करने के कारण संन्यासी हो गया है और जो इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित है, वही मुक्त कहलाता है। आत्म द्रष्टा के सम्बन्ध में बतलाते हुए गीता में एक स्थल पर कहा गया है कि जो विनाशशील सर्वभूतों में अविनाशी परमेश्वर को समान रूप से स्थित देखता है, वही वस्तुतः तत्वद्रष्टा है।[७] ब्रह्मज्ञानी का लक्षण भी गीता में निर्दिष्ट है। जो प्रिय वस्तु को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर दुखी नहीं होता ऐसी स्थिर बुद्धि वाला एवं मोहरहित पुरुष ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है।[८] मुमुक्षुओं की कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में गीता में यह विचार स्पष्ट रूप से मिलता है कि मोक्ष के अभिलाषी जन फलकामना को त्याग कर परमात्मभाव से अनेक प्रकार की यज्ञादि क्रियाओं को करते हैं।[९] इसके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए गीता में यह भी कहा गया है कि मुमुक्षु को संसार के समस्त धर्मों का त्याग करके एक मात्र परमात्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसे पुरुष को मुक्त करने का वचन स्वयं कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।[१०] जहां तक ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्ति का प्रश्न है, गीता में

---

१. वही, १३।१२, ७।२५, १८।६१।
२. अविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्न एकदेश अंशइव कल्पितो यतः। शा० भा० गीता १५।७।
३. गीता १४।३।
४. वही, ७।७।
५. वही, १३।१७।
६. ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदिसर्वस्य विष्ठितम्। गीता १३।१७।
७. गीता १३।२७।
८. वही, ५।२०।
९. वही, १७।२५।
१०. वही, १८।६६।

शक्त्यद्वैतवाद मत में जीव और शिव के ऐक्य एवं मुक्ति का विचार

अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव एवं ब्रह्म की सत्ता पृथक् न होकर दोनों में ऐक्य भाव है। यही सिद्धान्त शांकर वेदान्त में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के विचार द्वारा प्रस्फुटित हुआ है। इसी प्रकार तन्त्रदर्शन में भी जीव और परमात्मा शिव का विवेचन अद्वैत-वेदान्त जैसा ही है। कुलार्णव तन्त्र में स्पष्ट कहा है कि जीव शिव एवं शिव जीव का रूप है। वह जीव केवल शिव ही है।[१] इस प्रकार तन्त्र दर्शन में भी अद्वैतवेदान्त की तरह जीव और परमात्मा के ऐक्य को स्वीकार किया गया है।[२] जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योगियों ने योग कहा है।[३]

जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान को मुक्ति का रूप कहा है उसी प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत भी ज्ञान से ही मुक्ति की व्यवस्था बतलाई गई है।[४] यह ज्ञान प्रकृति और परमात्मा शिव की एकता का ज्ञान है। मुमुक्षु के लिए यह ज्ञान परम अपेक्षित है।[५] शक्तिरूपिणी प्रकृति को परमात्मा शिव से पृथक देखना अज्ञानता है। जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, शक्ति के अभाव में परमात्मा शिव सामर्थ्य हीन है।[६] अतः शिव एवं शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन ही शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रमुख विषय है।

अतः उपर्युक्त शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत परवर्ती वेदान्तिक अद्वैतवाद की स्पष्ट एवं विकसित पृष्ठभूमि मिलती है, यह कहना सर्वथा समीचीन होगा।

योगवासिष्ठ एवं अद्वैतवाद

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन, धर्म एवं आचार शास्त्र का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अद्वैतवाद एवं उनके पोषक अनेक सिद्धान्तों का विशद विवेचन मिलता है। यहां हम योगवासिष्ठ के कतिपय अद्वैतपरक सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।[७]

योगवासिष्ठ में परमार्थ सत्य ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म तत्व का विवेचन योगवासिष्ठ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का विवेचन करते समय लिखा है कि ब्रह्म सर्व प्रकार की शक्तियों से युक्त है। वह सर्ववस्तुमय है तथा उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों की नेति नेति की शैली में, योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को अवर्णनीय भी सिद्ध किया गया है।[८] योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार एक मात्र ब्रह्म

---

१. जीवः शिवः शिवो जीवः सजीवः केवलः शिवः (कुलार्णव तन्त्र, ९।२२)।
२. परात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते। (गन्धर्व तन्त्र) (झा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ९६ से उद्धृत)।
३. ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः (कुलार्णव तन्त्र ९।३०)
४. ज्ञानादेवविमुक्तिः स्यान्नान्यथावीरवन्दिते। (कुलार्णव तन्त्र १।१०५)
५. मुमुक्षुश्चिन्तयेल्लीनां प्रकृतिं परमात्मनि। (गन्धर्व तन्त्र)
६. परोपि शक्तिरहितः शक्त्या शक्तो भवेद्यदि।
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्तः शक्त एवहि॥ वामकेश्वर तन्त्र
(झा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ९७ से उद्धृत)
७. देखिए योगवासिष्ठ ६।१४।८।
८. योगवासिष्ठ ५।७२।४१ तथा देखिए ५।७२।४२, ५।७२।४३।

की ही अद्वैतात्मक सत्ता सिद्ध की गयी है।

जीव का स्वरूप—योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत जीव की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ब्रह्म में ही कल्पित है। योगवासिष्ठकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परब्रह्म में स्वतः ही इस प्रकार की कल्पना का उदय होता है कि 'मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ।' यही केन्द्र जीव कहलाता है। काल्पनिक चन्द्र के समान वह जीव सत्य न होता हुआ भी सत्य प्रतीत होता है।[१] जीव के बन्धन का मूल उसका संकल्प है। योगवासिष्ठकार का कथन है कि जिस प्रकार शृंखलाबद्ध सिंह विवश होता है उसी प्रकार जीव भी अपने ही संकल्पों द्वारा रचित विषयों की अग्नि में पड़कर विवश हो जाता है।[२] जब जीव के यह वासनाजन्य संकल्प नष्ट हो जाते हैं तो वह शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है।

योगवासिष्ठ का कल्पनावाद—जहां शांकर अद्वैतवाद में जगत् के स्वरूप का विवेचन करने के लिए मायावाद सिद्धान्त की अवतारणा की गई है, वहां योगवासिष्ठ का प्रमुख सिद्धान्त कल्पनावाद है। कल्पनावाद के सिद्धान्त के अनुरूप समस्त जगत् कल्पनामात्र है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति काल का त्रिविध जगत् मन के मनन से ही निर्मित है।[३] जिस प्रकार कि कुम्भकार घट का निर्माण करता है तथा उसे भग्न करता है उसी प्रकार मन ही रूप (विषय), आलोक (संवेदन), मनस्कार (मन का विचार) तत्ता (पदार्थ का तात्विक रूप) एवं काल और क्रिया सम्पन्न जगत् का निर्माण तथा विनाश कर्ता है।[४] जागतिक पदार्थों के अतिरिक्त देश और काल की सत्ता भी मानसिक कल्पना पर ही आधारित है।[५] यही नहीं, देश और काल का परिमाण भी कल्पना पर ही आश्रित है। इसलिए तो कभी-कभी व्यक्ति को निमेष, कल्प सदृश और कल्प निमेष सदृश वर्तित होते दिखाई पड़ते हैं। यही कारण तो था कि हरिश्चन्द्र को एक रात्रि द्वादश वर्ष की हो गई थी।[६]

पदार्थों का कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि जिस प्रकार बालक को प्रेत न होते हुए भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि पदार्थ असत् होते हुए सत् के समान प्रतीत होते हैं।[७] इस प्रकार जगत् के भौतिक तत्वों को भी कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शशशृंग के समान पूर्णतया असत् हैं। जहां तक जगत के स्थूल रूप से दर्शन की समस्या है, योगवासिष्ठकार का तर्क है कि मानसिक देह ही चिरकाल की भावना के अभ्यास के कारण भौतिक शरीर का रूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है।[८] इस प्रकार मानसिक कल्पना ही जड़ता का रूप धारण

जीव को अविद्या कल्पित मानते हैं। सूत्रकार ने काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते हुए कहा है : काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्या कल्पित भेद से ब्रह्म ही जीव रूप से स्थित है—अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः— (ब्र० सू० १।४।२२) शंकराचार्य ने आचार्य काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है।[1]

औडुलोमि—औडुलोमि का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के अन्तर्गत तीन स्थानों पर किया गया है।[2] आचार्य औडुलोमि के मतानुसार भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुसार है। औडुलोमि के मत के अनुसार संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, परन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में औडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

> "जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादि साधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसंघातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोपक्रमणम्। पुनर्भुक्त भवति-नदिस्यन्द-न्यनभेदनुपाचाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः।" (भामती)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में मूलतः ऐक्य ही है। जब जीव ज्ञानादि साधनों के अनुष्ठान से देहादि के संघात से ऊपर उठ जाता है तो इस स्थिति में जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आगामी अभेद के आधार पर भेद काल में भी अभेद ही मानना चाहिए। औडुलोमि के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—

> औडुलोमि पक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते
>
> (ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार्य औडुलोमि का मत है कि जीवों के चैतन्य रूप होने से चैतन्यरूप से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं।[3]

काष्र्णाजिनि—आचार्य काष्र्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।९) तथा मीमांसा सूत्र (४।३।१७), दोनों में उपलब्ध होता है। काष्र्णाजिनि के मत का उल्लेख व्यास देव ने अपने मत के समर्थन में तथा जैमिनि ने उनके मत का खण्डन करने के लिए किया है।[4] इस प्रकार काष्र्णाजिनि वेदान्त के ही आचार्य प्रतीत होते हैं।

आत्रेय—आचार्य आत्रेय का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।४।४४) मीमांसा सूत्र (४।३।१८, ६।१।२६) तथा महाभारत (१३।१३७।३) में उपलब्ध होता है। आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। ब्रह्मसूत्रकार ने निम्नोद्धृत सूत्र में आत्रेय के उक्त मत को ही उद्धृत किया है—'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (ब्र० सू० ३।४।४४) अतः आत्रेय के मतानुसार सारी उपासनाएँ यजमान को करनी चाहिएं, न कि पुरोहित को।[5] महाभारत (१३।१३७।३) में आत्रेय का नाम निर्गुण ब्रह्म विद्या के उपदेष्टा के रूप में मिलता है। किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि

---

1. तत्काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२।
2. ब्र० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६।
3. वही, ४।४।६।
4. वेदान्तांक (कल्याण) पृ० ६३१।
5. तस्मात् स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेयः। (ब्र० सू०, शां० भा० ३।४।४४)।

ब्रह्मसूत्रोक्त आत्रेय उनसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

आश्मरथ्य—आश्मरथ्य के नाम का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के दो सूत्रों (ब्र० सू० १।२।२९, १।४।२०) तथा मीमांसा सूत्र (६।५।१६) में मिलता है। आश्मरथ्य के मत के अनुसार परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रादेश मात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। आश्मरथ्य का वैकल्पिक मत यह है कि हृदयादि उपलब्धि स्थानों अर्थात् प्रदेशों में परमेश्वर की उपलब्धि विशेष रूप से होने के कारण भी परमेश्वर को प्रादेश मात्र कहा जा सकता है। आश्मरथ्य के मतानुसार विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। शंकराचार्य ने आश्मरथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्य-कारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति मन्यते।
>
> (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त कथन के अनुसार आश्मरथ्य के मत में यद्यपि जीव परमात्मा से अभिन्न है, तो भी प्रतिज्ञासिद्धि से सापेक्षत्व का अभिधान है। इससे यत्किंचित् कार्यकारणभाव इष्ट ही है। आश्मरथ्य के भेदाभेदवाद की पुष्टि परवर्ती काल में यादव प्रकाश ने भी की थी।[2]

काश्यप—ब्रह्मसूत्र में तो काश्यप का उल्लेख नहीं है परन्तु शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र (नामैश्वर्यपरां काश्यपपरत्वात्, २९) में शाण्डिल्य की चर्चा मिलती है। शाण्डिल्य के मतानुसार काश्यप भेदवादी थे तथा बादरायण अभेदवादी।

शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र के अतिरिक्त महाभारत (१३।३१९।५९) में भी काश्यप का उल्लेख मिलता है। अभिनव गुप्त आचार्य ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में एक काश्यप का उल्लेख किया है। हृदयंगमा नामक ग्रन्थ में काश्यप तथा वररुचि प्रभृति के लक्षण शास्त्र का उल्लेख मिलता है। राजा नान्यदेव ने स्वनिर्मित सरस्वती हृदयालंकार नामक नाट्य शास्त्र की टीका में स्थान-स्थान पर काश्यप का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त नान्यदेव की उक्त रचना में ही एक बृहत्काश्यप का उल्लेख भी प्राप्त होता है। चित्रविद्या में कुशल काश्यप की चर्चा भी कहीं-कहीं मिलती है।[2] मेरे विचार से शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र में चर्चित काश्यप उपर्युक्त काश्यपों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त ऋषियों के अतिरिक्त जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार किया था उनमें असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं। इस दिग्दर्शन से केवल इतना कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के पूर्ववर्ती प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों में भी वेदान्त दर्शन की यत् किंचित् धारणा वर्तमान थी। इस धारणा का आधार कोई सिद्धान्त विशेष न होकर व्यक्तिगत स्वतन्त्र अनुभूति मात्र था। अतः इन उपर्युक्त प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों के दार्शनिक विचारों में अद्वैत वेदान्त के अस्पष्ट बीज ही देखे जा सकते हैं।

---

१. अच्युत, पृष्ठ ५, संवत् १९९३ में प्रकाशित।
२. देखिए, अच्युत, पृष्ठ ६-७ पर टिप्पणी।

जीव को अविद्या कल्पित मानते हैं। सूत्रकार ने काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते हुए कहा है : काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्या कल्पित भेद से ब्रह्म ही जीव रूप से स्थित है—**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**— (ब्र० सू० १।४।२२) शंकराचार्य ने आचार्य काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है।[१]

औडुलोमि—औडुलोमि का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के अन्तर्गत तीन स्थानों पर किया गया है।[२] आचार्य औडुलोमि के मतानुसार भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुसार है। औडुलोमि के मत के अनुसार संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, परन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में औडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादि साधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसंघातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोत्क्रमणम्। एतदुक्तं भवति-भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः।" (भामती)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में मूलतः ऐक्य ही है। जब जीव ज्ञानादि साधनों के अनुष्ठान से देहादि के संघात से ऊपर उठ जाता है तो इस स्थिति में जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आगामी अभेद के आधार पर भेद काल में भी अभेद ही मानना चाहिए। औडुलोमि के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचर्य ने कहा है—

औडुलोमि पक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते

(ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार्य औडुलोमि का मत है कि जीवों के चैतन्य रूप होने से चैतन्यरूप से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं।[३]

कार्ष्णाजिनि—आचार्य कार्ष्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।९) तथा मीमांसा सूत्र (४।३।१७), दोनों में उपलब्ध होता है। कार्ष्णाजिनि के मत का उल्लेख व्यास देव ने अपने मत के समर्थन में तथा जैमिनि ने उनके मत का खण्डन करने के लिए किया है।[४] इस प्रकार कार्ष्णाजिनि वेदान्त के ही आचार्य प्रतीत होते हैं।

आत्रेय—आचार्य आत्रेय का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।४।४४) मीमांसा सूत्र (४।३।१८, ६।१।२६) तथा महाभारत (१३।१३७।३) में उपलब्ध होता है। आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। ब्रह्मसूत्रकार ने निम्नोद्धृत सूत्र में आत्रेय के उक्त मत को ही उद्धृत किया है—स्वामिनः फलश्रुते रित्यात्रेयः' (ब्र० सू० ३।४।४४) अतः आत्रेय के मतानुसार सारी उपासानाएं यजमान को करनी चाहिएं, न कि पुरोहित को।[५] महाभारत (१३।१३७।३) में आत्रेय का नाम निर्गुण ब्रह्म विद्या के उपदेष्टा के रूप में मिलता है। किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि

---

१. तत्रकाशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२।
२. ब्र० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६।
३. वही, ४।४।६।
४. वेदान्तांक (कल्याण) पृ० ६३१।
५. तस्मात् स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेयः। (ब्र० सू०, शां० भा० ३।४।४४)।

तृतीय अध्याय

अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्ती आचार्य और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज

हम अद्वैत वेदान्त-दर्शन का अव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करते समय पिछले अध्याय में कुछ बादरि प्रभृति प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहां केवल यही कथ्य है कि उक्त आचार्यों के यत्र-तत्र प्राप्त विचारों में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन न मिलकर विभिन्न दर्शन पद्धतियों के बीज मात्र ही मिलते हैं। इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ अन्य आचार्य भी मिलते हैं जिनकी रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचारदृष्टि का संकेत मिलता है। इस स्थल पर शंकराचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों की व्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया जायेगा।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्त के जो आचार्य मिलते हैं उनमें बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी या कपर्दिक, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी या ब्रह्मानन्दी, टंक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दर पाण्ड्य और गौड़पादाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां इन आचार्यों की रचनाओं एवं दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

बोधायन—बोधायन उपर्युक्त आचार्यों में सर्वाधिक प्राचीन थे। इनका काल लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इन्होंने बादरायण के ब्रह्म सूत्र पर एक विस्तीर्ण वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख डा० थीबो ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका के अन्तर्गत किया है।[१] इसी वृत्ति का नाम कृतकोटि है।[२] रामानुज का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और जैमिनि का मीमांसा दर्शन इसी वृत्ति पर आधारित बतलाया जाता है।[३] परन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी का कहना है कि बोधायन ने मीमांसा सूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी।[४] यही वृत्ति जैमिनि के मीमांसा सूत्र का आधार रही होगी।

उपवर्ष—यह कहा जाता है कि उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमांसा सूत्र दोनों पर ही वृत्ति लिखी थी। उपवर्ष की चर्चा शाबरभाष्य (मी० सू० १।१।५) तथा शांकर भाष्य (३।३।५३) में उपलब्ध होती है।

---

१. S.B.E. Vol. XXXIV, p. 21, तथा देखिए—*Sukhtankar* : The Teachings of Vedanta According to Ramayana, p. 9.

२. देखिए त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित 'प्रपंच हृदय,' पृ० ३९।

३. *B. Bhattacharya* : Agam Shastra of Gaudapada (Introduction), p. CVIII.

४. Journal of the American Oriental Society-1911, p. 17.

गुहदेव और कपर्दी—रामानुज के वेदार्थ संग्रह[१] और श्रीनिवासदास की यतीन्द्रमत दीपिका[२] में गुहदेव, कपर्दी और भारुचि का नाम वेदान्त के विद्वानों के रूप में मिलता है। प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि रामानुज ने गुहदेव और कपर्दी की गणना शिष्ट जनों में की है, इसलिए ये दोनों विद्वान् विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक रहे होंगे।[३]

भारुचि—विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा (१।१८, २।१२४) और माधवाचार्य ने पाराशर संहिता[४] की टीका में भारुचि को धर्मशास्त्र का लेखक बतलाया है। सरस्वती विलास (पैराग्राफ १३३) में भी धर्मशास्त्रकार भारुचि का उल्लेख मिलता है। इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र पर भी एक टीका लिखी थी। परन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्ती भारुचि तथा धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही थे। यदि दोनों को एक ही मान लिया जाए तो इनका समय नवम शती के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है।[५]

भर्तृहरि—बौद्ध दर्शन के अनुयायी चीनी यात्री इत्सिंग, जिसने भारत की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी, का कथन है कि लगभग चालीस वर्ष पहले भारतवर्ष में भर्तृहरि नाम के एक महान् वैयाकरण की मृत्यु हुई थी।[६] मैक्समूलर ने भी भर्तृहरि का देहावसान सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अन्त ही माना है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। परन्तु अब अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर इस मत का निराकरण हो चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि भर्तृहरि वेदान्ती ही थे।[७] काश्मीरी शैवदर्शन के लेखक सोमानन्द एवं उत्पल ने स्फोटवाद सिद्धान्त की आलोचना करते हुए भर्तृहरि को उद्धृत किया है, तथा उन्हें अद्वैतवादी कहा है।[८] आचार्य चित्सुख की तत्वप्रदीपिका के टीकाकार प्रत्यग्रूप ने भर्तृहरि को ब्रह्मवित् प्रकाण्ड कहा है। यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ५) में भर्तृहरि का उल्लेख वेदान्त के लेखकों के अन्तर्गत किया गया है।

भर्तृहरि की प्रसिद्ध रचना शब्द ब्रह्मवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है। वाक्यपदीय का प्रमुख सिद्धान्त शब्दब्रह्मवाद अथवा शब्दाद्वैतवाद है। किसी-किसी आचार्य का मत यह भी है कि भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद का प्रधानतया अवलम्बन करके मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि

---

१. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४।
२. यतीन्द्र मत दीपिका, पृ० २ (पूना संस्करण)।
३. Agam Sastra of Gaudapada (Introduction), p. CIX.
४. पाराशर संहिता, पृ० ५१० (बाम्बे, संस्कृत सिरीज संस्करण)।
५. *P.V. Kane* : History of Dharma Sastra, Vol. I, p. 265; *B. Bhattacharya* : Agam Sastra of Gaudapada, p. CIX.
६. *Dr. C. Kunhan Raja's* Article— I-tsing & Bhartrhari's Vakyapadiya, Dr. Krishna Swami Aiyangar Commemoration Volume, pp. 293-298.
७. *T.M.P. Mahadevan* : Gaudapada, p. 228.
८. *K. Madhava Krishnan Sarma's* article—Bhartrahari not a Buddhist, Poona Orientalist Vol. No. 1 (1940), p. 1.

नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था।[१] उत्पलाचार्य के गुरू काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने अपने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेष समालोचना की है। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षितकृत 'तत्त्व संग्रह', अविमुक्तात्माकृत 'इष्ट सिद्धि' तथा जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि इस मत में पश्यन्ती वाक् ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत होती थी। सूर्य नारायण शुक्ल ने भाव प्रदीप नामक अपनी वाक्य पदीय की टीका में परावाक् को ही ब्रह्म कहा है। शुक्ल जी का उक्त विचार निम्न कथन में स्पष्ट है—

'शब्दब्रह्म वादिनस्तु (परावाक्) एवं ब्रह्म तदेव अविद्यया नानारूपं भासते इति प्राहुः

(भावप्रदीप, वाक्यपदीय, 'ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १३२)

उपर्युक्त वाक्य से ही यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रूपों में भासित होता है। यही दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की भी है। तत्वदीपिकाकार ने भी भर्तृहरि को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी स्वीकार किया है। उमामहेश्वर कृत 'तत्वदीपिका' में लिखा है—

महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाभ्युपगच्छति।

इस प्रकार भर्तृहरि निश्चित ही शब्द ब्रह्माद्वैतवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं।

भर्तृमित्र—जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' (पृ० २१३-२२६) तथा यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' (पृ० ४, ५) में भर्तृमित्र का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने अपने 'श्लोक वार्तिक' (१।१।१।१०, १।१।६।१३०-१३१) में भी भर्तृमित्र की चर्चा की है। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि मिश्र की अपनी न्यायरत्नाकर नाम की टीका में भी भर्तृमित्र कृत 'मीमांसा सूत्र' की टीका का उल्लेख मिलता है।[२] वैष्णव ग्रन्थोंमें वर्णित भर्तृमित्र तथा मीमांसा शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित भर्तृमित्र एक ही हैं, यह कहना कठिन है। मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधा वृत्ति मातृका' ग्रन्थ में भी भर्तृमित्र का उल्लेख किया है।[३]

ब्रह्मनन्दी—मधुसूदन सरस्वती ने अपनी संक्षेपशारीरक की टीका (३।२१७) में ब्रह्मनन्दी को वाक्यकार कहा है। ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य लिखे थे और इन वाक्यों पर भाष्य लिखा था द्रविड़ाचार्य ने।[४] ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ का उल्लेख संक्षेप शारीरक की अन्वयार्थप्रकाशिका टीका में भी मिलता है।[५] आचार्य भास्कर के मतानुसार ब्रह्मनन्दी परिणामवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।[६] इसके विपरीत मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार ब्रह्मनन्दी अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[७] ब्रह्मनन्दी विवर्तवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।

---

१. अच्युत, पृ० ११।
२. Agam Sastra of Gaudapada, p. CX.
३. अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १७ (निर्णयसागर, बम्बई)।
४. *K.B. Pathak* : Commemoration Volume, pp. 157-158.
५. अन्वयार्थप्रकाशिका, संक्षेप शारीरक ३।२२१।
६. भास्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र १।४।२५।
७. संक्षेप शारीरक ३।२१७।

टंक—राजानुजाचार्य के 'वेदार्थ संग्रह' (पृ०१५४) में टंक का उल्लेख मिलता है। टंक विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं।

द्रविडचार्य—द्रविडाचार्य का उल्लेख भारतीय दर्शन के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को माण्डूक्योपनिषद् कारिका भाष्य में आगमवित् कहा है तथा द्रविडाचार्य के 'सिद्धंतुनिवर्तकत्वात्' सूत्र को उद्धृत किया है।[१] उक्त स्थल पर शंकराचार्य के भाष्य पर टीका करते हुए आनन्दगिरि ने द्रविडाचार्य के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार वे अद्वैतवादी प्रतीत होते हैं। इस मत के अनुसार द्रविडाचार्य स्वाभाविक द्वैत के अभाव बोधन के द्वारा अध्यस्त जगत् की निवृत्ति मानते हैं।[२] इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य ने आचार्य द्रविड को 'सम्प्रदायवित्' कहा है।[३] ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्योपनिषद् पर जो वाक्य लिखे थे उनपर द्रविडाचार्य ने भाष्य रचना की थी। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी द्रविडाचार्य का भाष्य बतलाया जाता है।

उपर्युक्त वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। रामानुजाचार्य ने अपने वेदार्थ संग्रह में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख किया है।[४] सिद्धित्रय में यामनु आचार्य ने भी—'भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता' कहकर 'भाष्यकृता' शब्द से द्रविडाचार्य का ही संकेत किया है। किसी-किसी विद्वान् का यह भी मत है कि द्रविड संहिताकार अलवर, शठकोप अथवा बकुलाभरण ही वैष्णव ग्रन्थों में द्रविड़ाचार्य के नाम से विख्यात हैं।[५] सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप शारीरक (३।२२१) के अन्तर्गत जिन भाष्यकार का उल्लेख किया है उससे द्रविडाचार्य का ही तात्पर्य है।

ब्रह्मदत्त—ब्रह्मदत्त की रचनाओं एवं उनके स्थिति काल का निर्णय अत्यन्त दुष्कर[६] है। शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्तियों में ब्रह्मदत्त का प्रमुख स्थान है। उनके नाम एवं मत का उल्लेख वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वेदान्तदेशिकाचार्य ने तत्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मदत्त का जो मत दिया है उसके अनुसार वे जीव को अनित्य तथा एक मात्र ब्रह्म को नित्य पदार्थ मानते हैं।[७] सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं।[८] परन्तु ब्रह्मदत्त आत्मज्ञान में उपासनाविधि का श्रेय मानते हैं।[९]

ब्रह्मदत्त कर्म और ज्ञान के समुच्चय के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। ब्रह्मदत्त के मतानुसार

---

१. सिद्धं तु निवर्तकत्वात्—इत्यागमविदां सूत्रम् (मा० का०, शा० भा० २।३२)।
२. देखिये मा० का० २।३२ पर आनन्द गिरि की टीका।
३. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० २९७ (पूना संस्करण)।
४. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४ (काशी संस्करण)।
५. अच्युत, पृ० १७।
६. *Hiriyanna's* article— Brahmadutta: & Old Vedantin, J.O.R.M. 1928, pp. 1-9.
७. सर्वार्थसिद्धि २।१६।
८. नैष्कर्म्य सिद्धि १।६८।
९. देखिये, नैष्कर्म्य सिद्धि १।६७।

साधक को पहले उपनिषद् के द्वारा ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ करना चाहिए। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में ब्रह्मदत्त कर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मदत्त का ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद है। ज्ञानोत्तम ने ब्रह्मदत्त को नैष्कर्म्य सिद्धि की टीका में ज्ञानसमुच्चयवादी सिद्ध करते हुए कहा है—

वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृतेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः (ज्ञानोत्तमः चन्द्रिका, नैष्कर्म्यसिद्धि १।६७)

भर्तृप्रपंच—भर्तृप्रपंच भी वेदान्त के एक प्राचीन आचार्य थे। संक्षेप शारीरक के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती के निम्नलिखित वाक्य के अनुसार भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भी प्रतीत होते हैं।

कैश्चित् तत् सूत्रं व्याचक्षाणै भर्तृप्रपंचादिभिः।[1]

यामुनाचार्य ने अपने सिद्धित्रय में भी भर्तृप्रपंच को वेदान्त दर्शन का लेखक स्वीकार किया है। आनन्द गिरि ने वृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए सुरेश्वर के वार्तिकों की व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर भर्तृप्रपंच का उल्लेख किया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रणेता तो प्रतीत होते ही हैं, साथ ही कठोपनिषद् तथा वृहदारण्यक उपनिषद् पर भी उनका भाष्य बतलाया जाता है।[2] कुछ विद्वानों ने भर्तृप्रपंच के कतिपय लेखांशो को संकलित करने का भी प्रयत्न किया है।[3]

भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त—भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। भर्तृप्रपंच के भेदाभेदवाद के अनुसार परमार्थ में एकत्व भी है और अनेकत्व भी। परमार्थ, ब्रह्म रूप में एक है और जगत् रूप में नाना। भर्तृप्रपंच के मत में जीव नाना तथा परमात्मा एकदेश मात्र हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरंग के समान द्वैतमय है। ब्रह्म में अनेक जीवों की सत्ता होने के कारण ही वह अनेक रूप है और मूलतः ब्रह्मरूप में वह एक रूप ही है। ब्रह्मरूप में वह अभेद, अद्वैत एवं एक है परन्तु अनेक जीवों के रूप में वह भेदपूर्ण, द्वैतमय एवं अनेक रूप है। इसीलिए भर्तृप्रपंच का उक्त सिद्धान्त भेदाभेदवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा अनेकान्तवाद के नाम से प्रख्यात है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा में एकत्व के साथ अनेकत्व की कल्पना करके भर्तृप्रपंच ने ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की स्थापना की है। परमात्मा के एकत्व की स्थापना के द्वारा उन्होंने मोक्ष की साधिका ज्ञानमीमांसा पर वल दिया है और दूसरी ओर परमात्मा में अनेकत्व की कल्पना के द्वारा कर्मकाण्ड पर आश्रित लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों की महत्ता को पुष्ट किया है। भर्तृप्रपंच के उक्त दार्शनिक विचार की अभिव्यक्ति शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (ब्र० सू०, शां० भा० २।१।१४) के अन्तर्गत स्पष्ट की है।

---

१. देखिये, मधुसूदन सरस्वती की टीका 'संक्षेप शारीरक', १।७ पर।

२. अच्युत, पृ० ८।

३. देखिए, हिरियन्ना का लेख—Indian Antiquary 1924, pp. 76-86 के अन्तर्गत तथा देखिए, Proceedings and Transactions of the Third Oriental Conference, Madras 1925, p. 139.

भर्तृप्रपंच का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त—भर्तृप्रपंच की दृष्टि में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की तरह ही मुक्ति के दो रूप मिलते हैं—एक अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग एवं दूसरा परामुक्ति अर्थात् ब्रह्मभावापत्ति। अपरमोक्ष मनुष्य को इसी शरीर में आत्मसाक्षात्कार होने पर होता है। यह जीवन्मुक्ति के ही समान है। इसके विपरीत परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति देहपात होने पर होती है।[1] यही विदेह मुक्ति की अवस्था है।

भर्तृप्रपंच का परिणामवाद—भर्तृप्रपंच परिणामवाद को भी स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार ब्रह्म का परिणाम अधोलिखित तीन प्रकार से उपलब्ध होता है—

(१) अन्तर्यामी तथा जीव रूप में; (२) अव्याकृत, सूत्र विराट् तथा देवता रूप में; (३) जाति तथा पिण्डरूप में।

इस प्रकार ब्रह्म की उपर्युक्त अन्तर्यामी आदि आठ अवस्थायें सिद्ध होती हैं।

भर्तृप्रपंच का प्रमाणसमुच्चयवाद—भर्तृप्रपंच की दृष्टि में लौकिक एवं वैदिक दोनों ही प्रकार के प्रमाणों की सत्यता है। इसीलिए वे प्रमाण समुच्चयवादी कहलाते हैं।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भर्तृप्रपंच के दार्शनिक सिद्धान्त को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है— (१) राशित्रयवाद (२) अनेकान्तवाद (३) परिणामवाद और (४) मोक्ष निरूपण।

प्रथम राशित्रयवाद को छोड़कर अन्य तीन सिद्धान्तों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। राशित्रयवाद के अनुसार उपाध्याय जी ने परमात्मा को उत्तम राशि, जीव को मध्यम राशि और शेष मूर्तामूर्त जगत् को अधम राशि कहा है।

सुन्दर पाण्ड्य—सुन्दर पाण्ड्य दक्षिण भारत के मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के विद्वान् थे। यह अनुमान किया जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य से सम्बन्धित कारिकाबद्ध वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत तो नहीं मिलता, परन्तु विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य ने समन्वयाधिकरण के भाष्य के अन्त में (ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४) जो निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे सुन्दर पाण्ड्य के वार्तिक ग्रन्थ से ही उद्धृत हैं :

अपि चाहु :

> गौणमिथ्यात्मनो सत्वे पुत्रदेहादि बाधनात्।
> सद् ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
> अन्वेष्टव्यात्म विज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
> अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पापदोषादि वर्जितः॥
> देहात्मप्रत्ययो यद् वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
> लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥

(ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४ में उद्धृत)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्म ज्ञान का उदय नहीं होता, उस समय तक समस्त प्राणियों एवं विधियों की सार्थकता है। जहाँ तक आत्म वस्तु का सम्बन्ध है वह न हेय है और न उपादेय। अद्वैत दृष्टि के अनुसार आत्मा के बोध में प्रमाण

---

१. अच्युत, पृ० १०।
२. देखिए, वेदान्तांक (कल्याण) में भर्तृप्रपंच का अद्वैत सिद्धान्त नामक लेख, पृ० ३३२।

की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मबोध की स्थिति में प्रमाता एवं विषय की सत्ता नहीं रहती। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु नरसिंह स्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप द्वारा रचित पद्मपाद की पंचपादिका की टीका प्रबोध परिशोधिनी के अनुसार उपर्युक्त श्लोक सुन्दर पाण्ड्य कृत ही बतलाए जाते हैं। माधव मन्त्रिकृत सूतसंहिता की तात्पर्य दीपिका नाम की टीका में भी यह उल्लेख मिलता है कि उपर्युक्त शंकराचार्य द्वारा उद्धृत श्लोकों में तृतीय श्लोक—'देहात्मप्रत्ययो'''निश्चयात्' सुन्दरपाण्ड्य कृत वार्तिक से उद्धृत है। अमलानन्द के कल्पतरु (३।३।२५) के अन्तर्गत सुन्दर पाण्ड्य के 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' आदि और तीन वचन तथा तन्त्र वार्तिक (बनारस संस्करण, पृष्ठ ८५२-८५३) में उक्त तीन तथा 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो, यों पांच वचन उद्धृत किये हैं। 'न्यायसुधा' (पृष्ठ १२२८) के अन्तर्गत उक्त पांच श्लोक 'वृद्धानाम्' के नाम से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य के वार्तिक के प्रमाण संकेत उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में तो सुन्दर पाण्ड्य राजा नेडूमारण नायनर का नामान्तर है।[1] इसके विपरीत कुछ विद्वानों के अनुसार यह पाण्ड्यराज कुब्जवर्धन या कुलपाण्ड्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे। कतिपय विद्वानों का विचार है कि प्रसिद्ध शैव आचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समसामयिक थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दर पाण्ड्य ने जैन धर्म को छोड़कर शैव धर्म को स्वीकार किया था। यह भी उल्लेख मिलता है कि सुन्दर पाण्ड्य ने चोल-राजकुमारी से विवाह किया था।[2]

इस प्रकार सुन्दर पाण्ड्य एवं उनके दार्शनिक मत के सम्बन्ध में अनेक मतवाद मिलते हैं।

ऊपर हमने जिन शंकराचार्यपूर्ववर्ती आचार्यो की चर्चा की है उनमें कतिपय ही ऐसे हैं जिनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे हैं जिनकी रचानाओं के कुछ संकेत मात्र ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अतः भर्तृहरि आदि कतिपय को छोड़कर अन्य आचार्यों के दार्शनिक मतों का उल्लेख विभिन्न टीकाओं, भाष्यों एवं अन्य विविध ग्रन्थों में प्राप्त संकेतों के आधार पर ही किया गया है। अतः यहां यह निर्देश करना उपयुक्त होगा कि उक्त आचार्यों के मतों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीज मात्र ही उपलब्ध होते हैं। अब यहां शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रधान गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

गौडपादाचार्य का दर्शन

प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौडपादाचार्यके दर्शन में ही उपलब्ध होता है। गौडपादाचार्य का प्रमुख दर्शन ग्रन्थ गौडपादकारिका है। 'गौडपादाचार्य' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभाव उनके प्रशिष्य शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त, अद्वैतवाद, पर भी पूर्ण

---

१. देखिए—महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा लिखित लेख—
Some problems of Identity in the Cultural History of Ancient India (Journal of Oriental Research, Madras, Vol. I).

२. देखिए—अच्युत, पृष्ठ १८ पर पादटिप्पणी।

रूप से पड़ा है। डाक्टर वलेसर,[1] जैकोबी,[2] एवं डाक्टर दास गुप्त[3] आदि कुछ विद्वानों ने गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव ढूंढ़ने की चेष्टा की है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

गौडपादाचार्य द्वारा अद्वैत तत्व का प्रतिपादन

औपनिषद दर्शन के अनुसार गौड़पादाचार्य विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ को आत्मा के विभिन्न रूपों में न स्वीकार करके एक ही स्वीकार करते हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार उपर्युक्त तीन स्वरूप एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं—(एक एवत्रिधास्मृतः, गौ० का० १।१)। यही आत्मा अद्वैत ज्ञान-स्वरूप एवं सर्वव्यापक है। (अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः, गौ० का० १।१०)। अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सुप्त जीव अज्ञान निवृत्ति होने पर जब प्रबुद्ध होता है तभी अज, अनिद्र, अस्वप्न एवं अद्वैत तत्व का बोध होता है।[4] इस प्रकार शांकर वेदान्त की तरह आचार्य गौडपाद की दृष्टि से द्वैत जगत् की सत्ता मायिक ही है। माया अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होने से तत्व ज्ञान होने पर प्रपंचमय द्वैत जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है—ज्ञाते द्वैतं न विद्यते (गौ० का० १।१८)।

परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म को अद्वैत तत्व के रूप में स्वीकार करके ब्रह्म तत्व का विस्तार से विवेचन किया गया है। गौडपादाचार्य ने प्रणव अर्थात् ओंकार को ब्रह्म रूप ही माना है। (प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्, गौ० का० १।२५)। प्रणव रूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रणव ही अपर, पर, अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य अनपर तथा अव्यय रूप है। प्रणव ही सर्व प्रपंच का आदि, मध्य तथा अन्त है।[5]

ब्रह्म का स्वभाव—जो ब्रह्म जिज्ञासु का ज्ञेय है उसे गौडपादाचार्य ने अज तथा नित्य कहा है—'ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यं' (गौ० का० ३।३३) यही शान्त तथा अद्वयरूप[6] तत्व है तथा प्रत्येक स्थिति में समान[7] है। ब्रह्म स्वभाव से स्वस्थ, शान्त[8] तथा विशुद्ध रूप[9] है। आचार्य गौडपाद ने ब्रह्म को अनिद्र, अस्वप्न, नाम रूप से रहित, सकृद्विभात तथा सर्वज्ञ कहा है।[10]

---

१. डा० वलेसर के मत के लिये देखिए—J. R. A. S. (1910) p. 1363.
२. जैकोबी के मत के लिये देखिए—J. O. S. (1913), pp. 52, 54.
३. डा० दास गुप्त के मत के लिए देखिए—Indian Philosophy, Vol. 1, p. 423.
४. अनादिमायया सुप्तो, यदा जीवः प्रबुद्धते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ गौ० का० १।१६।
५. गौ० का० १।२५, २६।
६. शान्तमद्वयम्, गौ० का० ४।४५।
७. समतांगतम्, गौ० का० ३।२।३८।
८. स्वस्थं शान्तम्, वही, ३।४७।
९. वही, ४।९३।
१०. वही, ३।३५।

ब्रह्म दर्शन के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अनुत्तम सुख एवं निर्वाण रूप है।[२] एक कारिका के अन्तर्गत परमार्थ तत्व का वर्णन करते हुए कहा है कि परमार्थ दृष्टि से न किसी का प्रलय है न किसी की उत्पत्ति, न कोई बद्ध है तथा न कोई साधक। इस प्रकार तो मुमुक्षु एवं मुक्त का भेद भी मिथ्या ही है।[३]

उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया है उसका पूर्ण समर्थन तब तक एकांकी ही कहा जाएगा जब तक कि जगत् के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य के दृष्टिकोण का अध्ययन न किया जाए। गौडपादाचार्य के प्रशिष्य शंकराचार्य ने तो जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हुए उसका मिथ्यात्व सिद्ध किया था। गौडपादाचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए स्वप्न सादृश्य के आधार पर जगन्मिथ्यात्व का समर्थन किया है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगत् के स्वाप्निक मिथ्यात्व के सम्बन्ध में विचार करना उचित होगा।

गौडपादाचार्य द्वारा स्वप्न सादृश्य के आधार पर किया गया जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन

आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य एवं अलातशान्ति प्रकरण के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्नसिद्धान्त के आधार पर किया है। स्वाप्निक विषयों का मिथ्यात्व निष्पन्न करते हुए आचार्य ने वैतथ्य प्रकरण में कहा है कि स्वप्न काल के समस्त बाह्य एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होते हैं।[४] क्योंकि स्वप्नावस्था के पश्चात् जाग्रत् अवस्था में स्वाप्निक भावों की सत्यता नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए स्वप्न में गज या पर्वत देखने वाले व्यक्ति के लिए जाग्रत् अवस्था में गज या पर्वत की सत्ता नहीं देखी जाती। अतः स्वप्न काल के गज या पर्वत के भाव भी मिथ्या ही हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य गौडपाद ने कहा है कि स्वप्न में जो व्यक्ति अपने मित्रों से आलाप करता है वह जाग्रत् दशा में नहीं करता।[५] इसी प्रकार स्वाप्निक रथादि की सत्ता भी मिथ्या ही है।[६]

गौडपादाचार्य ने उपर्युक्त स्वप्न सिद्धान्त के आधार पर ही स्वाप्निक पदार्थों की सत्ता की तरह जाग्रत् जगत् की सत्ता को मिथ्या कहा है।[७] स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए आचार्य गौडपाद ने उक्त दोनों अवस्थाओं को एक ही कह दिया है—स्वप्न जागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः (गौ० का० २।५)।

शंकराचार्य ने गौडपादाचार्य के उपर्युक्त स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साम्य के

---

८. प्रभातं भवति स्वयम्, गौ० का ४।८१।
२. वही, ३।४७।
३. वही, २।३२।
४. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्नमाहुर्मनीषिणः, गौ० का० २।१।
५. मित्राद्यैः सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते। गौ० का० ४।३५।
६. गौ० का० २।३।
७. वही, २।४।

प्रतिपादक कथन (गौ० का० २।४) पर नैयायिक शैली में भाष्य करते हुए कहा है—

१—जाग्रद्दृश्यानां भावनां वैतथ्यम्—इति प्रतिज्ञा

अर्थात् जाग्रत अवस्था में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, यह प्रतिज्ञा है।

२—दृश्यत्वात्—इति हेतुः।

क्योंकि वे दृश्य हैं, यह हेतु है।

३—स्वप्न दृश्य भाववत्—इति दृष्टान्तः।

स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के समान मिथ्या हैं, यह दृष्टान्त है।

४—यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टम् इति हेतूपनयः।

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में देखी गई वस्तुएँ भी मिथ्या ही हैं। यह हेतूपनय है।

५—तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम्—इति निगमनम्

अर्थात् इसलिए जाग्रत् जगत् में देखी गई वस्तुएं मिथ्या हैं—यह निगमन है।[1]

उपर्युक्त भाष्य के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का साधर्म्य स्पष्ट है। परन्तु प्रकारान्तर से देखने पर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद भी दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन भी किया है।

शंकराचार्य द्वारा किया गया स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत विज्ञानवादी बौद्ध के मत को प्रस्तुत करते हुए और उसका खण्डन करते हुए कहा है कि—

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादि प्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया-विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति वक्तव्यम्। अर्थात् स्वप्नादि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थ के बिना ही हों, यह युक्त है, क्योंकि दोनों में प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थ के निषेध करने वाले ने जो कहा है उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

शंकराचार्य विज्ञानवादी के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं—**अत्रोच्यते—न स्वप्नादि प्रत्यय वज्जाग्रत् प्रत्यया भवितुमर्हन्ति।** अर्थात् स्वप्नकालिक प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते। अपने मत के समर्थन में हेतु प्रदर्शित करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—**कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः**—अर्थात् वैधर्म्य हेतु है। स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में वैधर्म्य है। इस वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—**किं पुनर्वैधर्म्यम्। बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य**

---

१. डा० राधाकृष्णन् ने नैयायिक शैली में किए गए उपर्युक्त प्रतिपादन का महत्व जैकोबी महोदय को दिया है। (देखिए, डाक्टर राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४३६ पर पादटिप्पणी) परन्तु शंकराचार्य ने तो उपर्युक्त विषय का नैयायिक शैली में प्रतिपादन जैकोबी से शतियों पूर्व कर दिया था। अतः नैयायिक शैली के प्रतिपादन का महत्व जैकोबी को देना उचित नहीं प्रतीत होता।

मिथ्यामयोपलब्धः महाजनसमागम इति, नह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मेमनो बभूव, तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। अर्थात् वैधर्म्य क्या है? बाध और अबाध। क्योंकि स्वप्न में उपलब्ध हुई वस्तु का जाग्रत् अवस्था में बाध होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो जाग्रत् में स्वप्न द्रष्टा को उस स्वप्न दृष्ट महाजन की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिए जाग्रत् अवस्था में वह स्वप्न द्रष्टा यही कहता है कि स्वप्न में महाजन समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। वास्तव में मुझे महाजन समागम नहीं हुआ। मेरे मन के निद्रा से ग्लानि युक्त होने के कारण मुझे यह भ्रान्ति हो गई थी।

स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था से भेद दिखलाते हुए शंकराचार्य ने कहा है—नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्येत।[1] अर्थात् जाग्रत अवस्था में जिन स्तम्भादि अवस्थाओं की उपलब्धि होती है उनका किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता।

उपर्युक्त रीति से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद की स्थापना करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मौलिक भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्न दर्शन का कारण स्मृति है और जाग्रत् अवस्था के दर्शन का कारण 'उपलब्धि'। स्मृति और उपलब्धि का प्रत्यक्ष भेद स्वतः अनुभव में आता है। वह भेद यह है कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है।[2] इस प्रकार शंकराचार्य ने स्पष्ट ही स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है।

समालोचना

अद्वैतवाद ग्रन्थ के लेखक गंगा प्रसाद ने शंकराचार्य के उपर्युक्त मत की आलोचना की है। गंगाप्रसाद प्रभृति कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन शंकराचार्य ने माण्डूक्य कारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्था के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उन्होंने योगाचार बौद्ध के मत का खण्डन (ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९) करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य की स्थापना करके माण्डूक्यकारिकाभाष्य वर्णी मत के विरोधी मत की स्थापना की है। इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद के समालोचक गंगाप्रसाद ने लिखा है—

"उन्होंने यह न सोचा कि हम अपने ही शब्दों में अपने मत का खण्डन कर रहे हैं"[3]

मेरे विचार से गंगाप्रसाद आदि का उपर्युक्त दृष्टि से शंकराचार्य के मत में विरोध ढूंढ़ना उचित नहीं प्रतीत होता। शंकराचार्य का माण्डूक्य कारिका भाष्य एवं ब्रह्मसूत्र भाष्य में भिन्न-भिन्न तात्पर्य है। माण्डूक्य कारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए जहां शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, वहां उनका उद्देश्य गौडपादाचार्य के इस मत का समर्थन करना है कि जाग्रत् जगत् के पदार्थ सत्य न होकर मिथ्या हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के पदार्थों का जाग्रत में बाध हो जाता है उसी प्रकार परमार्थावस्था में जाग्रत् अवस्था के पदार्थों का बाध हो जाता है। परमार्थावस्था में आत्मतत्व का बोध होने पर केवल आत्म तत्व की ही सत्ता सिद्ध होती है। अतः जहां आचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के साधर्म्य को

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९।

२. विशेष देखिए—ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२९।

३. गंगाप्रसाद, अद्वैतवाद, पृ० ७०। (कला प्रेस, इलाहाबाद—१९५७ सं०)

स्वीकार किया है, वहां उनका तात्पर्य गौडपाद के अनुसार जाग्रत के पदार्थों का मिथ्यात्व-सिद्ध करना है।

जहां तक शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२६)के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य निरूपण का प्रश्न है वह भी शंकराचार्य के माण्डूक्य कारिका भाष्य (२।४) का विरोधी नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद अवश्य स्थापित किया है परन्तु वहां भी उन्होंने जाग्रत् जगत् के पदार्थों की परमार्थ सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। स्वप्न एवं जाग्रत् का अवस्थागत भेद निश्चित है। स्वप्न द्रष्टा के लिए अपनी चार हाथ की कुटियां में जिन गजराजों के दर्शन होते हैं उनकी वहां (कुटिया में) स्थिति भी असम्भव है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वप्नकालिक पदार्थों की सत्ता केवल मन का भ्रममात्र ही होती है। परन्तु इसके विपरीत इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जगत् के पदार्थ केवल मानसिक कल्पनामात्र न होकर भौतिक दृष्टि से सत्य हैं। गौडपादाचार्य[1], शंकराचार्य[2] एवं आनन्दगिरि[3] ने भी स्वप्न एवं जाग्रत् के इस वैधर्म्य को स्वीकार किया है। परमार्थ दृष्टि से दोनों के मिथ्या होने के कारण दोनों में मिथ्यात्व रूप साधर्म्य है।[4] और स्वप्न एवं जाग्रत् के पृथक् दृष्टिकोण से दोनों में वैधर्म्य है। अतः शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के सम्बन्ध में जिस साधर्म्य एवं वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उसे विरोधी समझना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

गौडपादाचार्य का अजातवाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के समर्थन में अजातवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती है और न कोई जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।[5] अतः परमार्थ दृष्टि से जीव अजात ही है। एक अन्य स्थल पर वास्तविक अद्वैत एवं परमार्थ तत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है कि वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है और न उत्पत्ति। जो न बद्ध है और न साधक। इसके अतिरिक्त जो न कभी मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्म तत्व परमार्थ सत्य है। निम्नलिखित श्लोक के अन्तर्गत गौडपादाचार्य का उक्त भाव ही अभिव्यंजित हुआ है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ (गौ० का० २।३२)

आत्मा की अजातता को सिद्ध करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि द्वैतवादी लोग

---

१. गौ० का० २।४।

२. अन्तःस्थानात् संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः (शा० भा० गौ० का० २।४)।

३. आनन्दगिरि ने स्वप्न काल के विषयों को 'कल्पनाकाल भाविनो भावाः, और जाग्रत् काल के विषयों को 'प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वापरकालभाविनः' कहा है। (देखिए, आनन्दगिरि की टीका) गौ० का० २।१४)

४. देखिए *F.H. Bradley* : Essays on Truth and Reality, Ch. XVI.

५. नकश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥ (गौ० का० ३।४८)

जन्महीन आत्मा के भी जन्म के अभिलाषी प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ (आत्मा) निश्चित ही अजन्मा और मरणहीन है वह मरणशील किस प्रकार हो सकता है। इसलिए जो अमृत पदार्थ (आत्मा) है वह मर्त्य नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो मर्त्य पदार्थ है वह अमृततत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यह है कि स्वभाव का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता।[१] इस प्रकार अज एवं अमर आत्मा ही एक मात्र परमार्थ सत्य है। परमार्थतः जीव की उत्पत्ति न मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद पड़ा है।

गौड़पादाचार्य और माया सम्बन्धी सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन मायावाद उप-सिद्धान्त को स्वीकार किए बिना असम्भव है। यही कारण है कि ऋग्वेद से लेकर मायावाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के काल तक के अद्वैततत्व के प्रतिपादक दार्शनिक साहित्य में किसी न किसी रूप से माया की चर्चा मिलती है। अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक गौडपादाचार्य ने भी अपनी माण्डूक्य कारिका में माया सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया है।

गौडपादाचार्य के दर्शन के अनुसार परमार्थ तत्व अद्वैत तत्व है अतः अद्वैत तत्व से द्वैत सृष्टि की उत्पत्ति की शंका स्वाभाविक ही है। इसी शंका का समाधान करते हुए आचार्य गौडपाद का कथन है कि माया के कारण परमार्थ सत्य अद्वैत तत्व भी द्वैत रूप में प्रतीत होता है।[२] भाष्यकार शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार तिमिर रोगी के लिए एक चन्द्र के अनेक चन्द्र दिखाई पड़ते हैं एवं अज्ञान के कारण रज्जु में सर्प-धारा आदि का भेद दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत सत् तत्व भी माया के द्वारा अपने स्वभाव के विपरीत भेदमय दिखायी पड़ता है। परन्तु यह भेद सात्विक कदापि नहीं होता। अतः परमार्थ सत् को द्वैत रूप समझना ही भूल है।[३]

उपनिषदों के कुछ वावदूक एवं ब्रह्मवादी व्याख्याताओं के मत की ओर संकेत करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि जो वादी अजात आत्मतत्व की स्वाभावतः उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनका मत पूर्णतया असंगत है क्योंकि जो भाव अजात एवं अमृत रूप है वह मर्त्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है[४] और जो मर्त्य नहीं है उसका जन्म असम्भव है। इस प्रकार अद्वैत तत्व अनुत्पन्न एवं अमृत है।

अजात तत्व की जातता की प्रतीति का कारण बतलाते हुए गौड़पादाचार्य ने कहा है कि अजायमान आत्मा ही माया के द्वारा जायमान प्रतीत होता है। अजायमानो बहुधा मायया

---

१. अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्तिवादिनः।
अजातो ह्यमृतोभावो मर्त्यतां कथमेष्यति। (गौ० का० ३।२०)
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो नकथंचिद् भविष्यति।। (गौ० का० ३।२१)

२. मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथंचन। गौ० का० ३।१९।

३. तस्मान्न परमार्थं सद् द्वैतम्। शा० भा० गौ०, का० ३।१९।

४. येतुपुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैव वात्मतत्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति—स च जातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति। (शा० भा०, ३।२०)

स्थूल शरीर एक सहस्र वर्ष तक इस संसार में रहते हुए भी दिव्य था। गोविन्दपाद के सम्बन्ध में विद्यारण्य का मत है कि गोविन्दपाद भाष्यकार पतंजलि के रूपान्तर हैं।[१] राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गुणभद्र तथा शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समसामयिक थे। राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरु थे, क्योंकि जैसा कि इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्दपाद गुणभद्र के शिष्य थे। भट्टारक गोविन्द पुत्र हस्तिमल्ल ने भी स्वरचित विक्रान्तकौरव नामक नाटक के अन्त में कवि प्रशस्ति में लिखा है कि गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य परम्परा में अन्तिम था। यह मत असंदिग्ध है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में अर्थात् ७८३ सन् में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता है कि जिनसेन, गुणभद्र एवं गोविन्द—ये तीनों आचार्य धाराधिप भोज के सभा पण्डित थे। परन्तु उक्त ग्रन्थ का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि धाराधिप राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। ११ वीं शताब्दी में होने वाले राजा भोज की चर्चा ७८३ सन् के ग्रन्थ में सर्वथा अप्रामाणिक ही कही जायेगी। अतः हरिवंश का मत तर्कप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विद्वान् का यह मत भी है कि हरिवंश में उल्लिखित भोज धारापति भोज न होकर कोई कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय राजा हैं।[२]

प्रभावक चरित के अनुसार वाप्पभट्टि एवं गोविन्द समकालीन थे। ८३९ ई० में वाप्पभट्टि के मरण के पश्चात गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। वाप्पभट्टि का जन्म काल ७४४ ई० सन् है।[३]

गोविन्दपाद रचित कोई भी वेदान्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। रसहृदय नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभगवत्पाद रचित अवश्य मिलता है परन्तु इस ग्रन्थ का विषय रसायन शास्त्र है। माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह के रसेश्वरदर्शन प्रकरण में उक्त ग्रन्थ का प्रामाण्य भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि गोविन्दभगवत्पाद शंकराचार्य के गुरु थे।

इस अध्याय के अन्तर्गत अभी तक किये गये विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद संहिता से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों के काल तक के समय में अद्वैतवाद के अस्पष्ट एवं स्पष्ट बीज वर्तमान थे। परन्तु इसके साथ साथ यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन निष्पन्न नहीं हुआ था जैसाकि आगे स्पष्ट किया जायेगा। उक्त कार्य शंकराचार्य के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। अब यहां शंकराचार्य के दर्शन के अनुसार अद्वैतवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा। शांकर अद्वैतवाद की स्थापना से प्राचीन अद्वैतवाद की न्यूनतायें स्वतः स्पष्ट हो जायेंगी।

---

१. शंकर दिग्विजय—५।९४।

२. विशेष देखिए :
Proceedings of Third Oriental Conference, p. 224.

३. देखिए, अच्युत, पृष्ठ २० पर टिप्पणी।

अधिक संगत भाष्य मानते हैं। अपने मत के समर्थन में डा० थीबो ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निराधार हैं।[१] मेरे विचार से शंकराचार्य का भाष्य ब्रह्मसूत्र की सर्वाधिक संगत व्याख्या है।

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन

हम यह कह चुके हैं कि शंकराचार्य के दर्शन का मूल आधार उपनिषत् साहित्य था। विशेषतः, उपनिषदों के आधार पर ही शंकराचार्य ने ब्रह्म विद्या का निरूपण किया था। शंकराचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत तत्व मानकर ही अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार अद्वैततत्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। जगत् की सत्ता शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मायिक बतलाई गई है। शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन आगे किया जायेगा। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व है, वस्तुतः जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। यही शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतब्रह्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"अस्य जगतोनामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृ संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य रचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म" । (शा० भा०, ब्र० सू० १।१।२)

अर्थात् नाम रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। शंकराचार्य कृत उपर्युक्त लक्षण के अनुसार ब्रह्म की विशेषतायें—सर्वव्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्व शक्तिमत्ता है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्व है।

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण

जर्मन विद्वान् डायसन का यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता कि भारत के विद्वान् सत्व विद्या सम्बन्धी (ontological) प्रमाण के बन्धन में नहीं फंसे।[२] डायसन का यह कथन कम से कम शंकराचार्य के सम्बन्ध में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। शंकराचार्य ने ब्रह्म के सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निश्चय ही सत्व विद्या सम्बन्धी प्रमाणों से युक्त हैं। आचार्य ने जिस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वह तर्क प्रतिपाद्य न होने के कारण अनुभव गम्य है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है, उसकी सत्ता व्यावहारिक, देशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।[३] जैसा कि

---

१. डा० थीबो के तर्कों और उनके निराकरण के लिए देखिये :
Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 469-470, (*foot note*).

२. D. S. V., page 123.

३. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४ तथा देखिए डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फ़िलासफी', भाग २, पृ० ५३४।

वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है, यद्यपि यह ब्रह्मतत्व कोई द्रव्य रूप सत्य नहीं है।[१] परन्तु फिर भी यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष, समस्त वस्तुओं का एक महासामान्य (ब्रह्म) में ही अन्तर्भाव होता है।[२] ब्रह्म का अस्तित्व बड़ा विलक्षण है। यदि देखा जाय तो ब्रह्म का अस्तित्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु देश कालातीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्व है, जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा असम्भव है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि वह अभाव रूप है।[३] ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावावसानः (ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२)

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त के आधार पर असम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म के न कुछ समान है और न कुछ असमान। ब्रह्म वस्तुतः किसी भी प्रकार के स्वगत भेद से रहित है। शंकराचार्य का कथन है कि एक वृक्ष, जो पत्तियों, पुष्पों एवं फलों के स्वगत भेदों से युक्त है, का सादृश्य अन्य वृक्षों के साथ देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाषाण आदि वृक्ष से असदृश वस्तुएं भी उपलब्ध होती हैं।[४] परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं ब्रह्म की स्थिति इसके विपरीत है। अतः किसी दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन असम्भव ही है।

ब्रह्म सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म की यह आनन्दरूपता नैयायिक की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसीलिए वह मुक्ति को शुष्क स्वीकार करता है।[५] जर्मन दार्शनिक कान्ट भी परम तत्व के बोध से उत्पन्न होने वाले आनन्द का बोध न होने के कारण परम तत्व की उपलब्धि के सम्बन्ध में संदिग्ध था। यही कारण है कि दार्शनिक कान्ट शुद्धवस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था।[६] इसके विपरीत शांकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है। इस साध्य की प्रस्तावना के रूप में ही ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—(ब्र० सू० १।१।१) सूत्र का निर्माण प्रतीत होता है।

शांकर दर्शन के अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। इसलिए वह स्पिनोज़ा के स्वतन्त्र सत्व (Substantia) के अधिक समीप प्रतीत होता है।[७] वेदान्तिक ब्रह्म का पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

---

१. वेदान्त परिभाषा १।
२. शां० भा०, वृ० उ० २।४।६।
३. वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणोनाभावाभिप्रायेणाभिधीयते।—ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।
४. गीता, शा० भा० १३।१२।
५. देखिए न्यायसूत्र १।२।२२ पर वात्स्यायन का भाष्य एवं उद्योतकर का वार्तिक।
६. देखिए *H. J. Paten* : Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I. p. 64. London. Allen & Unwin.
७. *Maxmuller* : Three Lectures on the Vedanta Philosophy, Page 123, Longman's Green, London, 1894.

ब्रह्म को असत् पदार्थ कहने की आशंका शंकराचार्य को पहले से विदित थी। आचार्य ने अपने छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में उन मन्द बुद्धियों की चर्चा का स्पष्ट उल्लेख किया है जिनके लिए दिग्, देश, गुण, गति, फल और भेद से शून्य परमार्थ सत् एवं अद्वय तत्त्व असत् पदार्थ के समान दिखाई पड़ता है।[1] इसीलिए शंकराचार्य ने शून्यवाद सिद्धान्त को सर्वथा अनुपपन्न कहा है।[2]

नेति नेति द्वारा वर्णित ब्रह्म के सम्बन्ध में उसके असत् होने की शंका करना तार्किक दृष्टि से किये गये अध्ययन का फल है। पश्चिमी विद्वान् आगस्ताइन भी ईश्वर की अज्ञेयता में विश्वास रखता था।[3] न्यायशास्त्र का भारतीय विद्वान् विश्वनाथ भी निर्दिष्ट वस्तु के ज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानता था।[4] पश्चिमी विद्वान् हेगल भी शुद्ध सत् तत्व को असत् कहने लगा था।[5] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, यदि मिथ्या जगत् के मूल में किसी सत् तत्व की स्थिति न हुई होती तो जगत् की स्थिति असम्भव ही होती। जगत् की तो वात ही क्या, मृगतृष्णिका आदि जो नितान्त असत् हैं, विना आधार के सिवा नहीं हो सकते।[6] अतः ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान मानने में संकोच नहीं किया जा सकता। अधिष्ठानवाद के इस सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण आगामी अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म की जगत्कारणता के सम्बन्ध में विचार

परमार्थ दृष्टि से तो शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व होने के कारण कार्यकारणता का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। इसीलिए शांकर दर्शन के अनुसार जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है, परिणाम नहीं।[7] परन्तु माया शक्ति से शबलित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् कार्य है। स्वयं आचार्य शंकर ने आकाशादि प्रपंचमय जगत् को कार्य तथा परब्रह्म को कारण कहा है।[8] परन्तु ब्रह्म के जगत् के कारण होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि ब्रह्म अथवा उसके धर्म अथवा धर्मों में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है क्योंकि उत्पत्ति रक्षा तथा प्रलय काल में ब्रह्म अविकृत

---

१. दिग्देशगुणगतिफल भेद शून्यं हि परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसद् इवप्रतिभाति। शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।

२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३२।

३. We can know what God is not, but not what He is. (Trinity, VIII. 2)

४. निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्,—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ४६।

५. Hegal has declared that pure being devoid of all, predicates is not different from nonbeing. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, Page 538.

६. नहि मृगतृष्णिकादयोपि निरास्पदा भवन्ति (शा० भा०, गीता १३।१४)।

७. परिणाम और विवर्त के सम्बन्ध में देखिए—वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

८. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म। —ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१२।

करण में पड़ता है तो उसे जीव या जीवात्मा कहते हैं।[१]

विद्यारण्य का मत—पंचदशी के लेखक विद्यारण्य ने जीव और ईश्वर को माया नामक कामधेनु के वत्स रूप कहा है।[२]

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत—अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य का विचार है कि एक ही परमेश्वर मायानिष्ठ सत्व, रज और तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश संज्ञाओं को प्राप्त होता है।[३]

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता माया पर आधारित है। शांकर दर्शन के अनुसार माया के बिना परमेश्वर का स्रष्ट्रत्व भी सिद्ध नहीं होता।[४]

ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व—विषय एवं विषयी दोनों के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता होने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, शासक एवं संहारकर्ता है।[५] श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की उस उक्ति में ईश्वर के अन्तर्यामित्व की बड़ी स्पष्ट झलक मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर ही यन्त्रारूढ़ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में वर्तमान रहता है।[६] परन्तु यहां यह विचार्य है कि मायोपाधिक ईश्वर स्वयं अपनी माया से स्पृष्ट नहीं होता। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार मायावी (ऐन्द्रिजालिक) स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता उसी प्रकार परमात्मा भी संसार माया से अस्पृष्ट है।[७]

ईश्वर की लीला और सृष्टि—जैसा कि ऊपर भी कहा गया है शांकर दर्शन में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा कहा गया है। श्रुति में भी 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' आदि वाक्यों में परमेश्वर के अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा का उल्लेख हुआ है। यहां यह विचारणीय है कि जो परमेश्वर आप्तकाम है, उसमें सृष्टि-उत्पत्ति की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न होती है। उक्त शंका का समाधान शंकराचार्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत समुचित रूप से उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने सृष्टि को ईश्वर की लीला का फल कहा है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लोक में किसी राजा या राजा के मन्त्री की, जिसकी समस्त कामनाएं पूर्ण हो गई हैं, क्रीड़ाक्षेत्र में प्रवृत्तियां किसी दूसरे प्रयोजन की अभिलाषा न करके केवल लीला-रूप ही होती हैं और जिस प्रकार कि उच्छ्वास, प्रवास आदि किसी बाह्य प्रयोजन की अभिसन्धि के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही ईश्वर की भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति कही जायेगी।[८] यदि कहा जाय कि लोक में लीलाओं में भी किसी प्रकार का सूक्ष्म प्रयोजन

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.
२. मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।—पंचदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक २३६।
३. अद्वैतचन्द्रिका, पृष्ठ ४० (बनारस संस्करण १९०१)।
४. नहितयाविना परमेश्वरस्य स्रष्ट्रत्वं सिध्यति (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३)।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१८-२०, २२, १।३।३९, ४१, ३।२।९।१०।
६. शा० भा०, गीता, १८।६१
७. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।९।
८. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३३।

देखा जा सकता है तो भी ईश्वर लीला के सम्बन्ध में किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा करना सम्भव न होगा। क्योंकि जो ईश्वर पूर्ण काम है उसकी लीला में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं देखा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि लीलाविधायी ईश्वर के स्वभाव का फल है।

शांकर दर्शन में सृष्टि वैषम्य और ईश्वर—यदि आप्तकाम एवं निस्पृह ईश्वर जगत् का स्रष्टा है तो उसकी सृष्टि में वैषम्य किस प्रकार मिलता है, यह विचारणीय है। वस्तुतः सृष्टि वैषम्य स्पष्ट है, क्योंकि संसार में कोई अत्यन्त ऊंचा है, कोई मध्यम है और कोई नीच। सृष्टि की उक्त विषमता का कारण शंकराचार्य ने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य का कथन है कि ईश्वर निरपेक्ष होकर सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् वह धर्म और अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि निर्माण करता है।[1] सृज्यमान प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि विषम होती है। अतः ईश्वर का कोई अपराध नहीं है। ईश्वर को तो पर्जन्य के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार कि व्रीहि, यव आदि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदि की विषमता में उस बीज में रहने वाली सामर्थ्य असाधारण कारण है, उसी प्रकार देव मनुष्य आदि की सृष्टि का ईश्वर साधारण कारण है। देव मनुष्यादि की विषमता में तो तत् तत् जीवों में रहने वाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्म की अपेक्षा रखने से वैषम्य और नैर्घृण्य रूप दोषों का भाजन नहीं है।

यह विचारणीय है कि सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसार का निर्माण किस प्रकार करता है। इस सम्बन्ध में कौषीतकि ब्राह्मण के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर जिसको इस लोक से ऊंचा ले जाना चाहता है, उससे साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कार्य कराता है।[2] परन्तु श्रुति के उक्त विचार के अनुसार तो ईश्वर की वैषम्य सृष्टि अधिक पक्षपात पूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि किसी से साधु एवं किसी से असाधु कर्म कराने में ईश्वर का उद्देश्य पक्षपात पूर्ण ही कहा जायेगा। ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त शंका का करना उचित नहीं है। अनादिकाल से पूर्व संचित साधु या असाधु वासनाओं के कारण पुरुष स्वभाव से ही तत्-तत् कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः ईश्वर इस में साधारण हेतु है। इसलिए ईश्वर को पक्षपात पूर्ण स्रष्टा नहीं कहा जा सकता।[3]

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप

एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्योपाधि के कारण जीव, ये दो भेद हैं। शंकराचार्य ने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।[4] जीव के स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न

---

१. धर्माधर्मावपेक्षत इतिवदामः।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३४।
२. एष ह्येवसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यः लोकेभ्यः उन्निनीषत एषउएवासाधु कर्मकारयति तं यमधो निनीषते। (कौ० ब्रा० ३।८)
३. अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन जनस्य तत् तत् कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वरः—रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।३४।
४. यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च—ब्र० सू०, शा० भा० २।३।३०।

मत मिलते हैं। इस स्थल पर इन विद्वानों के प्रमुख मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

वाचस्पति मिश्र का मत—वाचस्पति मिश्र का मत है कि अविद्या जीव का अधिकरण है परन्तु जीव में रहने वाली अविद्या निमित्तता और विषयता के कारण ईश्वराश्रित होने से ईश्वराश्रया कही जाती है।[1]

प्रकटार्थविवरणकार का मत—प्रकटार्थविवरणकार का मत है कि सर्वभूतप्रकृति, चिन्मात्र सम्बन्धिनी, अनादि एवं अनिर्वचनीय माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नाम वाले, आवरण और विक्षेप शक्ति युक्त परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। (सिद्धान्त लेश संग्रह, २९)

विद्यारण्य का मत—विद्यारण्य का मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के माया और अविद्या यह दो रूप हैं। रज और तम से तिरस्कृत न होकर जो मुख्य रूप से शुद्ध सत्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन सत्व प्रधान है वह अविद्या है। संक्षेप में, माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है।[2]

सर्वज्ञात्म मुनि का मत—संक्षेप शारीरक के रचयिता सर्वज्ञात्म मुनि ने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव संज्ञा दी है।[3]

दृग्दृश्य विवेक के अनुसार जीव के तीन भेद—दृग्दृश्य विवेक के अन्तर्गत विद्यारण्य मुनि ने जीव के तीन भेद किये हैं—(१) अन्तःकरणावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य पारमार्थिक जीव। (२) मायावृत कूटस्थ में चित् का आभास रूप व्यावहारिक जीव। (३) निद्रा से आवृत व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव।[4] इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव के उक्त भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया है।

अप्पय दीक्षित द्वारा उद्धृत कुछ अन्य मत

विवरण मत के अनुयायियों के अनुसार अविद्या में चैतन्य का आभास जीव और बिम्बस्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार जीव, अन्तःकरण से अवच्छिन्न है। एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए अप्पय दीक्षित ने कहा है कि कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव न प्रतिबिम्ब है और न अवच्छिन्न। जिस प्रकार कुन्तीपुत्र कर्ण में राधेयत्व (राधापुत्र) का व्यवहार होता है उसी प्रकार अविद्या से अधिकृत अंश में ही जीवत्वका व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव की स्थिति योगी के समान है। जिस प्रकार कि एक ही योगी विभिन्न शरीरों के समूहों में अपना आधिपत्य रखता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ से अन्य एक मुख्य जीव है। यही जीव सब शरीरों में अधिकार रखता है।[5]

---

१. भामती, ब्र० सू०, १।४।३।
२. पंचदशी तत्वविवेक प्रकरण—१६, १७।
३. सिद्धान्त लेश संग्रह, ३२ (प्रथम परिच्छेद)।
४. देखिए, सिद्धान्त लेश संग्रह, ३८,३९ (प्रथम परिच्छेद)।
५. देखिए, सिद्धान्त लेश संग्रह ४०,४२,४४ (प्रथम परिच्छेद)।

इस लेखक का दृष्टिकोण

जैसा कि जीव सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मूल तत्व एक मात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है—जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म (भामती, ब्र० सू० १।४।३)। यहां यह और उल्लेखनीय है कि अविद्या निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख दुःखादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्ता यही जीव है।[१] इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

कर्ता एवं भोक्ता जीव की ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञाएं हैं। जीव की उक्त अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रत् अवस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को तैजस कहते हैं। उक्त तीन कोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण हैं। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्य रूप है। सुपुप्तिअवस्थावर्ती आनन्दमय कोश रूप कारण शरीर के अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टि रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट्, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं।

जीव और ईश्वर

ईश्वर माया शक्ति सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जहां ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है वहां जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यंत लघु है।[२] शंकराचार्य का कथन है कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।[३] जैसा कि कहा जा चुका है, ईश्वर और जीव मूलतः एक ही हैं। चैतन्य तत्व जीव एवं ईश्वर का एक ही है। जीव ईश्वर के अंश के समान ही है, परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है। इसका कारण यही है कि निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।[४]

जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख सुखादि का

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।२६. २।३।३३।

२. वालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागोजीवः सविज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥—श्वे० उ० ५।६।
तथा देखिए, ब्र० सू०, शा० भा० २।३।२६।

३. निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधि सम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् विप्रतिषिध्यते। ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४५।

४. अंशइवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति।—ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४३।

अनुभव कर्ता है परन्तु ईश्वर दुःखादि का अनुभवकर्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वश देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'अहंदुःखी' मैं दुःखी हूं, इत्यादि अविद्याकृत दुःख के उपयोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव या दुःखादि का अभिमान नहीं है। वैसे तो, यदि विचार कर देखा जाए तो जीव का दुःखादि का अभिमान भी पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निर्वृत्त देह, इन्द्रिय एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुःखादि का अभिमान है' पारमार्थिक दुःखाभिमान कदापि नहीं है। एक उदाहरण से यह कथन और स्पष्ट हो जाएगा। जिस प्रकार की पुरुष अपने देह को प्राप्त हुए दाह, छेदन आदि से उत्पन्न दुःख का उस देह के अभिमान की भ्रान्ति से अनुभव करता है, उसी प्रकार स्नेह वश पुत्र मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ 'मैं ही पुत्र हूं' और 'मैं ही मित्र हूं' इत्यादि रूप से अनुभव करता है। अतः इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्याभिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव ब्रह्म रूप ही है।[2] अतः उसके (जीव के) दुःखसुखादि भी पारमार्थिक नहीं हैं।

जीव और साक्षी का अन्तर—ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधि शून्य चेतन तत्व का नाम है ब्रह्म एवं मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्ता है न भोक्ता और न स्रष्टा। जीव और साक्षी के भेद का स्पष्टीकरण मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत एक उपमान के आधार पर बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि एक वृक्ष पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखता मात्र रहता है।[3] यह द्रष्टा ही साक्षी है। उक्त स्थल पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने शरीर को क्षेत्र, एवं अविद्याकामकर्मवासना के आश्रय लिंगोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।[4] आचार्य शंकर का कथन है कि उनमें से एक क्षेत्रज्ञ लिंगोपाधि रूप वृक्ष के आश्रित हुआ कर्मानुसार निष्पन्न सुखदुःख रूप फल का अविवेक से उपयोग करता है। दूसरा अर्थात् ईश्वर जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला, सर्वज्ञ तथा सर्वसत्वोपाधियों से युक्त है, वह कर्म फलों का भोक्ता नहीं है। यदि ईश्वर साक्षी रूप से भोक्ता जीव एवं भोग्य का प्रेरक है। राजा के समान ईश्वर का दर्शन ही प्रेरणा है।[5] इस प्रकार भोक्ता जीवात्मा एवं साक्षी ईश्वर के बीच अन्तर द्रष्टव्य है।

जीव और आत्मा—प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४६।
२. तथाचाविद्या निमित्त जीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः तत्वमसि इत्येवमादयः।—ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४६।
३. मुण्डकोपनिषद् ३।१।१।
४. शा० भा०, मु० उप०, ३।१।१।
५. तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो'''दर्शनमात्रं हितस्य प्रेरयितृत्वं राजवत्—शा० भा०, मुण्ड० उप० ३।१।१।

में ब्रह्मरूप है। आत्मा की अजरता, अमरता एवं कूटस्थता शांकर वेदान्त में स्थान स्थान पर व्याख्यात है।[१] जीव भी आत्मा से भिन्न नहीं है। वस्तुतः न वह आत्मा से भिन्न है, न उसका अंश है और न उसका रूपान्तर है। इसके विपरीत जीव स्वभावतः आत्मा ही है। यहां यह शंका होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा कूटस्थ है वह जीव में सक्रियता एवं प्रवृत्ति किस प्रकार ला देता है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लौह का प्रवर्त्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, इसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से सबको प्रवृत्त करे, यह उचित ही है।[२]

जीव और आत्मा के एक होते हुए भी जीव की आत्मरूपता के बोध के न होने का कारण यह है कि वह अविद्याजन्य विभिन्न उपाधियों से आवृत है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव-आत्मरूपता को ही प्राप्त होता है। आत्मरूपता की यही स्थिति ब्रह्मात्मता की स्थिति है।

जीव की एकता एवं अनन्तता का विचार

जीव एक रूप है अथवा अनन्त रूप है, इस विषय में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। कुछ विद्वान् एक जीववाद का समर्थन करते हैं एवं कतिपय अन्य विद्वान् अनेक जीववाद के अनुयायी हैं। एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के भी अनेक रूप मिलते हैं। इस स्थल पर एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के अनेक रूपों की आलोचनात्मक विवेचना की जायेगी।

एक जीववाद के अनेक रूप—एक जीववाद के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में जो एकाधिक मत मिलते हैं, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा।

प्रथम मत—एक जीववाद के कुछ अनुसर्ताओं का कथन है कि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही जीव अविद्या से समस्त जगत् की कल्पना करने वाला है। इन एक जीववादियों का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थों की निद्रा निवृत्ति होने पर, निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या निवृत्ति के पश्चात् अनन्त जीवयुक्त जगत् की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। इस मत के अनुसार मुक्ति की सत्ता भी काल्पनिक ही कही गयी है।

आलोचना—उक्त मत का एक बड़ा दोष यह है कि इस मत के अनुसार जीव ही समस्त काल्पनिक जगत् का स्रष्टा है। वस्तुतः जीव को जगत् का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। जगत् का स्रष्टा तो ईश्वर ही है जो बिना किसी प्रयोजन के जगत् की सृष्टि करता है।[३] अतः एक जीववादियों का उक्त मत संगत नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय मत—एक जीववादियों के दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ को ही मुख्य जीव माना गया है। इस मत के अनुयायी विद्वान् जीव के स्रष्टृत्व का विरोध करते हैं।

उक्त मत का दोष—प्रत्येक-कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने के कारण किसी एक हिरण्यगर्भ में मुख्य रूप से जीवत्व की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः एकजीववादियों का

---

१. देखिए, शांकर भाष्य, गीता, २।२०, २।२४।

२. ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य २।२।२।

३. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३३

उक्त मत भी दूषित है।

तृतीय मत—तृतीय मत के अनुसार एक जीववादियों का कथन है कि एक ही जीव, मुख्यामुख्य विभाग के बिना ही सब शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है।[१] अतः इस मत के अनुसार अविद्या के एक होने के कारण तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य—जीव एक ही है। यही जीव सकल शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है। एक जीववादियों का उक्त सिद्धान्त 'अविशेषानेकशारीरैक जीववाद' के नाम से प्रचलित है।

अनेक जीववाद का सिद्धान्त

अनेक जीववाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या जन्य अन्तःकरणोपाधि के द्वारा अनेकजीवभावत्व को प्राप्त करके संसारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है कि अनन्त संसारी जीव अपने स्वरूपबोध से वंचित होकर अज्ञान की निद्रा में शयन किया करते हैं।[२] अविद्या निवृत्ति होने पर ही जीव मुक्ति लाभ करते हैं। जिन जीवों की अविद्या निवृत्ति नहीं होती, वे मुक्ति लाभ नहीं करते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव एक न होकर अनन्त हैं। अनेक जीववाद के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा जीवों की संख्या ज्ञात होने पर जीवों को अनन्त नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जायेगा कि ईश्वर के लिए भी जीवों की संख्या अनन्त है, तो ईश्वर के सर्वज्ञत्व में बाधा उत्पन्न होगी। उक्त पक्ष के विपरीत हमारा निवेदन है कि अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्याजन्य जीवों की निश्चित संख्या के अभाव में जीवों की एक काल में गणना न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा गया है। रामाद्वयाचार्य ने भी जीवों की संख्या ज्ञात न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा है।[३]

अनेक जीववाद के अनेक स्वरूप

एक जीववाद की ही तरह अनेकजीववाद के भी अनेक स्वरूप होते हैं। यहां अनेक जीववाद के सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

प्रथम मत—कतिपय अनेकजीववादी आलोचक विद्वान् अन्तःकरण आदि को जीव की उपाधि मानकर बद्ध तथा मुक्त की पृथक् व्यवस्था करके अनेक जीववाद का प्रतिपादन करते हैं।

द्वितीय मत—अनेक जीववादियों के द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि शुद्ध ब्रह्म का आश्रय एवं विषय अज्ञान एक ही है एवं इस अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही मोक्ष होता है तथापि यह अज्ञान सांश है। इसका कारण यह है कि जीवन्मुक्ति में अज्ञान के विक्षेपांश की अनुवृत्ति होती है। अतः जिस उपाधि में ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति होगी उसी स्थल में अज्ञान की आंशिक निवृत्ति होगी। इसके विपरीत अन्य उपाधियों में पूर्ववत् अपने अंशों में अज्ञान की

---

१. देखिए—अप्पयदीक्षित, सिद्धान्त लेश संग्रह १।१२३।

२. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३।

३. अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्वात्। वेदान्त कौमुदी, पृष्ठ २७८।

अनुवृत्ति होगी।[1]

तृतीय मत—अनेक जीववाद के इस तृतीय मत का स्थापक नैयायिक है। अनेक जीववादी नैयायिक का कथन है कि जिस प्रकार भूतल में घटात्यन्ताभाव की वृत्ति में घटसंयोगाभाव के नियामक होने के कारण, घटसंयोगाभाव वाले प्रदेशों में घटात्यन्ताभाव सम्बन्ध करके स्थित रहता है, इसके अतिरिक्त प्रदेशान्तर में जहां घट संयोग की उत्पत्ति से घटसंयोगाभाव की निवृत्ति हो गई है, सम्बद्ध नहीं होता, इसी प्रकार चैतन्य में अज्ञान की वृत्तिता का नियामक मन होने के कारण अज्ञान मनरूप उपाधि से युक्त प्रदेश में तो व्याप्त करके रहने वाली जाति के समान, अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूप समस्त जीवों में रहता है। जिस प्रकार कि जातिरूपधर्म नष्ट व्यक्ति का त्याग कर देता है उसी प्रकार अज्ञान भी उस जीव का त्याग कर देता है, जिसमें विद्या उत्पन्न हो जाती है। यही त्याग मुक्ति का कारण है। परन्तु जिस पुरुष में ज्ञानोत्पत्ति नहीं हुई है अज्ञान उसमें आश्रित रहता है। अतः जिस जीव में अज्ञान का आश्रय है, वही बद्ध है। इस प्रकार नैयायिक अनेक जीववादी की बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी शांकर वेदान्त से भिन्न है।

चतुर्थ मत—अनेक जीववादियों के चतुर्थ मत के अनुसार प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न रूप से वर्तमान रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव की मुक्ति उसकी अविद्या निवृत्ति पर आधारित है।

आलोचना—ऊपर हमने एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहां हमें इतना ही कहना है कि एक जीववाद की अपेक्षा अनेक जीववाद ही युक्ति-संगत है। जैसा कि कहा जा चुका है, शंकराचार्य भी अनेक जीववाद के ही समर्थक हैं। एक जीववाद के विरोध में हमारा तर्क है कि यदि एक जीव को ही सकल शरीरों का अधिष्ठान माना जायेगा तो उस जीव को भिन्न-भिन्न शरीरों की सुख-दुःखादि की अनुभूति भी होगी, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः एक जीववाद की अपेक्षा अनेकजीववाद का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत कहा जायेगा।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के क्षेत्र में मायावाद का महत्व अत्यन्त प्रमुख है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किये विना अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही असम्भव है, यही मायावाद की उपयोगिता है। अनेकों आलोचकों की बुद्धि में भ्रम होने के कारण, यहां यह कह देना और संगत होगा कि मायावाद सिद्धान्तवाद नहीं है। सिद्धान्तवाद तो अद्वैतवाद ही है। मायावाद अद्वैतवाद का उपांगभूत सिद्धान्त है। मायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानों के अनेक मत प्रचलित हैं। यहां इन मतों का संकेत एवं आलोचन उपयुक्त होगा।

थीबो का मत—वेदान्त दर्शन के पश्चिमी अध्येताओं में जार्ज थीबो का स्थान प्रमुख है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य के अनुवाद ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत थीबो महोदय ने अतिविस्तृत तो नहीं, परन्तु इस विषय पर कुछ विचार किया है कि उपनिषदों में मायावाद का सिद्धान्त उपलब्ध है अथवा नहीं। इस विषय पर विवेचन करते हुए थीबो महोदय इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उपनिषदों में माया की जिस असारता एवं तुच्छता की चर्चा है, उनमें से कोई भी माया

---

१. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १२६, (अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी) सं० २०११ मद्रपुरी।

के उस अर्थ में मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करती, जिस अर्थ में कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया मिथ्या है।[१] इस प्रकार जार्ज थीबो औपनिषद माया सम्बन्धी दृष्टिकोण को शंकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण से पृथक् मानते हैं। थीबो महोदय का विचार है कि शंकराचार्य ने जिस प्रकार जगत् को रज्जु में सर्प के समान मिथ्या कहा है, उस प्रकार उपनिषदों में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है। थीबो का विचार है कि उपनिषद् हमें वह दृष्टिकोण नहीं देते जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् मिथ्या दिखाई देता है और जिस मिथ्यात्व की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है।[२]

कोलब्रुक का मत—कोलब्रुक महोदय का विचार है कि जगत् के मायात्व, मिथ्यात्व, स्वप्नत्व एवं अकिंचनत्व का विचार उपनिषदों एवं मूल वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।[३]

मैक्समूलर का मत—मैक्समूलर महोदय भी माया सम्बन्धी सिद्धान्त को उपनिषदों की देन न मानकर उपनिषदों के उत्तर काल की देन स्वीकार करते हैं।[४] इस सम्बन्ध में मैक्स-मूलर महोदय का कथन है कि उपनिषदों में जगत् को माया या मिथ्या सिद्ध करने वाला विचार नहीं मिलता।

रेगनाड का मत—जर्मन विद्वान् रेगनाड कहते हैं कि यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय को छोड़कर कहीं भी माया शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। निःसन्देह वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु जिस अंश में वहां माया शब्द का प्रयोग हुआ है वह अंश ऋग्वेद संहिता से उद्धृत है, जहां माया शब्द का अर्थ सृष्टिकर्त्री शक्ति है।[५] रेगनाड महोदय का विचार था कि उपनिषदों की शिक्षा में मायावाद सिद्धान्त उपलक्षित तो होता है, परन्तु यह सिद्धान्त वहां अस्पष्ट ही है।[६]

गफ़ का मत—गफ़ महोदय ने अपने 'फिलासफी आफ उपनिषद्स' ग्रन्थ के नवम अध्याय के अन्तर्गत बलपूर्वक कहा है कि मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है।

डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री का मत—वेदान्त दर्शन के अध्येता एवं मायावाद के आलोचक डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने अपनी 'दि डाक्ट्रिन आफ माया' नामक लघु पुस्तक के अन्तर्गत मायावाद का उदय और विकास दिखाने की चेष्टा की है। इस ग्रन्थ में शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मायावाद का विचार ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में प्राप्त है।[७]

ऊपर जिन पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के मतों की चर्चा की गई है उनके मत

---

१. *G. Thibaught*: S.B.E. XXXIV, p. CXIX.

२. वही।

३. *MaxMuller*: Three Lectures on The Vedanta Philosophy, p. 130.

४. वही, पृ० १२८।

५. It is well known......in which Maya means creative power. (*Regnaud*: LaMaya, in the revue de l' Histoire des Religious, tome XII. No. 3 (1885). —S.B.E Vol. XXXIV. से उद्धृत।

६. S.B.E—Introduction, CXVII.

७. The Doctrine of Maya, p. 36 (Luzac & Co., London 1911).

निम्नलिखित चार मतों में अन्तर्भूत हैं।

(१) मायावाद का उदय एवं विकास ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इस मत के अनुयायी डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री हैं।

(२) मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है। इस मत के समर्थक हैं—प्रो० गफ़।

(३) मायावाद सिद्धान्त का स्वरूप उपनिषदों में उस अर्थ में नहीं उपलब्ध होता जिस अर्थ में कि उसका विकास शांकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। इस मत के समर्थकों में कोलब्रुक, मैक्समूलर तथा थीवो प्रमुख हैं।

(४) उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त का अस्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। इस मत के अनुसर्ता रेगनाड प्रभृत्ति विद्वान् हैं।

समालोचना

प्रथम मत के अनुसार डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि विद्वान् मायावाद का उदय और विकास ऋग्वेद एवं उपनिषदों में मानते हैं। डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखने की चेष्टा की है। परन्तु यदि विचार कर देखा जाए तो वहां माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त अविद्या एवं मिथ्यात्व के अर्थ का सूचक नहीं है। ऋग्वेद के प्रामाणिक भाष्यकार सायण ने अधिकतर माया शब्द का अर्थ प्रज्ञा ही किया है।[१] ऋग्वेद के जिस मन्त्रांश 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) के आधार पर प्रायः आलोचकों ने मायावाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि खोजने की चेष्टा की है, वहां भी मायाशब्द का प्रयोग इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में किया गया है,[२] अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं। अतः केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद संहिता में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखना उचित नहीं कहा जा सकता। जहां तक उपनिषदों में मायावाद के स्वरूप निरूपण का प्रश्न है, वैसे तो वेदान्तों नाम उपनिषत्प्रमाणं' के अनुसार शंकराचार्य का समस्त वेदान्त दर्शन उपनिषद् दर्शन से ही विकसित हुआ है। इसीलिए ब्लूमफील्ड,[३] मैक्समूलर,[४] डायसन,[५] एवं मेकेन्जी[६] आदि पश्चिमी एवं डॉ० दास गुप्त[७] आदि भारतीय आलोचक विद्वानों ने भी निःसंकोच वेदान्त दर्शन का फल स्वीकार किया है, परन्तु यहां यह निवेदन करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में मायावाद ही नहीं, अपितु अद्वैतवाददर्शन स्थलों पर सैद्धान्तिक रूप उपलब्ध नहीं होता। यदि विचार कर देखें तो उपनिषदों में

---

१. देखिए, सायणभाष्य ऋग्वेद संहिता, ५।८५।५, ५।८५।६, ६।८३।३।

२. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 565 (Footnote).

३. The religion of the Veda, page 5.

४. Vedanta Philosophy, page 135.

५. The Philosophy of the Upanishads, page 27.

६. E. R. E. Vol. VIII p. 597.

७. Indian Philosophy Vol. I, P. 42.

हमें अनेक स्थलों पर सैद्धान्तिक विरोध मिलता है।[१] जहां तक उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त के उदय का प्रश्न है, वहां यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों में आत्मा की परमार्थता और अद्वैतता एवं जगत् की असत्यता का विचार अनेक स्थलों पर मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—कि हे मैत्रेयि—आत्मा के दर्शन श्रवण एवं चिन्तन से समग्र जगत् का ज्ञान हो जाता है।[२] इस प्रकार आत्मा एवं जगत् की अद्वैतता का चित्रण उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मिलता है।[३] इसके अतिरिक्त वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा रूप सत्य को जगत् रूप व्यावहारिक सत्य से आवृत कहा गया है।[४] इसके अतिरिक्त वृहदारण्यक में ही एक स्थान पर द्वैत जगत् का निराकरण करते हुए अद्वैत तत्व का प्रतिपादन भी किया गया है। इस प्रकार प्राचीन उपनिषदों में जगत् की असारता एवं आत्मतत्व की वास्तविकता का वर्णन अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। परन्तु जगत् की असारता का यह वर्णन वहां सैद्धान्तिक रूप में उपलब्ध नहीं है। जहां तक उपनिषदों में माया सम्बन्धी विचार का प्रश्न है, प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग केवल दो बार ही हुआ है। एक बार वृहदारण्यक में और एक बार प्रश्नोपनिषद् में। वृहदारण्यक में माया शब्द का प्रयोग रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में और प्रश्नोपनिषद् में आचार की कुटिलता के अर्थ में किया गया है। निश्चय ही उक्त दोनों स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग मायावादी शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं हुआ है। अतः यह कथन पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में मायावाद का वह सैद्धान्तिक रूप अनुपलब्ध है, जिसका प्रतिपादन शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थों में हुआ है। अतः गफ एवं डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि आलोचक विद्वानों का उपनिषदों में मायावाद का रूप देखना उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा कि पश्चिमी विद्वान् रेगनाड ने कहा है, उपनिषदों में मायावाद का सैद्धान्तिक रूप न होकर अस्पष्ट रूप ही कहा जा सकता है। अतः थीबो, कोलब्रुक एवं मैक्समूलर के उपर्युक्त मतों के अन्तर्गत अभिव्यक्त यह विचार सत्य ही प्रतीत होता है कि मायावाद का विकास वेदान्त के मूलसाहित्य में न होकर उत्तर काल की देन है वस्तुतः जिस अविद्या शक्ति एवं जगन्मिथ्यात्व के आधार पर शंकराचार्य ने मायावाद का प्रतिपादन किया है, उसका सैद्धान्तिक रूप उपनिषदों में अनुपलब्ध ही कहा जायेगा। इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण अभी नीचे शंकराचार्य के मायावाद सिद्धान्त के विवेचन से स्वतः हो जायेगा।

शांकर मायावाद का स्वरूप

शंकराचार्य के समस्त ग्रन्थों में माया सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है, परन्तु मायावाद सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन उपनिषदों में, ईशोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत माया शब्द की चर्चा एक

---

१. मिलाइए—छा० उ० ६।१६।३, कठ उ० ३।१५, मुण्डक० उ० १।१।६, वृ० उ० ४।४।१६, श्वे० उ० ६।८, तैत्तिरीय भृगुवल्लीय कठ० उ० ६।१२, केन०उ० १।५, वृ० उ० ४।४।१६, तै० उ० २।१।१, कठ० उ० ३।१, श्वे० उ० ४।५।

२. मैत्रेय्यात्मनो वाअरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं निहितम्।—वृ० उ० २।४।५।

३. वृ० उ० २।४।७, ६, ३।८।११, ४।४।१७ मुण्डक उ० १।१।३, छा० उ० ६।१।१

४. अमृतम् सत्येन छन्नम्।—वृहदारण्यक उपनिषद्—१।६।३।

वार भी नहीं हुई है। केनोपनिषद् भाष्य में लगभग तीन वार, कठोपनिषद् भाष्य में चार वार मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार वार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में चार वार ऐतरेयोपनिषद् भाष्य में तीन वार, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में दो वार, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में दो वार तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत तीन वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पच्चीस वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका में भी लगभग पच्चीस वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत लगभग चालीस वार माया सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत लगभग तीस वार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत केवल एक वार ही (ब्र० सू० ३।२।३) माया की चर्चा की गई है। इन स्थलों पर माया की चर्चा परमेश्वर की शक्ति, अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की गई है।

शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को बतलाया है। शंकराचार्य का मायावाद के प्रतिपादन के सम्बन्ध में कथन है कि लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म-मरण आदि दुःखों का कारण अविद्या ही है।[2] इस अविद्या का विषय जीव है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्म स्वरूप का बोध न होने पर नामरूपात्मक जगत् ही परमार्थ रूप से सत्य भासता है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को आत्म स्वरूप का बोध होता है। जीव की यही स्वरूपस्थिति उसकी ब्रह्मरूपता है। इस अविद्या को आचार्य ने जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति का रूप दिया है।[3] यह बीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है। इस अविद्या रूप बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है–**विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्** (ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३)।

अविद्या का ही अपर नामधेय माया है। ऊपर हमने जिस अविद्या की चर्चा की है उसका सम्बन्ध जीव से है। माया का प्रयोग शंकराचार्य ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है।[4] इन्द्रजाल के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग करके शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल की सत्यता केवल द्रष्टाओं के लिए ही है, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् की सत्यता भी परमात्मा के लिए न होकर केवल अज्ञानी के लिए ही है, आत्मस्थिति के लिए नहीं। इस माया को अतिगम्भीर, दुरवगाह्य एवं विचित्र सिद्ध करते हुए शङ्कराचार्य का कथन है कि यह समस्त संसार, यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है, 'मैं परमात्मा रूप हूं' ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्व को ही ग्रहण करता है।[5] इस

---

१. माया शब्द के प्रयोग के लिए देखिये, डा० रामानन्द तिवारी—शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृष्ठ—५८।
२. कठ० उपनिषद् भाष्य—२।५।
३. अविद्यात्मिका हि बीज शक्तिः—ब्र० सू०, शां० भा० १।४।३।
४. ब्र० सू०, शां० भा० २।१।६।
५. अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया यदयंसर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थ सतत्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति। अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्यपुत्र इत्यनुच्यमानोऽपिगृह्णाति। —कठोपनिषद्, शा० भा०, १।३।१२।

प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया ही जगत् के परमार्थ रूप से सत्य मानने का कारण है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक परमार्थ सत्य तो अद्वैत ब्रह्म ही है और जगत् माया है। परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशश्रृंग के समान पूर्णतया असत् नहीं है। इसीलिए शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है।

माया की विषयिता एवं विषयता

माया का जीव से सम्बन्ध निश्चित करना माया की विषयिता एवं जगत् को माया एवं अविद्या का कार्य कहना माया की विषयता कहलाती है। जब हम कहते हैं कि अविद्या या माया के कारण जीव को नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तो माया से हमारा तात्पर्य उसकी विषयिरूपता से होता है। इसके विपरीत जब हम जगत् को माया मात्र कहते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय माया की विषयता से होता है। अब यहां यह देखना है कि शांकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के विषयित्व एवं विषयत्व की चर्चा किस रूप में मिलती है।

शांकर वेदान्त में माया का विषयित्व

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत माया का विषयी एवं विषय दोनों रूपों में ही वर्णन मिलता है। माया के विषयित्व के अनुसार शंकराचार्य का कथन है कि अविद्या के द्वारा ही नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म में आधारित होता है एवं इस अविद्या जन्य अध्यास के कारण ही जीव नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखता है।[१] इसीलिए आचार्य ने अविद्या को प्रपंचजन्य समस्त अनर्थ का बीज कहा है।[२] शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त के द्वारा माया एवं अविद्या के विषयित्व का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार भस्मच्छन्न अग्नि के दहन एवं प्रकाशन तिरोहित रहते हैं, उसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित नाम और रूप से सम्पादित देह आदि उपाधियों के योग से अविवेक रूप भ्रम के कारण जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का तिरोभाव हो जाता है।[३] यहां यह और उल्लेखनीय है कि माया एवं अविद्या के विषयी रूप की स्थिति में उसका सम्बन्ध जीव ही से होता है, क्योंकि अज्ञान (अविद्या) के कारण ही जीव को नाम एवं रूप की सत्यता की भ्रान्ति होती है।

विषयत्व की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निरूपण

शांकर वेदान्त के समालोचक विद्वानों ने प्राय: शंकराचार्य प्रतिपादित माया के विषयित्व एवं विषयत्व की आलोचना करते हुए माया को विषयरूप एवं अविद्या को विषयि रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में नलिनी मोहन शास्त्री का कथन है—

What is maya from the objective side is Avidya from the subjective side.[४]

---

१. नामरूपोपाधिदृष्टिरेव भवति स्वाभाविकी। —बृ० उ०, शा० भा० ३।५।१।
२. सा चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसववीजम्। वही०, ३।५।१।
३. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।६।
४. *N. Shastri* : A Study of Sankara, p. 142 (Calcutta 1942).

अर्थात् विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। इस प्रकार उक्त लेखक ने अविद्या एवं माया को एक मानते हुए भी उपर्युक्त दृष्टि से भेद स्वीकार किया है। यहां इस लेखक का निवेदन है कि विषयित्व एवं विषयत्व के आधार पर शांकर दर्शन में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण शांकर दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत है। इस सम्बन्ध में ये तर्क दिए जा सकते हैं—

(१) शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया को पर्यायवाची माना है।[१]

(२) नलिनी मोहन शास्त्री के उपर्युक्त कथन के विपरीत शांकर वेदान्त में केवल विषयी रूप से ही अविद्या का वर्णन नहीं मिलता, अपितु विषयरूप से भी अविद्या का वर्णन मिलता है।[२] उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने जहां नामरूपात्मक जगत् की उत्पन्न-कर्त्री अविद्यात्मिका बीज शक्ति की चर्चा की है वहां अविद्या का वर्णन विषयिरूप में न होकर विषयरूप में ही है। शांकर भाष्य के अभी उद्धृत दोनों स्थलों (बृ० उ०, शा० भा०, २।१।१४, ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३) में अविद्या से जीव सम्बन्धित विषयिरूप अविद्या का अर्थ कदापि नहीं ग्रहण किया जा सकता। क्योंकि जीवगत अनादि अविद्या देहेन्द्रियादि संघातमय नामरूपात्मक भौतिक जगत् की उत्पादिका कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः उक्त स्थल में जहां अविद्या का उल्लेख नामरूपात्मक जगत् की बीजशक्ति के रूप में किया गया है, वहां अविद्या एवं माया से उस विषयरूप अविद्या एवं माया का तात्पर्य ग्रहण करना ही उचित होगा जो भौतिक जगत् का बीज है। अतः नलिनी मोहन शास्त्री का ऊपर निर्दिष्ट किया गया यह मत संगत नहीं प्रतीत होता कि विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। जैसा कि अभी कहा गया है शांकर भाष्य ग्रन्थों में अविद्या—माया का विषय रूप में वर्णन भी मिलता है।

भाष्यकार आनन्दगिरि ने भी माया एवं अविद्या के भेद का निराकरण करते हुए अविद्या एवं माया को एक ही कहा है।[३] अतः यह कथन उपयुक्त नहीं है कि जो विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है वही विषयत्व की दृष्टि से माया है। ऊपर हमने इस प्रकार के उद्धरण भी उद्धृत किए हैं जहां शंकराचार्य ने अविद्या का प्रयोग विषयत्व की दृष्टि से किया है। अतः यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि शांकर वेदान्त में अविद्या का वर्णन विषयित्व एवं विषयत्व दोनों दृष्टियों से मिलता है।

शांकर वेदान्त में उपलब्ध अविद्या के उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण से हमें एक अन्य तथ्य भी उपलब्ध होता है और वह यह है कि विषयमूलक अविद्या द्वारा उत्पन्न जगत् की सत्ता केवल विषयित्व की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु विषयित्व की दृष्टि से भी है। इस तथ्य का समर्थन इस तर्क से भी हो जाता है कि विद्या के द्वारा ब्रह्म में अध्यस्त नाम रूपात्मक प्रपंच का तो लय हो ही जाता है, परन्तु भौतिक जगत् का विनाश नहीं होता। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के समालोचक कोकिलेश्वर शास्त्री का यह कथन उपयुक्त ही है कि जिस क्षण

---

१. ब्र० सू०, शां० भा०, १।४।३।
२. बृ० उ०, शां० भा०, २।१।१४।
३. आनन्दगिरि के मत के लिए देखिए—
S. B. E. Vol. XXXIV, page 243. पर पाद टिप्पणी।

जीव मुक्त होता है उस क्षण जगत् का अभावरूपात्मक विनाश नहीं हो जाता है।[१]

रामतीर्थ का मत

अज्ञान की विषयमूलकता का प्रतिपादन करते हुए शांकर वेदान्त के समालोचक रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार एवं असत् सिद्ध करने वाले मतोंका निराकरण किया है।[२] रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्या ज्ञान न मानकर त्रिगुणात्मक माना है। इसके अतिरिक्त रामतीर्थ ने अज्ञान को ज्ञान का अभाव सिद्ध करने वाले मत का निराकरण तो किया ही है।[३] उन्होंने अज्ञान की भावरूप सत्ता स्वीकार की है। अतः माया एवं अविद्या के भाव रूप होने के कारण उसे केवल विषयिमूलक कहना उचित नहीं है।

प्राणरूप से अविद्या के विषयत्व का निरूपण

अपनी अव्यक्त स्थिति में प्राण, शंकराचार्य द्वारा अव्यक्त नाम से व्याख्यात[४] माया का ही पर्यायवाची है।[५] इसी प्राण को आचार्य शंकर ने जगत् के समस्त विषयों का बीजात्मा कहा है।[६] यह प्राण अथवा माया बीज अव्यक्त स्थिति में ब्रह्म रूप में अधिष्ठित होता हुआ स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप से व्यक्त हुआ है व्यक्तावस्था के प्राण अथवा माया के शंकराचार्य ने निम्नलिखित तीन रूप बतलाये हैं—

(१) प्रथम रूप के अनुसार प्राण एवं माया का प्रथम रूप विकार रहित आत्मा का रूप है।

(२) द्वितीय रूप के अनुसार एक आत्मा का ही माया के कारण अनेक रूप में दर्शन होता है।

(३) तृतीय रूप के अनुसार सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान आत्मा का अनेक रूप में दर्शन होता है।[७]

---

१. The world does not vanish into nothingness, the moment the individual soul attains *Mukti*. देखिए, कोकिलेश्वर शास्त्री का लेख—Objectivity of Maya (Jha Commemoration Vol. 1937, page 336.)

२. मिथ्याज्ञान जन्यसंस्कारः अज्ञानम्, असत्प्रकाशन शक्तित्वेन असद्वा—इतिमतद्वयं निरस्यति। देखिए, रामतीर्थ-वेदान्तसार।

३. सत्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः कारणमव्याकृतात्मकम्। अज्ञानं त्रिरूपेणत्रिगुणात्मकम्। तथा च गुणस्यगुणवत्तानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानम् 'अज्ञानम्'।–Jha Commemoration, Vol. 1937, Page 338 से उद्धृत रामतीर्थ का मत।

४. ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३।

५. अव्याकृत एव प्राणः······ (शा० भा०, मा० का० १।२)

६. इतरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति। (शा० भा०, मा० का० १।६)

७. उपदेश साहस्री १७।२७।

प्राण रूप से जिस माया बीज की चर्चा हमें शांकर दर्शन में मिलती है वह भी माया एवं अविद्या की विषयमूलकता की पोषक है। उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शांकर वेदान्त की अविद्या एवं माया को केवल विषयिमूलक ही न मानकर विषयमूलक भी मानना चाहिए।

शंकराचार्योत्तर काल में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण

जैसा कि अभी कहा जा चुका है शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया था। शंकराचार्य के उत्तर काल के अद्वैत वादियों ने ही अविद्या एवं माया के भेद का निरूपण किया था।[1] शंकराचार्य परवर्ती वेदान्त में प्रायः अविद्या को विषयिमूलक एवं माया को विषयमूलक कहा गया है। शंकराचार्य के उत्तरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने माया एवं अविद्या का भेद निरूपण भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर किया है। यहां कतिपय मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

विवरणकार का मत

प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिका विवरण के अन्तर्गत व्यवहार भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद स्थापित करते हुए कहा है कि विक्षेप-प्राधान्य से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।[2] इस प्रकार विवरणकार ने आवरण शक्ति सम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति सम्पन्न को माया कहा है।

विद्यारण्य का मत

विवरण प्रमेयसंग्रह के रचयिता विद्यारण्य ने जगत् के अनेक कार्यों की उत्पन्नकर्त्री शक्ति को माया एवं जीव की बुद्धि पर आवरण डालने वाली शक्ति को अविद्या कहा है।[3]

पंचदशी के अन्तर्गत विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या का जो भेद दिखाया है उसके अनुसार सत्व की शुद्धि से माया और सत्व की अशुद्धि से अविद्या की उत्पत्ति होती है।[4] इस प्रकार पंचदशी के अनुसार विशुद्धसत्वप्रधान प्रकृति को माया तथा मलिनसत्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं।

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत

अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य ने परमेश्वर की शक्ति ''माया के दो भेद किए हैं। एक विशुद्धसत्वप्रधाना माया और दूसरी अविशुद्धसत्वप्रधाना माया। विशुद्ध

---

१. While Sankara uses Avidya & Maya indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two.

—*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 589.

२. एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादनप्राधान्येन विद्येतिव्यवहारभेदः (पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ३२) (विजयनगरम् सिरीज)।

३. विवरण प्रमेय संग्रह १।१, Indian Thought, Vol. I, p. 289.

४. सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च तेमते (पंचदशी १।१६)।

सत्वप्रधाना माया सत्वगुण प्रधान है और अविशुद्ध सत्व प्रधाना माया तमोगुण प्रधान है विशुद्ध सत्व प्रधाना माया परमेश्वर की दासी है एवं अविशुद्ध सत्व प्रधाना माया जीव स्वामिनी[1] है। यही अविशुद्ध सत्वप्रधाना माया अविद्या का रूप है।

जैसा कि उपर्युक्त मतों से स्पष्ट हुआ है, शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिकों ने माया अविद्या के अन्तर्गत भेद का निरूपण किया है। माया के वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से भेद निरूपण उपयुक्त ही है। माया एवं अविद्या की इस भेद व्यवस्था की अव्यक्त सूचना वेदान्त सार के अन्तर्गत सदानन्द द्वारा व्याख्यात आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से भी मि है। यहां सदानन्द द्वारा व्याख्यात माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के सम्बन्ध विचार करना उपयुक्त होगा।

माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियां

सदानन्द ने वेदान्त सार के अन्तर्गत माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों की की है।[2] माया की आवरण शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है, जिसका फल यह है कि जीव अपने स्वरूप—परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म—का ज्ञान नहीं कर पाता। माया की दू शक्ति विक्षेप शक्ति है। यह विक्षेप शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टिकर्त्री है।[3] शंकरा के उत्तरकाल में माया का व्यवहारदृष्टि से विषयिमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के में जो भेद मिलता है वह माया की उपर्युक्त आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के समान ही जिस प्रकार कि विषयिमूलक अविद्या जीव को वस्तुज्ञान से वंचित करती है उसी प्रकार अ रण शक्ति भी जीव के स्वरूप ज्ञान में बाधक है। ऐसे ही, जिस तरह कि विषयमूलक म जगत् की बीज शक्ति है उसी प्रकार विक्षेप शक्ति भी जगत् की रचयित्री है।[4]

ऊपर हमने शांकर वेदान्त सम्मत जिस माया की चर्चा की है वह अनादि, भाव अनिवर्चनीय एवं सान्त है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त में ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं माया आदि के सम्बन्ध में उपर्यु सिद्धान्तों की स्थापना करके अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ऊपर ह शांकर अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय शंकराचार्य परवर्ती अद्वैत वेदान्त आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। शांकर सिद्धान्त के प्रतिपादन के सम्बन्ध में शंकर चार्य के परवर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करना इस लिए अनुचित नहीं है कि शंकराच के परवर्ती वाचस्पति मिश्र आदि आचार्य बहुत कुछ शांकर सिद्धान्त के ही अनुयायी थे। इ आचार्यों की मौलिकता के कारण मतभेद अवश्य हो गया है। इसलिये स्थान-स्थान पर इ आचार्यों के मतभेद का निर्देश कर दिया गया है।

शंकराचार्य पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण

शंकराचार्य ने संहिताओं, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणों, ब्रह्म सूत्र एवं श्रीमद्भगवद्

---

१. अद्वैत चन्द्रिका, पृष्ठ ४१ (बनारस १९०१)।
२. वेदान्तसार–४।
३. विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्। —वेदान्तसार-१० से उद्धृत।
४. विशेष देखिए, संक्षेप शारीरक १।२०।

गीता आदि के आधार पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक स्थापना की थी, उसकी विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या शंकराचार्य के पद्मपादाचार्य आदि शिष्यों एवं वाचस्पति मिश्र तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने की थी। शांकर वेदान्त की व्याख्या होते हुए भी शंकराचार्य के शिष्यों एवं उनके पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या को उसी प्रकार पिष्टपेषण कहना समीचीन न होगा जिस प्रकार कि स्वयं शंकराचार्य का अद्वैतवाद सिद्धान्त उपनिषद् दर्शन पर आधारित होते हुए भी उपनिषद् दर्शन का पिष्टपेषण मात्र नहीं है। जिस प्रकार कि शंकराचार्य ने नवीन एवं मौलिक उद्भावना शक्ति के द्वारा उपनिषद् दर्शन का मंथन करके अद्भुत अद्वैत रत्न की खोज की थी, उसी प्रकार शंकराचार्य के शिष्यों एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभासम्पन्न एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत रत्न का समीक्षात्मक निरूपण किया था। इस स्थल पर पहले शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों तथा उनके प्रमुख मत मतान्तरों का विवेचन किया जायेगा और फिर अद्वैत वेदान्त के ही कतिपय अन्य आचार्यों का उल्लेख किया जाएगा।

सुरेश्वराचार्य (८०० ई०)

सुरेश्वराचार्य मण्डन मिश्र का ही संन्यास आश्रम का नाम है। संन्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्बीय मण्डन कारिका, भावना विवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने तैत्तिरीय श्रुति वार्तिक, नैष्कर्म्य सिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्य सिद्धि, पंचीकरण वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्म सिद्धि, ब्रह्म सूत्र भाष्य वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिक सार और वार्तिक सार संग्रह आदि ग्रन्थ लिखे थे।

सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत—मूलतः तो सुरेश्वराचार्य अपने गुरु शंकराचार्य के समर्थक थे। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनायें की थीं। आभासवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। इस स्थल पर आभासवाद का संक्षिप्त निरूपण किया जायेगा।

सुरेश्वराचार्य का आभासवाद का सिद्धान्त—शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की सैद्धान्तिक स्थापना एवं समालोचना की थी, उसकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की थी। सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् को न प्रतिबिम्ब स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में। प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद के विपरीत वे जगत् को आभासमात्र मानते हैं।[1] सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है जिस प्रकार कि मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है जब तक कि

१. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ० १२४५।

सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार कि मूर्च्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो उस व्यक्ति के सम्मुख नहीं उपस्थित होतीं और मूर्च्छा हटने पर उस व्यक्ति के मूर्च्छाकाल की वस्तुएँ मिथ्या प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसी को परमार्थ बोध होने पर अविद्या निवृत्ति के कारण—अविद्या कालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते हैं। इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासन का कारण अविद्या है।

आचार्य सुरेश्वर का आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहां तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है, बिम्ब (मूलतत्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्व (ब्रह्म) एवं आभासमात्र द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है।[२] प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है, परन्तु सुरेश्वराचार्य के आभासवाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण प्रतिबिम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिबिम्बवादी की दृष्टि में यह अज्ञान बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की भेद दृष्टि है। बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद दर्शन के द्वारा नहीं।[२] इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती। यह हम अभी कह चुके हैं कि व्यावहारिक जगत् के सत्य दिखाई पड़ने का कारण अविद्या है। आचार्य सुरेश्वर के आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी भेद द्रष्टव्य है। अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानसिक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है परन्तु जो (ब्रह्म) अवच्छिन्न दिखाई पड़ता है वह तो सर्वथा अनवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

सुरेश्वराचार्य ने उपर्युक्त आभासवाद सिद्धान्त के आधार पर ही अपने संन्यास गुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मण्डन किया था। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र कहकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परन्तु सुरेश्वराचार्य के अनुयायियों ने उनके आभासवाद में व्यावहारिक सत्यता का मिश्रण करके सुरेश्वराचार्य को प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं का समर्थक सिद्ध किया था।

---

१. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ० ६६६, विधि विवेक २१, २२।
२. *Dr. Virmani Prasad, Upadhyaa* : Lights on Vedanta, p. 43.

पद्मपादाचार्य (८२० ई०)

आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण में चोल प्रदेश के अन्तर्गत हुआ था। प्राय: ये शंकराचार्य के साथ ही रहते थे और उनसे वेदान्त के उपदेशों का श्रवण किया करते थे। आचार्य पद्मपाद की प्रमुख रचना पंचपादिका है। पंचपादिका के सम्बन्ध में अद्भुत कहानी सुनने को मिलती है। कहा जाता है कि पद्मपाद पंचपादिका की रचना करके उसे अपने प्रभाकर मतानुयायी मामा के घर रखकर रामेश्वर चले गये थे। जब वे रामेश्वर से लौटे तो उन्हें पता चला कि उनके मामा ने पंचपादिका को जला दिया है। यह जानकर पद्मपाद को अत्यन्त दु:ख हुआ और उन्होंने पंचपादिका को पुन: लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रभाकर मतानुयायी मामा ने आचार्य पद्मपाद को विष दे दिया जिससे वे विक्षिप्त हो गए। अब पद्मपादाचार्य ने गुरु (शंकराचार्य) से सुनकर पंचपादिका की रचना की। पंचपादिका के अन्तर्गत ब्रह्म सूत्र के चार सूत्रों के शांकर भाष्य की व्याख्या- मिलती है। पंचपादिका पर प्रकाशात्म मुनि की विवरण और विवरण पर अखण्डानन्द की तत्वदीपन नामक टीका उपलब्ध है।

पंचपादिका के अतिरिक्त पद्मपादाचार्य रचित—आत्मानात्म विवेक, प्रपंच सार तथा सुरेश्वराचार्य कृत लघुवार्तिक की टीका, ये तीन ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। जहां तक पद्मपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है, अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि दी थी। पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार प्रकाशात्म यति के नाम से जो दार्शनिक विवेचन मिलता है वह विवरण सम्प्रदाय के नाम से मिलता है। पद्मपादाचार्य ने ब्रह्म एवं अविद्या का सम्बन्ध निश्चित करते हुए इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय-विषयिभाव सम्बन्ध स्थापित किया है।[1] इसी को अधिष्ठान एवं अध्यास का सम्बन्ध कहा जा सकता है। वाचस्पति मिश्र उक्त मत के विपरीत अवच्छेद सम्प्रदाय के समर्थक हैं। अवच्छेद सम्प्रदाय का विवेचन वाचस्पति मिश्रके दार्शनिक विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार

पद्मपादाचार्य ने मिथ्यात्व को सत्व एवं असत्व के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण कहा है।[2] इस मत के अनुसार मिथ्या एवं अनिर्वचनीय जगत् को न पूर्णतया सत्य कहा जा सकता है और न पूर्णतया असत्य। पद्मपादाचार्य का कथन है कि एक स्थान पर मिथ्या पदार्थ का विलक्षणत्व त्रिकाल में अबाधित नहीं है। यही कारण है कि एक स्थान पर मिथ्या पदार्थ का बोध होने पर भी दूसरे स्थान पर उसकी सत्य रूप से प्रतीति होती है।[3]

मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार है कि जीव एवं ब्रह्म

---

१. Lights on Vedanta, Page 105.

२. सत्वासत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्। —पंचपादिका, पृ० १०।

३. पंचपादिका १०।

के एकत्व के द्वारा ही मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है।[1]

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०)[2] और उनकी दार्शनिक देन—

अद्वैताकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का नाम अत आदर के साथ लिया जाता है। भामती ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य की अद्भुत व्याख्या है। भा के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र के अन्य कई ग्रन्थ हैं। इन्होंने सुरेश्वर की ब्रह्मसिद्धि पर त तत्व समीक्षा, सांख्यकारिका पर तत्वकौमुदी, पातंजल दर्शन पर तत्व वैशारदी, न्याय दर्शन न्यायवार्तिक तात्पर्य, पूर्व मीमांसा दर्शन पर न्यायसूची निबन्ध, भाट्टमत पर तत्वबिन्दु त मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकारिका नामक टीका की रचना की थी। इसके अतिरि वाचस्पतिमिश्र के नाम से दो और ग्रन्थ मिलते हैं—एक खण्डन कुठार तथा दूसरा स्मृति संग्रह परन्तु इन ग्रन्थों के रचयिता के सम्बन्ध में अभी संदेह बना हुआ है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा अद्वैत वेदान्त की व्याख्या—वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन अवच्छेदवाद के आधार पर किया है, यह हम सुरेश्वराचार्य के आभासवाद का विवेचन करते समय पीछे कह चुके हैं। प्रतिबिम्ववाद एवं आभासवाद के विपरीत वाचस्पति मिश्र का कथन है कि जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्न एवं असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं ससीमता को प्राप्त होता है। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण प्रायः आकाश के उदाहरण द्वारा किया है। जिस प्रकार कि एक ही आकाश को सांसारिक लोग घट एवं मठ के सम्बन्ध से घटाकाश एवं मठाकाश कहकर पुकारते है, उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म जीव की अविद्योपाधि के कारण ससीमता एवं अवच्छिन्नता को प्राप्त होता है। अविद्या प्रत्येक जीव मठ में आश्रित रहती है। जैसे कि घट एवं मठ रूप उपाधियों के नष्ट होने पर घटाकाश एवं मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्योपाधि के नष्ट हो जाने पर भी जगत् के समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं और तत्फलस्वरूप एक ब्रह्मात्मा ही शेष रह जाता है।

जहां तक जीव और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्ध की बात है वाचस्पति मिश्र इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव मानते हैं और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में वे विषय-विषयि भाव को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म साक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में भी अद्वैत दर्शन के व्याख्याताओं की भिन्न-भिन्न दृष्टियां हैं। ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र आदि प्राचीन अद्वैती आचार्य प्रसंख्यान (गम्भीर चिन्तन) को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त मत का ही समर्थन एवं स्पष्टीकरण किया है। वाचस्पति मिश्र के मत को उद्धृत करते हुए अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति मिश्र श्रुतिसाक्षात्कार से वही अर्थ लेते हैं जो मण्डन मिश्र प्रसंख्यान से प्राप्त ब्रह्म साक्षात्कार से ग्रहण करते हैं।[3]

---

१. मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाद्भवति न क्रियातः।
—पंचपादिका, पृष्ठ ९०, ई० जे० लजारस एण्ड कम्पनी, संवत् १९४२।

२. वाचस्पति मिश्र के काल के सम्बन्ध में देखिए, आशुतोषशास्त्री—वेदान्त दर्शन, अद्वैतवाद (बंगला संस्करण)।

३. वेदान्त कल्पतरु, पृष्ठ ५६।

अद्वैत वेदान्त शास्त्र की उपयोगिता बतलाते हुए कल्पतरुकार का कथन है कि वेदान्त दर्शन जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराने में समर्थ है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०)[2]

सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ये शृंगेरी मठ की गद्दी पर विराजित थे। सर्वज्ञात्ममुनि की प्रख्यात रचना संक्षेप शारीरक है। सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है।[3] रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य से सुरेश्वराचार्य का ही अर्थ लिया है।[4]

जगत् कारणता के सम्बन्ध में शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैतवादियों के जो तीन मत प्रसिद्ध हैं उनमें सर्वज्ञात्ममुनि का मत प्रमुख है। दो अन्य मत प्रकाशात्मयति और वाचस्पति मिश्र के हैं। विवरणकार प्रकाशात्मयति ईश्वर एवं जीव को अविद्या में बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकाशात्मयति का मत है कि शुद्ध चित् तत्त्व ही जो ईश्वर एवं जीव रूप में दिखाई पड़ता है और जो साक्षी के रूप में कार्य करता है, वही जगत् का उपादान कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का जगत् कारणता सम्बन्धी मत विवरणकार के उक्त मत से भिन्न है। संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में शुद्ध चित्त का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब जीव है। सर्वज्ञात्ममुनि के मतानुसार शुद्ध-चित् ही जो अविद्यागत प्रतिबिम्ब का मूल है, साक्षी एवं जगत् का उपादान कारण है। वाचस्पति मिश्र का यह मत उक्त दोनों मतों से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण के अनुसार शुद्ध चित् ही जो अविद्या का आधार या अधिष्ठान प्रतीत होता है, जीव है और वही शुद्ध चित् जब अविद्या के विषय रूप में दिखाई पड़ता है तो ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने जीव को ही जगत् का उपादान कारण माना है, क्योंकि अविद्या के कारण जीव ही ब्रह्म साक्षात्कार न करके प्रपंचरूप जगत् की सृष्टि करता है।[5]

अप्पय दीक्षित के अनुसार उक्त मतों का विवेचन

सिद्धान्त लेश संग्रह के रचयिता अप्पय दीक्षित के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि माया के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है। जगत् की सृष्टि के कार्य में माया का साहाय्य द्वारत्वेन ग्राह्य है। विवरणकार के मतानुसार माया विशिष्ट ब्रह्म जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है वही, ईश्वर जगत् का कारण है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्रह्म जब अविद्या का विषय बनता है तो वह ईश्वरता को प्राप्त होता है और वही

---

१. ब्रह्मात्मैकत्वबोधित्वाद्वेदान्तिनाम्। —वेदान्तकल्पतरु, पृ० २५ (प्रथम भाग), ई० जे० लजारसे एण्ड कम्पनी, संवत् १९५२।
२. सर्वज्ञात्ममुनि का यह काल डा० दास गुप्त के 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी', भाग २, पृष्ठ ११२ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।
३. जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः। संक्षेपशारीरकम् १।८।
४. सं० शा० १।८ पर देखिये रामतीर्थ की टीका।
५. विशेष देखिए, अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्दी टीका, पृ० ४८३ (बम्बई प्रकाशन) तथा सिद्धान्त बिन्दु, पृ० २२५-२२७।

ब्रह्म अविद्या के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप जीव को जब अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हो
तो जगत् का कारण बन जाता है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि और अधिष्ठानवाद

अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त प्रमुख सि
है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वज्ञात्ममुनि एवं ब्रह्मानन्द आदि शंकराचार्य के प
विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहां सर्वज्ञात्ममुनि के ही अधिष्ठान सम्बन्धी दृष्टिको
विवेचन किया जायेगा।

सर्वज्ञात्ममुनि ने एक विलक्षण मत की स्थापना करते हुए आधार एवं अधि
बीच भेद की व्यवस्था की है। सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि साक्षी या शुद्ध चिद् रू
जिसकी अविद्या जगत् की स्थिति एवं उसके दृश्यत्व के लिए उत्तरदायिनी है, अधि
इसके अतिरिक्त जब ब्रह्म उस अविद्या से विशिष्ट प्रतीत होता है जो ब्रह्म की उपस्थि
से ही अविच्छिन्न रूप से व्यावहारिक जगत् के रूप में परिणत होती है और इस परि
जब वह (ब्रह्म) अविद्या के आश्रयदाता के रूप में स्थित होता है तो वह अधिष्ठान
आधार होता है। उदाहरण के लिए 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस वाक्य में 'इदं
वर्तमान चित् का वह रूप जो अविद्या का आश्रय प्रतीत होता है अधिष्ठान न होकर
है। शुक्ति एवं रजत और ब्रह्म एवं अविद्योत्पन्न जगत् के सम्बन्ध में शुक्ति और ब्र
आधार रूप मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् के बीच जिस आधार-आधेय भाव की कल्प
जाती है वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत् की उत्पत्ति अविद्या से हुई है उसे ब्रह्म का
और ब्रह्म को उसका आधार नहीं कहा जा सकता। जहां तक ब्रह्म की अधिष्ठानरूपत
प्रश्न है उसके अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत एवं ब्रह्म में जगत् की बुद्धि उत्पन्न हो
परन्तु अधिष्ठान रूप शुक्ति एवं ब्रह्म रजत एवं जगत् से असम्बद्ध हैं। दोनों में सम्बन्ध ह
कैसे सकता है, क्योंकि एक सत् है और दूसरा असत् और सत् एवं असत् का सम्बन्ध अनि
है।[2] अतः जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि मानते हैं ब्रह्म का अधिष्ठान रूप ही सत्य है आधार
नहीं।[3]

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र (११४९ ई०)

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र का काल बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अन्त है। यह कांची
शारदामठ (कामकोटिपीठ) के पीठाधीश थे और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्
के शिष्य थे। वेदान्त विद्या का अध्ययन इन्होंने रामानन्द सरस्वती से किया था। यह चि
विलास एवं आनन्द बोध के नाम से भी प्रख्यात थे। इन्होंने ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविव
और गुरुप्रदीप नामक ग्रन्थों की रचना की थी।[4]

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५६, ७५-६६; पंचपादिका विवरण २२३, २२४, २३१ (ब्र
रस संस्करण)।

२. ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।१८।

३. Lights on Vedanta, p. 163.

४. देखिए, *Tripathi's* Introduction to Anandajnana's Tarkasangraha.

आनन्दबोध भट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के समीक्षक आचार्य आनन्दबोध भट्टारक १२वीं शताब्दी में वर्तमान थे। अद्वैत वेदान्त पर इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—न्यायमकरंद, प्रमाण माला और न्याय दीपावली। न्याय मकरंद इनका संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर इन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

जगत् के मिथ्यात्व का विवेचन अद्वैतवाद के प्रतिपादन का प्रमुख अंग है। जगत् के मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। न्यायमकरंदकार आनन्दबोधाचार्य का मत पद्मपादाचार्य और प्रकाशात्मा के मतों से भिन्न है। मिथ्यात्व एवं अनिर्वाच्यत्व का प्रतिपादन करते हुए आनन्द बोधाचार्य का कथन है कि अविद्या के कार्यों एवं परिणामों सहित अविद्या की निवृत्ति को बाध कहते हैं और उस बाध का ज्ञान होना ही अनिर्वाच्यता है।[1]

आनन्द बोधाचार्य सदसद्विलक्षण अविद्या को ही जगत् का कारण मानते हैं।[2] अपने मत के समर्थन में इनका कथन है कि असत् जगत् की उत्पत्ति किसी सत् पदार्थ से तो हो नहीं सकती और सर्वथा असत् पदार्थ से भी जगत् की उत्पत्ति पूर्णतया असंगत है। अतः जब सत् या असत् वस्तु जगत् का कारण नहीं हो सकती तो सत् एवं असत् विलक्षण वस्तु ही जगत् का कारण हो सकती है। आनन्द बोधाचार्य का कथन है कि सत् एवं असत् से विलक्षण अविद्या ही है।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी)

प्रकाशात्मा रचित पंचपादिका की टीका विवरण का स्थान अद्वैत वेदान्त में अतिशय महत्वशाली है। प्रकाशात्मा के गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था।[4] प्रकाशात्मा ही प्रकाशानुभव के नाम से भी प्रचलित थे।

अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में प्रकाशात्मा का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि उनकी विवरण टीका के नाम से विवरण सम्प्रदाय नामक एक पृथक् सम्प्रदाय का ही प्रचलन हो गया है।

प्रकाशात्मा ने अद्वैत दर्शन का विश्लेषण करते हुए ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय-विषयि भाव सम्बन्ध माना है। पद्मपादाचार्य भी इसी मत के पक्षपाती थे। जैसा कि कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र का मत उक्त मत से भिन्न है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत पद्मपादाचार्य के मत से भिन्न है। पद्म-

---

१. सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तदगोचरतैवानिर्वाच्यता।
—न्यायमकरंद, पृ० १२५, चौखम्बा संस्करण, बनारस १९०७।

२. न्याय मकरंद, पृ० १२२, १२३।

३. डा० दासगुप्त ने विवरणकार प्रकाशात्मा का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है (डा० दास गुप्त के मत के लिए देखिए—इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० १९६-९७)।

४. वेदान्त अंक (कल्याण), पृ० ६४९।

पादाचार्य शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशात्मा शुक्ति आदि में रजतादिके सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।[1] विवरणकार ने मिथ्यात्व को अनिर्वचनीयता का ही समर्थक माना है।[2]

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत ब्रह्मदत्त आदि के मत से भिन्न है। प्रकाशात्मा ब्रह्मदत्त आदि की तरह मनन को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण न मानकर श्रवण को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण मानते हैं।[3] विवरणकार का मत है कि यद्यपि मनन और निदिध्यासन श्रवण की अपेक्षा आगामी हैं, परन्तु फिर भी वे ब्रह्म साक्षात्कार के प्रधान कारण नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि में प्रकाशात्मा का तर्क है कि श्रवण का ब्रह्म साक्षात्कार से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण श्रवण ब्रह्म साक्षात्कार में प्रधान कारण है। इसके विपरीत मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के परम्परया कारण हैं।

विमुक्तात्मा (१२०० ई०)

विमुक्तात्मा ने अपने इष्टसिद्धि नामक ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त की अज्ञान आदि प्रमुख विचार ग्रन्थियों का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है।

विमुक्तात्मा ने आत्मा एवं जगत् के विषयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न का समाधान खोजने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत् रूप विषय) न एक दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। भिन्न इस लिए नहीं है कि 'दृक्' (आत्मा) दृश्य नहीं है। दृश्य का अदृश्य या अदृश्य का दृश्य से भेद सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी ने अरुण नामक व्यक्ति को नहीं देखा है तो वह उसे श्याम नामक व्यक्ति से भिन्न नहीं बता सकता। इसी प्रकार जब दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है तो उसे दृश्य से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध कहता है दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत्) के बीच अभेद सम्बन्ध भी नहीं स्थापित किया जा सकता। अभेदवादी का कथन है कि दृक् एवं दृश्य का साथ-साथ बोध होता है। दृक् एवं दृश्य का समकालिक बोध ही उनके भेद का सूचक है, क्योंकि दोनों के अभिन्न होने पर उनके पृथक् बोध का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। विमुक्तात्मा का कथन है कि भेद, अभेद सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक् एवं दृश्य के बीच भेदाभेद सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। भेदाभेदवाद के समर्थक का कथन है कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य में भेद है, परन्तु ब्रह्मात्मता की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, इसलिए दृक् एवं दृश्य में भेदाभेद मानना चाहिए। उक्त तर्क का अनौचित्य स्पष्ट करते हुए विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि दृक् एवं दृश्य ब्रह्म से अभिन्न हुए होते तो दोनों के भेद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अतः भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना

---

१. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्। ......स्वनिष्ठनिरवच्छिन्नप्रकारता निरूपित विशेष्यता समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्। Lights on Vedanta, page 181 से उद्धृत प्रकाशात्मा का मत।

२. पंचपादिका विवरण, पृ० १५६।
(Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, 1958).

३. पंचपादिका विवरण, पृ० १०४, १०५।

भी अनुचित है।[1] अतः दृक् एवं ब्रह्म में तो अभेद है, परन्तु दृक् एवं मायोत्पन्न जगत् का सम्बन्ध अनिर्वाच्य है। मायिक जगत् का अधिष्ठान विमुक्तात्मा ने आत्मानुभूति को माना है। इसीलिए विमुक्तात्मा ने इष्ट सिद्धि के आरम्भ में अज, अमेय, अनन्त एवं आनन्द स्वरूप आत्मानुभूति को महदादि जगत् के माया चित्र की भित्ति कहा है।[2]

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक विलक्षण मत को जन्म दिया है। वे अज्ञान की अनेकरूपता स्वीकार करते हैं। विमुक्तात्मा का विचार है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उतने ही अज्ञान हो सकते हैं जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। इस सम्बन्ध में विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ किसी व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता है। यही कारण है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, रस्सी के सम्बन्ध में उत्पन्न किसी व्यक्ति का सर्प रूप अज्ञान नष्ट होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को उसी रस्सी में दण्ड, धारा आदि रूप अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता के पक्षपाती हैं।

इस प्रकार विमुक्तात्मा ने अद्वैत वेदान्त की अनेक दुरूहताओं का स्पष्टीकरण बड़े वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण ढंग से किया है।

आचार्य चित्सुख (१२२० ई०)

आचार्य चित्सुख दर्शन के क्षेत्र में उस समय अवतरित हुए थे, जिस समय दर्शन के क्षेत्र में दो प्रबल धाराएँ प्रवर्तित हो रही थीं। एक ओर तो गंगेश आदि नैयायिक न्याय मत के प्रचार में लीन थे और दूसरी ओर वैष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी चित्सुखाचार्य ने न्याय दर्शन का खण्डन करते हुए, अद्वैत दर्शन का समर्थन किया था। चित्सुखाचार्य ने अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों—तत्व प्रदीपिका, न्याय मकरन्द टीका और खण्डनखण्डखाद्य की टीका के अन्तर्गत किया है। तत्वप्रदीपिका का ही दूसरा नाम चित्सुखी है।

साक्षी के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्य परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में भेद की स्थापना के समर्थक हैं। वे साक्षी को स्वतन्त्र एवं द्रष्टा मात्र मानते हैं। इसके विपरीत प्रमाता, आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा ज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है।[3]

आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। चित्सुखाचार्य ने उक्त मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुःखाभाव स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। आचार्य चित्सुख पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहते हैं कि सुख ही

---

१. *T. M. P. Mahadevan* : The Philosophy of Advaita, p. 151-152.

२ यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा
महदादि जगन्मायाचित्रभित्तिम् नमामिताम्॥ —इष्टसिद्धि, पृ० १।

३. तत्वप्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद), पृ० ३८१-३८२ एवं इस पर देखिए नयनप्रसादिनी टीका (निर्णय सागर, बम्बई १९३१)।

दुःखाभाव का अंग है, इसप्रकार विपरीत प्रसंग नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि, सुख को दुःखाभाव का अंग मानने पर न उसे दुःखाभाव का उत्पादक माना जा सकता है और न उसका अभिव्यंजक।[1]

अमलानन्द (१३ वीं शताब्दी)

अमलानन्द के गुरु का नाम अनुभवानन्द था। आचार्य अमलानन्द अद्वैत मत के पूर्ण समर्थक थे। अमलानन्द ने वेदान्त कल्पतरु, (वाचस्पति मिश्र की भामती की टीका) शास्त्र दर्पण, और पंचपादिका दर्पण इन तीन ग्रन्थों की रचना की थी। तीनों ही ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में प्रामाणिकता की दृष्टि से सम्मान्य है।

अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं। दृष्टिसृष्टिवाद का सैद्धान्तिक विवेचन आगामी प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा। दृष्टि सृष्टिवाद के अनुसार समस्त प्रपंच शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है। वस्तुतः श्रुतियों में सृष्टि का प्रतिपादन पारमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहां आरोप न्याय के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, वहां अपवाद न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया गया है। उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों (सइमांल्लोकानसृजत आदि) का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उनका अभिप्राय कदापि नहीं है।[2] इसलिए दृष्टिसृष्टिवादी के अनुसार सृष्टि तात्विक न होकर दृष्टि कालिक ही है—**दृष्टि समसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः।**

अमलानन्द का एक और विचार उनके अद्वैत वेदान्त के सूक्ष्म पर्यवेक्षी होने का परिचायक है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक मत का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र प्रभृति प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का कारण मानते हैं। प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का कारण स्वीकार करने पर यह आपत्ति स्वाभाविक है कि प्रमाण संख्या के अन्तर्गत प्रसंख्यान का परिगणन न होने के कारण उससे उत्पन्न होने वाले ब्रह्म साक्षात्कार को प्रमा नहीं कहा जा सकता। इस आपत्ति का समाधान हमें अमलानन्द के इस कथन के अन्तर्गत मिलता है कि वेदान्त वाक्यों से जन्य ज्ञान के अभ्यास से होने वाली अपरोक्ष बुद्धि वेदान्त वाक्य अथवा उससे होने वाली प्रमा की दृढ़ता से (अविप्रतिपन्न प्रामाण्यहोने के कारण) भ्रम नहीं होती है। इसीलिए परतः प्रामाण्यापत्ति भी प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि अपवाद के

---

१. नात्र दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्ति शेषत्वात्। न च विपरीतवृत्तिप्रसंगाः, विकल्पासहत्वात्। किं सुखदुःखाभावस्योत्पादकमुताभिव्यंजकम्, नोमयथापि। —तत्त्व प्रदीपिका, चतुर्थ परिच्छेद।

२. श्रुतीनां सृष्टि तात्पर्य स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते॥ —शास्त्र दर्पण—१।४।४ पृ० ८७
(वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् १९१३)।

३. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ३९१।

निरास के लिए मूल प्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।[1] इस प्रकार अमलानन्द परिसंख्यान जन्य ब्रह्म साक्षात्कार को प्रमा रूप स्वीकार करते थे।

अद्वैत वेदान्त का विवेचन करते समय कहीं-कहीं अमलानन्द का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती शंकराचार्य एवं वाचस्पतिमिश्र आदि के मत से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्र भाष्यकार शंकराचार्य एवं भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने जीव की ईश्वरभावापत्ति को स्पष्ट सिद्ध किया है।[2] इस समवन्ध में अमलानन्द का दृष्टिकोण भिन्न है। वे माया प्रतिबिम्बित ईश्वर की मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं स्वीकार करते।[3]

इस प्रकार अमलानन्द ने अद्वैत वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया है।

विद्यारण्य (१३५० ई०)

विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इनका दूसरा नाम भारती तीर्थ भी मानते हैं।[4] डाक्टर वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भारती तीर्थ को पंचदशी का लेखक कहा है।[5] इस विषय का विवेचन यहां आवसरिक न होने के कारण, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वयं माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीय न्याय माला' की टीका विस्तर में भारती तीर्थ को अपना गुरु लिखा है। अतः भारती तीर्थ और विद्यारण्य को पृथक्-पृथक् मानना ही समुचित होगा।[6] विद्यारण्य द्वारा रचित १६ ग्रन्थ हैं, जिनमें पंचदशी सर्वाधिक प्रख्यात है।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिबिम्बवाद एवं वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद सिद्धान्त प्रचलित हैं। विद्यारण्य उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[7] विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया एवं अविद्या में यही भेद है कि माया शुद्ध सत्वमयी है एवं अविद्या मलिन सत्वमयी।[8]

---

१. वेदान्त वाक्यजज्ञानभावनाजा परोक्षधीः।
मूलप्रमाण दार्ढ्येन नभ्रमत्वं प्रपद्यते॥
नच प्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिरस्तु प्रसज्यते।
अपवाद निरासाय मूलशुद्धलनुरोधनाद्॥
—सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ४७० से उद्धृत कल्पतरुकार का मत।

२ ब्र० सू०, शा० भा०, एवं भामती ४।४।३, ४।४।६, ४।४।७ तथा देखिए—सि० ले० सं०, पृ० ५५३।

३. देखिए—सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५५३।

४. कल्याण—वेदान्तांक, पृ० ६५२।

५. Lights of Vedanta, p. 111, 116.

६. वेदान्तांक (कल्याण), पृ० ६५२।

७. *T.M.P. Mahadevan* : The Philosophy of Advaita, p. 219. (Ganesh & Co., Madras, 1957).

८. पंचदशी १।१६।

विद्यारण्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन

विद्यारण्य ने पंचदशी के कूटस्थदीप, नाटकदीप एवं चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। कूटस्थदीप के अन्तर्गत विद्यारण्य ने साक्षी की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान भूत कूटस्थ चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दोनों शरीरों का साक्षात् द्रष्टा एवं कर्तृत्व आदि विकारों से शून्य होने के कारण साक्षी है।[1]

नाटकदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का विवेचन नृत्यशाला में स्थित दीपक के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। जिस प्रकार कि नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों (दर्शकों) तथा नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है एवं स्वाम्यादि के अभाव में भी दीप्त रहता है, उसी प्रकार साक्षी भी अहंकार, बुद्धि तथा विषयों को प्रकाशित किया करता है और अहंकारादि के अभाव में भी सुषुप्ति अवस्था में पूर्ववत् साक्षी को दीप्त करता रहता है।[2]

पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत विद्यारण्य ने ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर एवं जीव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उक्त तत्त्वों का निरूपण पंचदशीकार ने आकाश के दृष्टान्त के आधार पर दिया है। विद्यारण्य का कथन है कि व्यापक आकाश का नाम महाकाश है। घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश, घटवर्ती जल में प्रतिबिम्बित आकाश को जलाकाश तथा मेघ के जल में प्रतिबिम्बित आकाश को मेघाकाश कहते हैं। इसी प्रकार अखण्ड एवं व्यापक शुद्ध चेतन को ब्रह्म और देहरूप उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं। देहान्तर्गत अविद्या में प्रतिविम्बित चेतन जीव तथा माया प्रतिविम्बित चेतन को ईश्वर कहते हैं।[3] विद्यारण्य निरूपित अविद्या एवं माया के भेद की दिशा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

विद्यारण्य ने श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के अतिरिक्त चित्त शुद्धि कर्त्री उपासना को भी मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु उपासना को भी ये आगे चलकर भ्रम ही मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि निर्गुणोपासना संवादी भ्रम है तथा सगुणोपासना विसम्वादी भ्रम है। जो भ्रम, भ्रम होते हुए भी परिणाम में इष्ट वस्तु की उपलब्धि कराता है उसे सम्वादी भ्रम कहते हैं। अन्य सगुणोपासनाएं विसम्वादी भ्रम के अन्तर्गत आती हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासना संवादी भ्रम होने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक है। उक्त क्रम मध्यम कोटि के अधिकारियों के लिए ही है। उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए तो श्रवणादि की ही व्यवस्था है।[4]

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई०)

प्रकाशानन्द रचित (वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली) अद्वैत वेदान्त का एक प्रामाणिक एवं प्रख्यात ग्रन्थ है। प्रकाशानन्द ने अपनी मुक्तावली में अद्वैत वेदान्त का विवेचन करके अपनी

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १८०।
२. पंचदशी १०।११, १२।
३. वही, ६।१८, २२।
४. वेदान्तांक (कल्याण), पृष्ठ ६५४।

प्रांजल एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली का परिचय दिया है।

प्रकाशानन्द ने वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के अज्ञान आदि सिद्धान्तों का वैज्ञानिक एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अज्ञान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए प्रकाशानन्द ने उसे वेदसिद्ध एवं लौकिक प्रत्यक्षादि से सिद्ध न मानकर कल्प्य माना है। अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रकाशानन्द का कथन है कि अज्ञान को वेदसिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि वेद के पूर्व काण्ड (पूर्व मीमांसा) का विषय कर्म मात्र है एवं वेदान्त (उत्तर मीमांसा) का विषय एवं फल पूर्ण सच्चिदान्द ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बन्ध में उक्त स्थिति का अभाव होने के कारण अज्ञान को वेद सिद्ध नहीं माना जा सकता।[1] अज्ञान के लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने का निराकरण करते हुए प्रकाशानन्द का तर्क है कि यदि अज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ होता तो इस प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का तर्क है, कि जो ईश्वर, असंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेकविध सुखदुःखादिमय प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि अनुपपन्न है। अतः विना अज्ञान के प्रपंच मय जगत् की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है।[2] इसीलिए अज्ञान वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्मविषयिणी कहा है।[3] शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला भी ईश्वर अज्ञान के आश्रित होकर जीवभाव को प्राप्त करके तथा देव, तिर्यक् एवं मनुष्यादि की देह का निर्माण करके उन्हीं के उपकरण ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है।[4] अतः ईश्वर का स्रष्ट्रत्व अज्ञान के कारण ही सिद्ध होता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण प्रकाशानन्द जगत् की सत्ता को दृष्टि मात्र ही मानते हैं, तात्विक नहीं।[5]

अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकाशानन्द ने अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के आधार पर किया है। ये आचार्य अधिष्ठान एवं अध्यास में अद्वैतता के पक्षपाती हैं।[6] अधिष्ठान रूप आत्मा के अतिरिक्त द्वैत जगत् की सत्ता का समर्थन निराधार है। समस्त प्रपंचात्मक जगत् आत्मा में ही अध्यस्त है। आत्म साक्षात्कार होने पर आत्माध्यस्त समस्त द्वैत जगत् का भी साक्षात्कार उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर उसमें अध्यस्त सर्प,

---

१. अज्ञानं किं वेदसिद्धम्'''तत्रनाद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात्, वेदान्तानां च परिपूर्ण सच्चदानन्दब्रह्ममात्रविषयत्वात् तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादौ तदभावात् तदप्रतिपादकत्वात्। वे० सि० मुक्तावली, पृष्ठ २९ (कलिकाता-१९३५)।

२. अत एवं विधस्यप्रपंचरचनाविना अज्ञानं न सम्भवति इति अज्ञानं कल्प्यते इति भावः।
जीवानन्द की टीका, वे० सि० मु०, पृ० २६, २७, २८।

३. जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्यातत्वविन्मता। वे० सि० मु० ३ तथा देखिए विद्यासागरी।

४. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, ९; जीवानन्द विद्यासागर संपादित १९३५ ई०।

५. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्। —वे० सि० मु० ९१।

६. अधिष्ठान भेदेन अध्यस्तस्य पृथक् स्वरूपाभावात्, पृष्ठ २५९।

दण्डादि के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है।[1]

इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने अद्वैत वेदान्त के अनेक तथ्यों का विवेचन तर्क प्रतिष्ठित शैली द्वारा प्रस्तुत किया है।

मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०)

मधुसूदन सरस्वती शंकराचार्योत्तर काल के अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में से हैं। इन्होंने सिद्धान्तबिन्दु, संक्षेप शारीरक की व्याख्या अद्वैत सिद्धि, अद्वैत रत्न रक्षण, वेदान्त कल्प लतिका, गूढ़ार्थ दीपिका, प्रस्थान भेद आदि ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण किया है।

सुषुप्ति काल में होने वाले—'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखपूर्वक सोया) अनुभव के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है। सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं।[2] इसके विपरीत विवरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रकाशात्मा आदि विद्वान् उक्त अनुभव को परामर्श कहते हैं और परामर्श से स्मृति का अर्थ ग्रहण करते हैं।[3] मधुसूदन सरस्वती ने इस सम्बन्ध में एक नवीन मत की उद्भावना की है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में तामसी वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसी वृत्ति विशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जहां तक सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्ति विशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि हम मात्र अज्ञानानुभव मानेंगे तो हम परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मैं सुख पूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता।

वृत्ति के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विस्तार से विवेचन किया है। वृत्ति जीव के समस्त परिमित विषयों के ज्ञान के लिए एक आवश्यक दशा है। मधुसूदन सरस्वती वृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उसके नीचे लिखे प्रधान छः कारण बताते हैं।[4]

(१) वृत्ति माया की आवरण शक्ति का उच्छेद करती है।

(२) वृत्ति ही आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त मूलाज्ञान का विनाश करती है।

(३) वृत्ति अविद्या की एक विशेष स्थिति का निवारण करती है। यह विशेष स्थिति अज्ञान और जीव के तादात्म्य की स्थिति है।[5]

(४) वृत्ति अविद्या के एक देशीयविनाश की कर्त्री है। यह एक देशीय विनाश,

---

१. आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ताऽऽलोच्या यतस्ततः
आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टेदृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, ४६।

२. बृ० भा० वा०, पृ० ४६० (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १८९३)।

३. Lights on Vedanta, p. 133.

४. अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८३।

५. लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८३।

अविद्या में कार्य की अक्षमता उत्पन्न करना या अविद्या की निवृत्ति है।

(५) वृत्ति के कार्य के सम्बन्ध में एक उपयुक्त दृष्टान्त देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जिस प्रकार दूसरे वीर योद्धा को देखकर भीरु भट भाग जाता है, उसी प्रकार वृत्ति की उत्पत्ति के क्षण ही अविद्या का आवरण नष्ट हो जाता है।

(६) मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि वृत्ति की उत्पत्ति होने पर अविद्या का आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार कि हाथ का संयोग होने पर चटाई हटती चली जाती है।

वृत्ति के उपर्युक्त पंचम एवं षष्ठ कार्यों में यह अन्तर है कि पंचम कार्य के अनुसार वृत्ति की उत्पत्ति होने पर ही[1] अविद्या भीरु भट के समान क्षणमात्र में ही निवृत्त हो जाती है, और षष्ठ कार्य के अनुसार वृत्त्युत्पत्तिक्षण के उत्तरवर्ती काल में आवरण की निवृत्ति होती है।[2] वृत्ति के उक्त दोनों कार्यों की भिन्नता की दृष्टि से ही मधुसूदन सरस्वती ने उपर्युक्त दृष्टान्तों की योजना की है। दोनों दृष्टान्तों में यह भेद है कि भीरु भट वीर योद्धा के आने पर ही भाग जाता है, परन्तु चटाई किसी व्यक्ति के आने पर ही नहीं सिमट जाती, चटाई को लपेटने के लिए हस्तसंयोग की आवश्यकता पड़ती है।

एकजीववाद—अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जीव की एकता एवं अनेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में पीछे विचार किया जा चुका है। मधुसूदन सरस्वती एक जीववाद के समर्थक हैं।[3] एक जीववाद के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक है कि जब "मैं सुखी हूं", "मैं दुःखी हूं", "मैं संसारी हूं" और "मैं सोया" आदि भिन्न-भिन्न अनुभव होते देखे जाते हैं तो एकजीवता का समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि अविद्या के कारण एक ब्रह्म ही जीवरूपता को प्राप्त करता है उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में 'अहं बुद्धि' होती है। इस प्रकार जीव अनन्त न होकर एक ही है।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विशेष एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने की है उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या प्रतिपादन की भी है।[4] इसका कारण यह है कि यदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकारान्तर से जगत् सत्य सिद्ध हो जायगा, क्योंकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उस का निषेध होता है। इसीलिए मिथ्या जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैत सिद्धि के लिए अनिवार्य है।

मिथ्यात्व के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत सिद्धि में साधक न होकर बाधक है। पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपंच रूप जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या कहना प्रपंच के सत्यत्व को सिद्ध करेगा। अपने मत के समर्थन में पूर्वपक्षी का विचार है कि एक

---

१. वृत्त्युत्पत्तिक्षण एवावरणाभिभवः। लघुचन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
२. वृत्त्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकाले आवरणाभिभवः।—लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
३. म च दृष्टैक एव तन्नानात्वे मानाऽभावात्।—अद्वैत सिद्धि, पृ० ५२९।
४. *Dr. S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 444.

धर्मी में प्रसक्त—दो विरोधी धर्मों में से एक की मिथ्यात्व सिद्धि दूसरे विरोधी धर्म की सत्यता को सिद्ध करती है। अतः प्रपंच रूप धर्मी में मिथ्यात्व प्रतिपादन के प्रपंच की सत्यता सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ी कुशलता से किया है। इनका कहना है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि एक धर्म में प्रसक्त दो धर्मों में से एक के मिथ्या सिद्ध होने पर ही दूसरे की सत्यता सिद्ध होती है, निराधार है। एक गोरूप धर्मी में अश्वत्व एवं गोत्व रूप दो विरोधी धर्मों में से एकधर्म—अश्वत्व का अत्यन्ताभाव होने पर दूसरे गोत्व धर्म की सत्यता नहीं सिद्ध होती। गजधर्मी में गोत्व एवं अश्वत्व दोनों ही धर्मों का अत्यन्ताभाव है। अतः दो विरोधी धर्मों में से एक का मिथ्या सिद्ध होना दूसरे की सत्यता नहीं सिद्ध करता। अतः जगत् के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतसिद्धि में बाधक न होकर साधक ही हैं।[1]

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के अनेकों सिद्धान्तों का गूढ़ विवेचन किया है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्द की लघुचन्द्रिका टीका जो ब्रह्मानन्दी के नाम से प्रसिद्ध है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि जब द्वैतमतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन जी से अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश ग्रहण करके उन्हीं के मत के निराकरण के लिए तरंगिणी की रचना की थी तो इससे क्रुद्ध हो ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका की रचना की थी। लघुचन्द्रिका के अतिरिक्त ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन जी के सिद्धान्तविन्दु पर न्यायरत्नावली और सूत्ररत्नावली दो निबन्ध रूप ग्रन्थों की रचना और की है।

ब्रह्मानन्द द्वारा विश्लेपित अद्वैत सिद्धान्त में कारणवाद, अधिष्ठानवाद एवं मुक्ति आदि के सम्बन्ध में नवीन तथा मौलिक विचार मिलते हैं। जगत् के उपादान कारण के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत अप्पयदीक्षित से भिन्न है। अप्पय दीक्षित जीव को जगत् का उपादान कारण कहते हैं, परन्तु इसके विपरीत ब्रह्मानन्द के मतानुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्मानन्द का मत है कि ईश्वर इसलिए जगत् का उपादान कारण है कि जीव ईश्वर का प्रतिविम्व होने के कारण ईश्वर से सम्बद्ध है और यह जीव ही अविद्या का आश्रय है।[2]

शंकराचार्य के उत्तरवर्ती काल के अद्वैती विद्वानों ने अधिष्ठानवाद पर विचार करते हुए अधिष्ठान में अध्यस्त अविद्या जन्य विषयों को मिथ्या नहीं कहा है, अपितु अधिष्ठान एवं अध्यास सम्बन्ध को भी मिथ्या कहा है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत है कि जहां तक अधिष्ठान एवं अध्यस्त विषयों के सम्बन्ध की बात है, यह सम्बन्ध सत्य नहीं है। अतः अधिष्ठान और अध्यास के सम्बन्ध की दृष्टि से अधिष्ठान मिथ्या है, परन्तु मूलतः अधिष्ठान पारमार्थिक सत्य रूप है।[3]

ब्रह्मानन्द ने न्याय रत्नावली के अन्तर्गत[4] श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को तर्क रूप में

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ४०७-१३।

२. देखिए—अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मनन्दी, पृ० ४८३, न्याय रत्नावलि, पृ० २३१।

३. देखिए—ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धि, पृ० ३८-४७।

४. न्याय रत्नावली, पृ० ४२८।

ग्रहण किया है। यदि 'तत्वमसि' के रूप में ब्रह्म एवं जीव में सम्बन्ध न हुआ होता तो तत्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत मानते हैं। इसी प्रकार तत्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना, मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के मतानुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्कों में मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के मूल एवं आनन्द रूप में परिणत कर देता है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के विभिन्न विषयों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७वीं शताब्दी)

वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। जैसा कि वेदान्त परिभाषा के आरम्भ में संकेतित है, इनके गुरु भेदधिक्कार के लेखक नृसिंहाश्रम थे।[१]

वेदान्त परिभाषाकार ने शुद्ध चेतन के ही उपाधि के कारण—प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य एवं विषय चैतन्य रूप से तीन भेद किए हैं। घटादि से अवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम विषय चैतन्य है। अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम प्रमाण चैतन्य है। इसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है तत्प्रदेशवर्ती वृत्तिचैतन्य को प्रमातृ चैतन्य कहते हैं।[२]

वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेष रूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्राप्त होकर क्षेत्र में केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट हुआ उन केदारों के अनुरूप ही त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने से अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषय देश को प्राप्त हुआ घटपटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।[३] आगे चलकर वृत्ति के भी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने संशय, निश्चय, गर्व एवं स्मरण—ये चार भेद किए हैं। इस वृत्ति भेद के कारण ही एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार संज्ञाओं को प्राप्त करता है।[४] उक्त कथन के अनुसार संशय मन का, निश्चय बुद्धि का, गर्व अहंकार

---

१. यदन्तेवासिपंचास्यैर्निरस्ताभेदिवारणाः।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यंयतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ —वेदान्त परिभाषा, द्वितीय श्लोक।

२. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ० ८, बम्बई सं० १९८९।

३. तत्रयथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्यकुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादि विषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।
—वे० प०, प्रथम परिच्छेद।

४. वही, पृ० १२।

का तथा स्मरण चित्त का विषय है।

ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में वेदान्त परिभाषाकार का मत है कि ब्रह्मज्ञानी का लोकान्तर में गमन नहीं होता, अपितु वह अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त सुखदुःख का भोग करके अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[१]

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त धर्मराजाध्वरीन्द्र ने साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

शंकराचार्य के परवर्ती काल के अद्वैत वेदान्त के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों के अतिरिक्त अन्यानेक आचार्यों ने भी अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया है। इन आचार्यों में, गंगापुरी भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्षमिश्र, श्रीरामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्द गिरि, अखण्डानन्द, मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रंगराजाध्वरी, अप्पयदीक्षित, भट्टोजिदीक्षित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठसूरि, सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती, आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, काश्मीरक सदानन्द यति, रंगनाथ, अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्न दीक्षित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में यहां संक्षेप में विचार किया जाएगा।

गंगापुरी भट्टारकाचार्य (दशम-एकादश शताब्दी)

गंगापुरी भट्टारकाचार्य ने पदार्थतत्वनिर्णय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भट्टारकाचार्य जी ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म को विवर्तकारण एवं माया को परिणामी कारण स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्णमिश्रयति (११वीं शताब्दी)

विद्वान् आचार्य ने प्रबोध चन्द्रोदय नाटक लिखकर नाटकीय शैली के द्वारा अद्वैत मत का प्रचार किया था। इस दिशा में इनका प्रयत्न अद्वितीय होने के कारण श्लाघ्य है।

श्रीहर्षमिश्र (१२वीं शताब्दी)

श्रीहर्षमिश्र दार्शनिक और कवि दोनों ही थे। इन्होंने खण्डन खण्ड खाद्य की रचना करके अपने समय के अनेक अद्वैत विरोधी मत मतान्तरों का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। आज भी श्रीहर्ष का उक्त ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना पृथक् स्थान रखता है।

श्रीरामाद्वयाचार्य (१३वीं शताब्दी)

रामाद्वयाचार्य ने वेदान्त कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार १९५५ में मद्रास विश्वविद्यालय ने किया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न मतों की आलोचना करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने साक्षी को ईश्वर रूप भी कहा है।

---

१. वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।

शंकरानन्द (१४ वीं शताब्दी)

शंकरानन्द विद्यारण्य के शिक्षा गुरु थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका ब्रह्मसूत्र दीपिका एवं १०८ उपनिषदों की टीका लिखकर अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया था। उन्होंने आत्म पुराण नामक एक और ग्रन्थ की रचना भी की थी, जिसमें श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि का विवेचन बड़ी सरल एवं मर्मस्पर्शिनी भाषा में प्रस्तुत किया था।

आनन्दगिरि (१५ वीं शताब्दी)

आनन्दगिरि का ही दूसरा नाम आनन्द ज्ञान भी है। आनन्दगिरि ने शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों पर टीकायें लिखकर अद्वैत वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शांकर मत का ही समर्थन किया है।[1] वेदान्त सूत्र भाष्य पर इनके द्वारा लिखी गई टीका—न्याय निर्णय अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने शंकर दिग्विजय नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की है, जिसमें शंकराचार्य के जीवन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है।

अखण्डानन्द (१५ वीं शताब्दी)

अखण्डानन्द अखण्डानुभूति के शिष्य थे। इन्होंने पंचपादिका विवरण के ऊपर तत्व दीपन नामक एक प्रामाणिक टीका ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन्होंने भामती पर ऋजु प्रकाशिका नामक टीका भी लिखी है।

मल्लनाराध्य (१६ वीं शताब्दी)

इन्होंने अद्वैत रत्न और अभेद रत्न नामक दो प्रकरण ग्रन्थों की रचना करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने अद्वैत रत्न के ऊपर तत्वदीपन नामक टीका की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

नृसिंहाश्रम (१६ वीं शताब्दी[2])

नृसिंहाश्रम उद्भट दार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्होंने भाव प्रकाशिका (विवरण की टीका), तत्त्व विवेक, भेद धिक्कार, अद्वैत दीपिका, वैदिक सिद्धान्त संग्रह एवं तत्वबोधिनी की रचना की थी। इन ग्रन्थों की रचना करके नृसिंहाश्रम ने निश्चय ही दर्शन शास्त्र के लिए एक विलक्षण देन प्रदान की है।

नारायणाश्रम (१६ वीं शताब्दी)

नारायणाश्रम नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। अपने गुरु के भेद धिक्कार एवं अद्वैत दीपिका

---

१. प्रज्ञानानन्द, शेषशार्ङ्गधर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक, कृष्णानन्द एवं महेश्वरतीर्थ आदि आचार्यों की उक्तियों से भी आनन्द गिरि का शांकर वेदान्त का अनुयायी होना सिद्ध होता है।

२. नृसिंहाश्रम का यह समय (वेदान्तां ककल्याण) के आधार पर किया गया है।

नामक ग्रन्थों के ऊपर नारायणाश्रम ने टीका ग्रन्थ लिखे हैं। भेद धिक्कार पर इनका टीका ग्रन्थ—भेद धिक्कार सत्क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थ पर भेद धिक्कार सत्क्रियोज्ज्वला नामक एक और टीका भी मिलती है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में द्वैत का निराकरण करके अद्वैत का प्रामाणिक विवेचन किया है।

रंगराजाध्वरी (१६ वीं शताब्दी)

रंगराजाध्वरी वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के पिता थे। इनकी महत्वपूर्ण कृतियां अद्वैत विद्या मुकुर एवं विवरण दर्पण हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने न्याय वैशेषिक एवं सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

अप्पयदीक्षित (१५५० ई० १६२२ ई०)

अप्पयदीक्षित ने व्याकरण, शास्त्र मीमांसा, अद्वैतवेदान्त मध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त, श्रीकण्ठमत एवं शैव मत आदि पर १०४ ग्रन्थों की रचना की है, वेदान्त के ग्रन्थों में परिमल, न्याय रक्षामणि, सिद्धान्त लेश, मतसारार्थसंग्रह एवं न्याय मंजरी इनकी प्रमुख कृतियां हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। इनका सिद्धान्त लेश तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के मत-मतान्तरों के अध्ययन की दृष्टि से अनुपम ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित (१६ वीं शताब्दी)

भट्टोजिदीक्षित एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे, परन्तु इन्होंने तत्वकौस्तुभ एवं वेदान्त तत्व विवेक की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का समर्थन किया था। इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित एक प्रशस्त वैयाकरण की ही तरह प्रशस्त वेदान्ती भी थे।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र (१६ वीं शताब्दी)

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की कृतियां अद्वैत विद्या विलास, बोधार्थात्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका और ब्रह्म कीर्तन तरंगिणी आदि हैं। इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय भी अद्वैत वेदान्त ही है।

नीलकण्ठसूरि (१६ वीं शताब्दी)

नीलकण्ठसूरि ने महाभारत पर भारतभावदीप नामक टीका ग्रन्थ की रचना की है। गीता की व्याख्या करते हुए इन्होंने, यद्यपि कहीं-कहीं शांकर सिद्धान्त का विरोध भी किया है, परन्तु इनका प्रमुख सिद्धान्त शांकर अद्वैत ही है।

सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती (१६वीं शताब्दी)

सदानन्द जी ने अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त सार की रचना की है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अज्ञान, अध्यारोप, मोक्ष एवं पंचीकरण आदि के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में शांकर अद्वैत का ही संक्षेप में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वेदान्तसार के अतिरिक्त इनकी रचना शंकर-दिग्विजय का भी उल्लेख मिलता है।

आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१६वीं शताब्दी)

आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर न्यायचन्द्रिका नामक टीका की रचना की थी। इस टीका के अन्तर्गत लेखक ने अद्वैत वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

नृसिंह सरस्वती (१६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग)

नृसिंह सरस्वती वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी के प्रणेता हैं। इस टीका में लेखक ने अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

रामतीर्थ (१७वीं शताब्दी का पूर्व भाग)

रामतीर्थ ने संक्षेप शारीरक पर अन्वयार्थ प्रकाशिका, शंकराचार्य की उपदेश साहस्री पर पदयोजनिका और वेदान्तसार पर विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका ग्रन्थों में रामतीर्थ ने विशेषतया अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है।

आपदेव (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

आपदेव वैसे तो एक प्रसिद्ध मीमांसक थे, परन्तु इन्होंने वेदान्तसार पर बालबोधिनी नाम टीका की रचना करके अद्वैत मत का भी समर्थन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीमांसा के प्रौढ़ पण्डित होते हुए भी अद्वैत मत के समर्थक थे।

गोविन्दानन्द (१७वीं शताब्दी)

गोविन्दानन्द रचित, ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीका—रत्नप्रभा शांकर भाष्य की सरलतम टीका है। इस टीका के अन्तर्गत गोविन्दानन्द ने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का बड़ा सरल एवं व्यवस्थित निरूपण किया है।

रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

रामानन्द सरस्वती गोविन्दानन्द के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य सम्मत ब्रह्मामृतवर्षिणी नामक टीका की रचना की है। इस टीका की सरलता एवं स्पष्टता अनुकरणीय है। इनके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ विवरणोपन्यास है। यह ग्रन्थ पंचपादिका की विवरण टीका का व्याख्या रूप है। रामानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

काश्मीरक सदानन्द यति (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के इस प्रतिष्ठित विद्वान् ने अद्वैतब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि अद्वैत मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक जीववाद का समर्थन किया गया है।

रंगनाथ (१७वीं शताब्दी)

रंगनाथ ने ब्रह्मसूत्र की शांकर भाष्यानुसारिणी वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तर्गत तेइसवें सूत्र के पश्चात् 'प्रकरणत्वात्' नामक एक नवीन सूत्र की कल्पना की है। भामतीकार ने इसे भाष्य के अन्तर्गत माना है, किन्तु वैयासिक न्याय मालाकार भारतीतीर्थ ने इसे पृथक् सूत्र माना है। रंगनाथ जी ने शांकर अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है।

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ ने अप्पय दीक्षित के सिद्धान्त लेश पर टीका लिखी है। सिद्धान्त लेश की यह टीका कृष्णालंकार अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। कृष्णालंकार के अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य के ऊपर वनमाला नामक टीका लिखी है। इन टीकाओं के अन्तर्गत इनके विवेचन का विषय प्रधानतया अद्वैत वेदान्त ही है। अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ निर्गुण के प्रतिपादक होने के साथ कृष्ण के भक्त भी थे।

महादेव सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

महादेव सरस्वती ने तत्वानुसन्धान नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने अद्वैत चिन्ता कौस्तुभ नाम की एक टीका भी लिखी है। इन्होंने अद्वैत वेदान्त को सहज एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास में यह सफल भी हुए हैं।

सदाशिवेन्द्र सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

इनका दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर ब्रह्मतत्व प्रकाशिका नामक टीका लिखी है। यह टीका शांकर सिद्धान्तों के अनुसार ही लिखी गई है। इसके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और प्रकाशित हुए हैं। यह ग्रन्थ आत्म विद्या विलास, कविताकल्पवल्ली और अद्वैतरस मंजरी हैं। इनके ग्रन्थ सरल एवं सुबोध शैली में लिखे गये होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने द्वादश उपनिषदों की टीका भी लिखी है।

आयन्न दीक्षित (१८वीं शताब्दी)

आयन्न दीक्षित रचित व्यास तात्पर्य निर्णय नामक एक ग्रन्थ ही मिलता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने सांख्य, मीमांसा, पातंजल, न्याय वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णव मतों का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

१९वीं-२०वीं शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक

प्रायः अद्वैत वेदान्त के इतिहास लेखकों ने अष्टादश शताब्दी में ही अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास माना है।[1] मेरे विचार से अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास असम्भव

---

१. आशुतोष शास्त्री, वेदान्त दर्शन—अद्वैतवाद, प्रथम खण्ड, पृ० ३८७, (बंगला संस्करण)।

है। हां, यह अवश्य सम्भव है कि देश एवं काल की स्थिति के अनुसार अद्वैत विचारधारा भी नया प्रवाह ग्रहण कर ले। यही हुआ भी है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोबाभावे आदि तत्त्व वेत्ताओं एवं दार्शनिकों ने परम्परागत अद्वैत दर्शन को ठीक उसी रूप में न ग्रहण करके उसे एक व्यावहारिक एवं नवीन रूप प्रदान किया है। इन दार्शनिकों की अद्वैतपरक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जायेगा। वैसे, बीसवीं शताब्दी के पंचानन तर्करत्न एवं अनन्त कृष्ण शास्त्री आदि विद्वानों ने अद्वैत परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना भी की है।

२०वीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखक

अभी हमने बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखकों में, महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री का नामोल्लेख किया है। इनमें से पंचानन तर्करत्न शांकर अद्वैतवाद के पूर्णतया समर्थक न होकर शक्त्य द्वैतवाद के समर्थक हैं। शक्त्यद्वैतवाद का प्रतिपादन तर्करत्न जी ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत किया है। शक्तिसिद्धान्तपरक ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना करके तर्करत्न जी ने अपनी विलक्षण मौलिकता का परिचय दिया है। तर्क रत्न जी के अनुसार शक्ति ही अद्वैत तत्व है एवं चित् तथा अचित् जगत् में शक्ति ही व्याप्त है। इस प्रकार शक्ति ब्रह्म का स्वरूप है। तर्क रत्न जी द्वारा प्रतिपादित शक्त्यद्वैतवाद का सिद्धान्त ही स्वरूपाद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

जहां तक अनन्त कृष्ण शास्त्री की मौलिक अद्वैत दर्शन सम्बन्धी देन का प्रश्न है, शास्त्री जी पूर्णतया शांकर अद्वैत के ही समर्थक एवं व्याख्याता हैं। अनन्त कृष्ण शास्त्री जी ने अद्वैत वेदान्त के समर्थन एवं प्रतिपादन के लिए शतभूषणी की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अद्वैत तत्व शुद्धि और अद्वैत तत्वसुधा की रचना करके अद्वैत वेदान्त का जो विश्लेषण किया है, वह बेजोड़ है। इसके अतिरिक्त श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती (ज्योतिमठ) श्री भारती कृष्ण तीर्थ (गोवर्धनमठ) श्री अभिनवसच्चिदानन्द तीर्थ (शारदामठ) एवं श्री कृष्णबोधाश्रम जी (ज्योतिमठ) आदि शंकराचार्यों एवं श्री करपात्री जी आदि दण्डी स्वामियों द्वारा भी परम्परागत शास्त्रीय अद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन एवं प्रचार-प्रसार किया गया है और किया जा रहा है।

१९वीं २०वीं शताब्दी के नवीन परम्परा के कतिपय अद्वैती दार्शनिक एवं तत्ववेत्ता :

१९वीं एवं २०वीं शताब्दी बौद्धिक तर्कनाओं एवं जीवन दर्शन का युग है। इसीलिए इस काल में सामान्यतया उत्तरोत्तर अध्यात्म दर्शन को महत्व न देकर जीवन दर्शन का ही अधिक महत्व स्वीकार किया गया है। अतः इस युग में ऐसे दार्शनिकों की अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है जो अध्यात्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वयात्मक निरूपण कर सकें। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में यही कार्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोबा भावे द्वारा सम्पन्न हुआ है और हो रहा है। यद्यपि इन दार्शनिकों की विचारदृष्टियों के पृष्ठाधाररूप अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जीवन दर्शन एवं व्यावहारिक दर्शन के तत्व निश्चित रूप से मिलते हैं, परन्तु उपर्युक्त दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के आत्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वय तथा विकास नवीन प्रकार एवं नवीन तर्कों के आधार पर किया है। अतः इन दार्शनिकों के अद्वैतवादी होने पर भी इनके अद्वैतवाद का स्वरूप शांकर अद्वैतवाद से कुछ

भिन्न हो गया है। यहां इन दार्शनिकों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जाएगा।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१९वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी रामकृष्ण परमहंस सर्वधर्मसमन्वय कर्त्ता थे। इसीलिए उनके हृदय में ज्ञानी, भक्त, निर्गुणोपासक, सगुणोपासक, प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं एवं आज के नवीन ज्ञाताओं के लिए समान आदर भाव था।[१] काली के भक्त होते हुए भी स्वामी जी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते थे। उनका विचार था कि मां काली की कृपा से जीव असीम आत्मा एवं ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है।[२] अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे। जिस प्रकार कि शांकर वेदान्त के अनुसार ईश्वर माया से अस्पृष्ट एवं अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार स्वामी जी के मतानुसार भी ईश्वर कभी माया-बद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि जैसे सर्प जिसको काटता है, वह मर जाता है, सांप के मुंह में सर्वथा विष रहता है, सांप उसी मुंह से सदा खाता तथा निगलता रहता है किन्तु वह स्वयं मरता नहीं है, इसी प्रकार माया भी दूसरों के लिए है न कि ईश्वर के लिए।[३]

रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अद्वैत भाव में सुप्रतिष्ठित होना ही समस्त साधनों का चरम लक्ष्य है। यही मुक्ति का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त लोक सेवा के तत्व को भी स्वामी जी अद्वैत भाव का ही रूप मानते थे।

स्वामी विवेकानन्द (१९-२०वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण परमहंस के ही शिष्य थे। इन्होंने स्वामी रामकृष्ण के ही विचारों का विशेष रूप से प्रचार-प्रसार किया था। विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन को एक लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया था। व्यावहारिक वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत विवेकानन्द का विचार था कि शान्त एवं निश्चल चिन्तन की अपेक्षा मानव सेवा प्रशस्त है।[४] जहां तक विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन की समस्या है, वे स्वयं यह जानते थे कि वे कोई नई

---

१. Greeting to the feet of the Jnanin ! Greeting to the feet of the Bhakta ! Greeting to the devout who believe in the formless God ! Greeting to those who believe in God with form ! Greeting to the men of old who knew Brahman ! Greeting to the modern knowers of truth. (Ramkrishna, October 28, *Romain Rolland*: The Life of Ramkrishna, p. 1 से उद्धृत)।

२. By her grace the finite ego loses itself in the illimitable Ego — Atman — Brahman, (*Romain Rolland*: The Life of Ramkrishna, p. 32.)

३. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८०, ३८१।
(श्रीरामकृष्ण आश्रम धन्तोली, नागपुर)

४. *D.M. Dutta*: Contemporary Philosophy, p. 526.
(The University of Calcutta, 1950).

बात नहीं कह रहे हैं।[१] इसके अतिरिक्त वे स्वयं को शंकर (शंकराचार्य) भी कहते थे।[२] इससे यह निश्चय करना अत्यंत सरल है कि वे शांकर दर्शन के कितने समीप थे।

शांकर-अद्वैतवादी की ही तरह विवेकानन्द भी एक अद्वैत तत्व की सत्यता में विश्वास करते थे। इसीलिए विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं है। इसी आधार पर वे मनुष्यों द्वारा पशुओं के भोजन का भी निराकरण करते थे।[३] शांकरवेदान्त के ही समान विवेकानन्द द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्व भी ब्रह्म ही है। विवेकानन्द के विचारानुसार एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है।[४] जगत् की अनेकरूपता के विषय में विवेकानन्द का विचार है कि नाम एवं रूप की सहायता से अज्ञान द्वारा सृष्ट जगत् में ही पत्नी, बालक, शरीर एवं मन के भेद दिखाई पड़ते हैं। जब नामरूपात्मक उक्त अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो अनन्त एवं असीम ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार होता है।[५] जगत् की भ्रान्ति एवं परम सत्य के बोध के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने प्रसिद्ध रज्जु एवं सर्प का दृष्टान्त भी दिया है।[६] इस प्रकार स्वामी जी जगत् को अध्यारोप भी मानते हैं।[७] माया को स्वामी विवेकानन्द सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। परन्तु माया को विवेकानन्द जगत् की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं मानते।[८] स्वामी विवेकानन्द के

मतानुसार माया कोई सिद्धान्त विशेष न होकर जगत् की स्थिति मात्र की बोधक है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द माया का मिथ्या अर्थ भी नहीं ग्रहण करते।[१] जगत् को स्वामी विवेकानन्द परमार्थ सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। परन्तु वे जगत् को पूर्णतया असत् भी नहीं कहते। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद एवं विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद प्रायः समान ही है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। अद्वैत वेदान्त को व्यावहारिक दर्शन का रूप देकर स्वामी विवेकानन्द ने मानवसेवा एवं विश्व बन्धुत्व के भाव को उन्नत किया है। दर्शन की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

If it is absolutely impracticable, no theory is of any value whatever, except as intellectual gymnastics.[२]

अर्थात् व्यावहारिकता के अभाव में किसी सिद्धान्त का कुछ महत्व नहीं है। विवेकानन्द का कथन है कि व्यावहारिकता के आभाव में तो कोई भी सिद्धान्त केवल बौद्धिक व्यायाम मात्र ही है।[३]

स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक दर्शन का यह प्रबल पक्ष था कि वे साध्य की ही तरह साधन को भी विशेष महत्व देते थे। उनका विचार था कि साधन का महत्व समझने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है।[४]

अरविन्द (१९वीं २०वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

भारतवर्ष के आधुनिक काल के दार्शनिकों में अरविन्द घोष एक योगी एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। हम यहां उनकी चर्चा एक अद्वैतवादी के रूप में कर रहे हैं। अद्वैतवादी तो वे थे, परन्तु उनका अद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद से भिन्न है। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त को शिवाद्वैतवाद का रूप देना समुचित होगा। अरविन्द के शिवाद्वैत दर्शन के अनुरूप शिव तत्व ब्रह्म रूप है और उसकी चित् शक्ति अपृथक् भूता है। जगत् शिव की चित् शक्ति का ही परिणाम है। इसीलिए अरविन्द दर्शन में भी जगत् भी शिव रूप है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अरविन्द दर्शन के अनुसार जगत् अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। अरविन्द घोष ने जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है—

I do not agree with the view that the world is an illusion mithya.[१]

---

१. Complete works of Swami Vivekanand, Vol. II, p. 105.

२. वही, पृ० २८९।

३. विशेष देखिए, स्वामी विवेकानन्द का Los Angeles, California, January, 4, 1900 का भाषण।

४. देखिए, स्वामी विवेकानन्द का Los Angles, California, January 4, 1900 का भाषण।

१. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3, Sri Aurobindo Circle, Bombay.

अरविन्द घोष जगत् को चित् शक्ति का कार्य मानने के कारण, चेतन रूप भी मानते थे।[१] यही सिद्धान्त अरविन्द घोष का जड-चेतनवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं को हम जड कहते हैं वे भी स्वरूपतः चेतन ही हैं। इस प्रकार जगत् के भौतिक पदार्थों को भी अरविन्द चेतनता का ही गुण मानते थे।[२] अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत जगत् की इस चिद्-रूपता का दर्शन जीव को अज्ञान के कारण नहीं होता। अरविन्द घोष का विचार है कि अज्ञान ही जगत् के ब्रह्म रूप से दर्शन करने में बाधक है।[३] वस्तुतः ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र वर्तमान है। अतः जगत् के मिथ्यात्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरविन्द घोष, शांकर अद्वैतवादियों के समान जगत् को मायिक एवं मिथ्या नहीं स्वीकार करते थे। जगत् को वे मिथ्या माया न कहकर, अज्ञानस्वरूपिणी माया को जगत् के वास्तविक स्वरूप ज्ञान में बाधक मानते थे।[४] जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए अरविन्द घोष 'माया' शब्द के स्थान पर 'लीला' शब्द को अधिक उपयोगी मानते थे। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि परमात्मा की लीलामात्र है। परमात्मा की लीलारूप सृष्टि को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर अरविन्द दर्शन पर शाक्त दर्शन का साक्षात् प्रभाव कहना अनुचित न होगा। अरविन्द दर्शन के समान ही शक्त्यद्वैतवाद मत में भी जगत् चित् शक्ति का परिणाम होने के कारण, चित् रूप एवं सत्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति एवं शक्ति-मान् का अविनाभाव भी शाक्त दर्शन एवं अरविन्द दर्शन में समान ही है। इस प्रकार शाक्त साधना के दार्शनिक पक्ष एवं अरविन्द घोष के दार्शनिक सिद्धान्त में पर्याप्त समानता है। अरविन्द घोष के ही निम्नलिखित कथन से, उन पर पड़े शाक्त दर्शन के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है—

I am a Tantrik. I regard the world as born of Ananda (bliss) and living by Ananda, wheeling from Ananda to Ananda. Ananda and Shakti, these are the two real terms of existence.[५]

अरविन्द घोष के उपर्युक्त कथन से उनका तान्त्रिक होना तो स्पष्ट ही है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत्, आनन्द से ही उत्पन्न, आनन्द से ही जीवित एवं आनन्द के ही क्षेत्र में घूमता रहता है। इस प्रकार अरविन्द घोष के मतानुसार जगत् की सत्ता आनन्द एवं शक्ति रूप है।

आचार्य विनोबा भावे (१८९५ ई०—) और उनका दर्शन

विनोबाजी का दार्शनिक सिद्धान्त सर्वोदय दर्शन है। सर्वोदय शब्द के ही अन्तर्गत विनोबाजी की अद्वैतनिष्ठा का परिचय मिल जाता है। विनोबाजी पर औपनिषद वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव है। विनोबाजी पर पड़े, गीता एवं उपनिषदों के प्रभाव का परिज्ञान, उनके

१. *P. T. Raju*: Idealistic Thought of India, p. 301. London, Allen & Unwin, 1952.
२. The Yoga & its object, p. 57.
३. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3.
४. The Yoga & its Object, p. 57.
५. Yogic Sadhan, p. 83.

निम्नोद्धृत कथन से पूर्णतया हो जाता है :

'मेरे जीवन में गीता ने मां का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूं कि उपनिषद् मेरी मां की मां है।'[1]

उपर्युक्त कथन के अनुरूप विनोवाजी पर वेदान्त विद्या के आधारग्रन्थ—गीता एवं उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसके साथ-साथ यह कह देना और न्याय संगत होगा कि उपनिषदों के ब्रह्म एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन विनोवाजी ने अपने स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर किया है।

कहना न होगा, कि विनोवाजी ने अद्वैत दर्शन को पूर्ण रूप से व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवादी की तरह विनोवाजी भी ब्रह्म को सर्वोच्च तत्व मानते हैं। विनोवाजी ने ब्रह्म शब्द का अर्थ—विशाल एवं व्यापक किया है।[2]

अद्वैत वेदान्त की ब्रह्मरूपता को स्पष्ट करते हुए विनोवाजी का कथन है कि संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्म रूप होना ही मनुष्य का ध्येय है। इस प्रकार विनोवाजी के अनुसार व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का नाम ही ब्रह्म निर्वाण है।[3] गीतादर्शन के आधार पर विनोवा-जी का मत है कि वस्तुतः जीव ब्रह्म रूप है, परन्तु देह के पर्दे के कारण वह अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव नहीं करता। विनोवाजी के मतानुसार देह साधन तो है, परन्तु साध्य नहीं।[4] विनोवाजी जीवन्मुक्ति के पक्षपाती हैं। उन्होंने जीवन्मुक्ति के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है : **'मेरा तो ख्याल है कि मनुष्य इसी जीवन में ब्रह्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार कर सकता है।'[5]** परन्तु एक दूसरे स्थल पर विनोवाजी ने यह भी कहा है कि इस जीवन में जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करना सम्भव तो है, किन्तु शरीर रहते हुए उसकी पूर्णता होना कठिन है। विनोवाजी का विचार है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होते ही शरीर छूट जाना चाहिए।[6]

ब्रह्म लोक से विनोवाजी का आशय साम्यावस्था से है। समत्व की स्थिति प्राप्त करना ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इस साम्य दर्शन को विनोवाजी ने अपने साम्यसूत्र के अन्तर्गत विशद रूप से स्पष्ट किया है।[7] साम्ययोग सिद्धान्त के अन्तर्गत विनोवाजी का विचार है कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा स्थित है। अतः मनुष्य—मनुष्य में भेद नहीं है। यहीं तक नहीं, विनोवाजी का कथन है कि मनुष्य और दूसरे पशुओं में भी आत्मिक दृष्टि से भेद नहीं है।[8]

---

१. विनोवा : उपनिषदों का अध्ययन, प्रस्तावना (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १६६१)।
२. विनोवा : स्थितप्रज्ञ दर्शन, पृष्ठ १६५, (सस्ता साहित्य मण्डल, १६५६)।
३. वही, पृष्ठ १६५।
४. विनोवा, गीता प्रवचन, पृष्ठ १७३, (हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित, सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी)।
५. विनोवा संवाद : व्यौहार राजेन्द्र सिंह, पृष्ठ १५, (अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ, राजघाट काशी, १६५७)।
६. व्यौहार राजेन्द्र सिंह : विनोवा-संवाद, पृष्ठ ३२।
७. साम्य सूत्र (विनोवा लिखित)।
८. Samya Yoga holds that therein dwells in evety man the same Spirit. It, therefore makes no distinction between man and man. It even goes further & recognizes no ultimate difference in spirit of man

विनोवाजी का उक्त विचार ही उनका अद्वैतवादी विचार कहा जा सकता है। साम्ययोग के अन्तर्गत विनोवाजी ने आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में साम्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। इसी साम्ययोग के आधार पर विनोवाजी ने समस्त संसार को अद्वैत रूप वनाने का संकल्प किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विनोवाजी की अद्वैतवादिता पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाती है। विनोवाजी का सर्वोदय दर्शन भी उनकी अद्वैतनिष्ठा का ही परिणाम है। सर्वोदय दर्शन का मूलाधार 'सर्वेऽपिसुखिनः सन्तु' का भाव है। दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय के आशय को प्रकट करते हुए कहा है —

'एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है'[2]

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्दघोष एवं आचार्य विनोवा भावे के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१-१९४१) एवं महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) आदि विचारकों पर भी औपनिषद वेदान्त एवं अद्वैतवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव तो मिलता ही है, साथ ही इन विचारकों के सिद्धान्तों में अद्वैत विचारधारा की व्यवस्था भी मिलती है। आज भी महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि विद्वान् अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में जो कार्य कर रहे हैं, वह स्तुत्य है।

आधुनिक युग समालोचना का युग है। इसीलिए इस युग में अद्वैत वेदान्त से सम्वधित मौलिक ग्रन्थों के स्थान पर समालोचनात्मक ग्रन्थ ही अधिक लिखे जा रहे हैं। हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में आज अद्वैत वेदान्त से सम्वन्धित समालोचना का सर्जन हो रहा है। अद्वैत वेदान्त के मौलिक प्रतिपादन की दृष्टि से बंगला भाषा में उपलब्ध अद्वैत वेदान्त के साहित्य की देन अत्यन्त श्लाघ्य है।

जहां तक, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई अद्वैत वेदान्त की समालोचना की वात है, १९वीं[3] शताब्दी के कोलब्रुक, विल्सन, चार्ल्स विल्किन्स, रोअर, कावेल, वोथलिंक, मैक्समूलर, डायसन, वेवर, थीवो, जैकव, गफ, वेनिस एवं विलियम जोन्स द्वारा अद्वैत वेदान्त की महत्त्वपूर्ण समालोचनायें प्रस्तुत की गई हैं।

यदि हम निष्पक्ष भाव से कहें तो यह कथन उचित ही होगा कि अद्वैत वेदान्त पर उपलब्ध भारतीय आलोचनात्मक देन की अपेक्षा उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों की देन किसी प्रकार कम नहीं है। हमें, यह स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अद्वैत वेदान्त ही नहीं, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के भारतीय समालोचकों ने पाश्चात्य समालोचकों की समालोचना प्रणाली से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

---

and other animals." (Post-Prayer Speech of Vinobaji in Bihar) —quoted from Vinoba and his mission, *Suresh Ram Bhai,* p. 208.

१. देखिए—विनोवा जी का लेख—हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत वनाना है। 'भूदान यज्ञ' (साप्ताहिक) १९ मार्च, १९६५।

२. दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन, पृष्ठ २३।
(अखिल भारत सर्व सेवा संघ, राजघाट, काशी—१९५७ ई०)
तथा देखिए—*Dr. V. N. Tandon* : The Social & Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji, Introduction.

३. पाश्चात्य विद्वानों का यह समय आशुतोष शास्त्री के वेदान्त दर्शन अद्वैतवाद नामक ग्रन्थ के आधार पर दिया गया है

चतुर्थ अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (पूर्वार्द्ध)

ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण रूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन विस्तार से मिलता है। मूल सत्य के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन तो संहिताओं से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों में आकर तो निर्गुण एवं सगुण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उपनिषद्परवर्तीकाल के प्रसिद्ध अद्वैती आचार्य गौडपादाचार्य ने भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विचार दृष्टि अपनी कारिकाओं में स्पष्ट की है। अद्वैत वेदान्त के सम्राट् शंकराचार्य ने तो अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। यहां पहले ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन किया जाएगा। इसके पश्चात् निर्गुण एवं सगुण के समन्वय पर विचार किया जाएगा।

ब्रह्म का निर्गुण रूप—ऋग्वेद की हंसवती ऋचा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित एवं उपाधि रहित निर्गुण परमात्म तत्त्व का वर्णन हंस के रूप में किया गया है।[1] कठोपनिषद् में परब्रह्म को शब्द, रूप, रस तथा गन्ध से रहित एवं अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परात्पर और ध्रुव कहा है।[2] गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूप-रहित, सकृत्-विभात तथा सर्वज्ञ कहकर किया है।[3] यहां शंकराचार्य ने सर्वज्ञ का अर्थ सब कुछ जानने वाला न करके 'वह ब्रह्म पूर्णतया ज्ञान रूप है' ऐसा किया है—सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्।[4] शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैत वेदान्त का सर्वोच्च सत्य माना है। शंकराचार्य की दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का यही तात्पर्य है कि वह देशकालादि के बन्धन से मुक्त है।[5] शंकराचार्य ने ब्रह्म को वाङ्मनसातीत कहा है, परन्तु फिर भी वह अभाव रूप नहीं है।[6] सत् तत्व होने के कारण ही ब्रह्म बौद्धों के शून्य से भी भिन्न है। साथ ही निर्गुण ब्रह्म कारण रूप भी नहीं कहा जा सकता।[7] ब्रह्म की कारणता स्वीकार करने पर उसका देश कालादि से सम्बन्ध भी स्थापित करना पड़ेगा, जो अनुचित है। ब्रह्म त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया

---

१. ऋग्वेद ४।४०।५।
२. कठ० उ० १।३।१५।
३. गौ० का० ३।३६।
४. शा० भा०, गौ० का० ३।३६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
६. वही, ३।२।२२।
७. वही, ३।३।३६।

से अविशिष्ट होने के कारण ही निर्गुण है। शांकर वेदान्त के अनुसार यही निर्गुण ब्रह्म का मूल स्वरूप है।

ब्रह्म का सगुण रूप—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अन्तर्गत सहस्र शिर वाले, अनन्त चक्षु-धारी तथा अनन्त चरणों वाले जिस विराट् पुरुष का वर्णन मिलता है, वह परमात्मा के सगुण रूप का ही वर्णन है। इसी स्थल पर पुरुष का वर्णन स्रष्टा के रूप में भी मिलता है।[1] मुण्डकोप-निषद् के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला बतलाते हुए, जगत् के नाम,रूप और अन्नादि का स्रष्टा कहा है।[2] यह ब्रह्म के सगुण रूप का ही संकेत है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को स्रष्टा,[3] लोकरक्षक,[4] और नियन्ता[5] कहकर उसके सगुण रूप की ही वर्णना की गई है। आचार्य गौडपाद ने जहां पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है,[6] वहां उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से परमात्मा की सगुणता का ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का स्पष्टीकरण सौविध्य दृष्टि से ब्रह्म के पर एवं अपर रूप के भेदनिरूपण द्वारा किया है। शंकराचार्य का विचार है कि जहां अविद्याप्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अति-रिक्त उपासना के लिए जब नाम-रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो वही अपरब्रह्म कहलाता है।[7] उदाहरण के लिए, छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को मनो-मय, प्राण शरीर वाला तथा प्रकाश रूप कहना ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूपों का वर्णन मिलता है। निर्गुण एवं सगुण के समन्वय के बिना, इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक विरोधप्रतीति के कारण अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन असम्भव है। अतः यहां निर्गुण एवं सगुण का समन्वय करना अत्यन्त अपेक्षित है।

निर्गुण एवं सगुण का समन्वय

साधारण दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विवेचना ब्रह्म की अद्वैत सत्यता में बाधक-सी प्रतीत होती है। ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका पश्चिमी विद्वान् डायसन को भी हुई थी।[8] इसीलिए शंकराचार्य ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के विरोध के समाधान के लिए समन्वयमूलक दर्शन की स्थापना की थी। शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को बतलाया है।[9] वस्तुतः ब्रह्म का कर्तृत्व एवं स्रष्टृत्व आदि

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।९०।१, ३, ५।
२. मुण्डकोपनिषद् १।१।९।
३. तै० उ० ३।१।
४. बृ० उ० ४।४।२२।
५. वही, ३।७।३।
६. गौ० का० १।६।
७. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
८. D.S.V., pp. 102-3.
९. शा० भा०, छा० उ० ८।१।१, ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२०, २४, ३१, १।२।११, १४, ३।२।१२, ३३।

से सम्पन्न सगुण रूप अविद्या पर आधारित है। इस सम्बन्ध में रत्नप्रभाकार ने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म अविद्या का विषय है[१]। अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्रष्टा, नियन्ता आदि विशेषण देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं, क्योंकि जब साधक को आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है तो उसे जगत् के स्रष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नहीं होता। तत्वज्ञान होने पर समस्त द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। अतः जब ज्ञानी की द्वैत बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है तो संसार की सृष्टि आदि के कर्ता सगुण परमात्मा के स्वरूप-विवेचन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सगुण ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्या-कालिक ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सगुण ब्रह्म पारमार्थिक न होते हुए भी शंकराचार्य के मतानुसार उपासना दृष्टि से उपादेय है। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब यह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[२] शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि उपासनाओं का एक मात्र फल उपास्य-परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही है। आचार्य का कथन है कि एक ही उपासना से उपास्य का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनाएं निरर्थक ही कही जाएंगी।[३] जहां तक कर्तृत्व, स्रष्टृत्व आदि विशेषताओं से सम्पन्न सगुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की बात है, एकहार्ट,[४] प्लोटिनस[५] और ब्रेडले[६] आदि पश्चिमी दार्शनिक विद्वानों ने भी सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उपलब्धि मानी है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म में मूलतया भेद न होते हुए भी उपासना की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपासना के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की स्थापना का उद्देश्य ब्रह्मसम्बन्धी विचारों को दूसरों तक पहुंचाना भी हो सकता है।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्यावहारिकता

जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त की एक अद्भुत प्रहेलिका है। अद्वैत वेदान्त द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है कि वह कालानुसार जगत् के लौकिक व्यवहारों एवं परमार्थसत्तागत ब्रह्मानुभूति, इन दोनों का ही समर्थन करता है। पश्चिमी विद्वान् वर्कले भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता के पूर्णतया समर्थक हैं।[७] अतः यदि देखा जाए तो अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् का सत्यत्व एवं मिथ्यात्व काल की दृष्टि से ही विचार्य है। जगत् की सत्ता इसलिए असत् कही जाती है कि

---

१. विद्याविषयो ज्ञेयम् निर्गुणं सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यम् सगुणकल्पितम्।
—रत्नप्रभा, ब्र० सू० १।१।१२।

२. D.S.V. p. 103.

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।३।५९।

४. Hunt's essay on Pantheism, p. 179.

५. *Enneads* : Mckenna's English Translation, Vol. II, p. 135.

६. Appearence & Reality, p. 159.

७. Principles of Human Knowledge, p. 34.

वह त्रिकाल में नहीं रहती। वस्तुतः ब्रह्मात्मा का ज्ञान होने के पहले ही जगत् के व्यवहारों की सत्यता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जाग्रत् अवस्था से पूर्व स्वप्न दशा के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं।[1] परमार्थावस्था में तो जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त सृष्टि के पूर्व काल में भी एक मूल सत्य—ब्रह्म की ही सत्ता थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि जगत् की सत्ता त्रैकालिक नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को असत् कहा जाता है। अब हम इस विषय के दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं। इस दूसरे पक्ष के अनुसार जगत् 'सत्' है। सत् इसलिए है कि प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान जगत् को शशशृंग अथवा आकाश कुसुम के समान असत् नहीं कहा जा सकता। उक्त तर्कों के आधार पर अद्वैत वेदान्त का अध्येता इस परिणाम पर पहुंचता है कि नामरूपात्मक जगत् न पूर्णतया सत् है और न पूर्णतया असत्। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जगत् एक दृष्टि से तो सत् है और दूसरी दृष्टि से असत्। इस प्रकार जगत् की सत्ता न पूर्णतया असत् है और न सत्। सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही जगत् की सत्ता को वेदान्तियों ने अनिवर्चनीय कहा है। शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यही दृष्टिकोण है।

जगत् की अभावरूपता का निराकरण

ऊपर हमने शंकराचार्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि परमार्थावस्था में जगत् के समस्त व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा चुका है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् असत् है। यही यहां विवेच्य है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् के असत् सिद्ध होने पर भी यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि परमार्थ सत्ता—ब्रह्म बोध की स्थिति में जगत् का भी लोप हो जाता है। यदि ब्रह्मात्मता की स्थिति में जगत् का लोप हो जाया करता तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती।[3] परन्तु ऐसा नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपंच एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। अतः शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।[4] भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते अपितु भेद का निराकरण करते हैं।[5] भामतीकार के मत के समर्थन में ही रत्नप्रभाकार का भी कथन है कि ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्ध करता है न कि ऐक्य।[6] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् की सत्ता का ही निराकरण किया है। अतः जगन्मिथ्यात्व

---

१. सर्वव्यवहाराणामेवप्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः।
स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

२. एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।—वही० २।१।१४।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२१।

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

५. नखल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम—भामती २।१।१४।

६. कारणात् पृथक् सत्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यम्।—रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।१४।

का उद्देश्य भौतिक जगत् का अभाव सिद्ध करना भारी भूल कही जाएगी।

जहां तक अद्वैततत्ववेत्ता जीवन्मुक्त प्राणी के व्यवहार का प्रश्न है, उसके लिए क्रिया-कारक और तन्फलस्वरूप समस्त व्यवहार नष्ट हो जाते हैं।[1] जीवन्मुक्त प्राणी तो इस लोक में जड़वत् विचरण करता है और प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा होने पर विदेहमुक्ति लाभ करता है। इस विषय का विशेष प्रतिपादन पांचवें अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

अध्यास के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन

अध्यास अविद्या का ही दूसरा नाम है। शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' कह कर ही दी है।[2] इस परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में उस अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है। शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प और नामरूप से रहित आत्मा में प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का भान होना अध्यास ही है। इस अध्यास का मूल जीव का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प आत्मा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है।

यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि अद्वैत वेदान्त का उद्देश्य भौतिक जगत् का निराकरण न होकर जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई द्वैतबुद्धि का निराकरण है। अध्यास ही द्वैत बुद्धि का जनक है। अध्यास के ही कारण आत्मा में बाह्य धर्मों का आरोप होता है। उदाहरण के लिए, पुत्र एवं प्रिया आदि के अपूर्ण तथा पूर्ण होने पर 'मैं ही अपूर्ण तथा पूर्ण हूं' इस प्रकार का अनुभव अध्यास के कारण ही होता है। इसी प्रकार आत्मा में उत्पन्न हुए देहाध्यास के कारण पुरुष को अपने में स्थूलत्व, कृशत्व, गौरत्व आदि का अनुभव होता है।[3] वस्तुतः कूटस्थ, अचल एवं सनातन आत्मा स्थूलत्व, गौरत्वादि विशेषताओं से विशिष्ट नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में द्वैतमूलक जगत् की जो नामरूपात्मक सत्यता प्रतीत होती है, वह अध्यास मात्र होने के कारण मिथ्या है।

अध्यासवाद के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण अधिष्ठान के बिना असम्भव है। क्योंकि मृग तृष्णिका जैसी असत् वस्तुएं भी किसी आधार पर ही कल्पित की जाती हैं।[4] इसीलिए शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्मरूप में ही जगत् को अध्यस्त कहा गया है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का स्पष्ट कथन है कि बन्ध्या स्त्री को सत्य अथवा मिथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जा सकता।[5] अतः अध्यास की कल्पना अधिष्ठान के बिना नहीं की जा सकती। अधिष्ठानवाद का विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैती आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किया है। वाचस्पति मिश्र अज्ञान का आश्रय जीव एवं विषय

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।
२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
३. तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलोवेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
४. शा० भा०, गीता १३।१४।
५. गौ० का०, शा० भा० ३।२८, १।६।

ब्रह्म मानते हैं। भामतीकार का विचार है कि अज्ञान के कारण ही ब्रह्म में अनेक प्रकार के अनात्म विषयों का आरोप होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के मतानुसार प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का मूल कारण जीवाश्रया अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जगत् भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ख्यातिवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर होती है, जिसका अर्थ दर्शन की परिधि में ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान ख्याति ही है। उक्त शुक्ति आदि में हुए रजतादि ज्ञान का समीक्षण विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने पृथक्-पृथक् रीति से किया है। ख्याति के सम्बन्ध में प्राप्त नीचे उद्धृत श्लोक में पांच ख्याति सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकेत मिलता है—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपंचकम्॥

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति—इन पांच ख्यातियों के अतिरिक्त सत् ख्याति का विवेचन भी वेदान्त के मूल[1] एवं समालोचनात्मक[2] ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार ख्याति के सम्बन्ध में निम्नलिखित छः सिद्धान्त मिलते हैं—(१) आत्मख्यातिवाद (२) असत्ख्यातिवाद (३) अन्यथा ख्यातिवाद (४) अख्यातिवाद (५) सत्ख्यातिवाद, तथा (६) अनिर्वचनीय ख्यातिवाद।

यहां उपर्युक्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण करना अनिर्वचनीयख्यातिवाद के सही मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होगा।

आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त

आत्मख्यातिवाद के प्रवर्तक विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में हुए रजत ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत मानता है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई बाह्य विषय न होकर चित् ही है।[3] इस प्रकार आत्मख्यातिवादी की दृष्टि में रजतादि असत् न होकर चित्तगत हैं।

असत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त

असत्ख्यातिवाद का प्रतिपादन शून्यवादी बौद्ध ने किया है। शून्यवादी बौद्ध शुक्ति आदि में रजत आदि के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। उनके अनुसार अधिष्ठान रूप शुक्ति में रजत के असत् होने के कारण, रजत शुक्ति में विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है।[4]

---

१. श्री भाष्य, श्रुति प्रकाशिका १।१।१।
२. शंकर चैतन्य भारती ख्यातिवादः (सरस्वती भवन टैक्स्ट्स)।
तथा देखिए—The Doctrine of Maya, p. 11.
३. विवरण प्रमेय संग्रह, *Hiriyanna* : Introduction to Istasiddhi.
४. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धान्त

अन्यथाख्यातिवाद सिद्धान्त का प्रतिपादनकर्ता नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के ही कारण शुक्ति का रजत रूप से अन्यथा ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार भ्रम से दूरस्थ रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती 'इदम्' से होने के कारण ही शुक्ति में रजत का अन्यथा ज्ञान होता है।

अख्यातिवाद का सिद्धान्त

अख्यातिवाद का समर्थक प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करता। अख्यातिवादी का विचार है कि द्रष्टा को शुक्ति को देखकर, जब यह ज्ञान होता है कि 'इदम् रजतम्' (यह रजत है) तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' (यह) का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। 'इदम्' सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त संस्कार जन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्बन्धी ज्ञान) स्मृति मात्र है। अख्यातिवादी का तर्क है कि पुरोवर्ती—'इदम्' (यह) रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति, इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। इसी सिद्धान्त को भेदाग्रह भी कहते हैं।[1]

सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रस्थापक रामानुजाचार्य सत्ख्यातिवाद के अनुयायी हैं। सत्ख्यातिवादी शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को मिथ्या न मानकर सत् ही मानते हैं। सत्ख्यातिवाद सिद्धान्त का आधार 'सर्व सर्वात्मकम्' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का सात्विक अंश वर्तमान रहता है। इसीलिए रज्जु आदि में सर्पादि का ज्ञान सत् ही कहा जायेगा। सत्ख्यातिवादी का विचार है कि भ्रान्तिस्थल का रजत भले ही मिथ्या हो, परन्तु द्रष्टा द्वारा किया गया पूर्वदृष्ट रजत का ज्ञान सत्य ही है। अतः रजत ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त मतों की समालोचना

ख्याति सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में अनेक न्यूनताएं देखने में आती हैं। असत् ख्यातिवादी का रजतादि को असत् कहना संगत नहीं प्रतीत होता। यदि रजतादि असत् हुए होते तो उनका व्यावहारिक ज्ञान सम्भव न होता। इसीलिए शंकराचार्य के सिद्धान्त को सर्व प्रमाण विरुद्ध कहा है।[2] आत्मख्यातिवादी का रजतादि को चित्तगत मानना अनौचित्यपूर्ण ही है। भ्रमकालिक रजत का ज्ञान ही रजत की बाह्य सत्ता को सिद्ध करता है।

---

१. विशेष देखिये—डा० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२१।

शंकराचार्य ने आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है, यह कथन अनुचित है।[1] क्योंकि आत्मा में क्रिया का विरोध है। अतः विज्ञानवाद के अनुसर्ता आत्मख्यातिवादी बौद्ध का रजतादि की बाह्य सत्ता को असत् कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

अन्यथा ख्यातिवादी का मत भी दोषपूर्ण है। अन्यथा ख्यातिवादी का तर्क है कि पूर्व-काल में दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरवर्ती रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार भ्रमवश दूरवर्ती रजत का सम्बन्ध पुरो-वर्ती इदम् (विषय) से हो जाता है। अन्यथाख्यातिवादी का यह तर्क समुचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भ्रमकालिक रजत-ज्ञान रजत का दूरवर्ती होना सिद्ध नहीं करता। भ्रमकाल में तो इदम् (पुरोवर्ती) विषय ही रजत रूप में भासता है। यही कारण है कि द्रष्टा को शुक्ति का इदम् रूप से ज्ञान होता है और 'इदम्' से सम्बन्धित ही रजत का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम दूर होने पर किसी दूरवर्ती रजत का निषेध न होकर भ्रमकाल में अनुभूयमान रजत का ही निषेध होता है। इसलिए अन्यथाख्यातिवादी की दूरवर्ती रजत की कल्पना का तर्क असंगत ही कहा जाएगा।

अख्यातिवादी का कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय—इदम् एवं, स्मरण ज्ञान के विषय-रजतम् के भेदाग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। परन्तु अख्या-तिवादी का यह तर्क युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अख्यातिवादी ने जिस 'भेदाग्रह' का प्रति-पादन किया है, वह असंगत है। किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही उस वस्तु का भेदक ज्ञान है। यह अनुचित है कि दो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी 'भेदाग्रह' बना रहे। अख्यातिवादी मीमांसक के मत में पुरोवर्ती 'इदम्' और स्मृति पर आधारित रजत दोनों ही भिन्न ज्ञान हैं। इस प्रकार दोनों ज्ञानों के भिन्न होने पर भेदग्रह स्पष्ट ही है। अतः भेदाग्रह का प्रश्न नहीं उप-स्थित होता।

सत्ख्यातिवादी ने 'सर्व सर्वात्मकम्' के आधार पर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है, वह भी तर्क सिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त पंचीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। नृसिंहाश्रम ने उक्त विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि पंचीकरण विभिन्न भूतों (क्षित्यादि) का ही होता है, न कि उन भूतों से निर्मित विभिन्न भौतिक पदार्थों का। यदि ऐसा हुआ होता तो स्तम्भ आदि में भी रजत आदि की प्रतीति हुई होती। इसलिए यद्यपि मूल तत्व एक-दूसरे पदार्थों में मिश्रित होते हैं, परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन तत्वों से निर्मित पदार्थों में पार्थक्य न हो। अतः सत्ख्यातिवादी का मत भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आत्मख्यातिवाद असत्ख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद, अख्यातिवाद एवं सत्ख्यातिवाद के सिद्धान्तों में कुछ न कुछ न्यूनताएं—अवश्य मिलती हैं। अब यहां अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद का सिद्धान्त

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने उपर्युक्त पंच ख्यातियों को महत्त्व न देकर अनिर्वचनीय

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

ख्याति की स्थापना की है। अनिर्वचनीय ख्याति की परिभाषा करते हुए आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरंद के अन्तर्गत लिखा है—

सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तद्गोचरतैवानिर्वाच्यता।[1]

उक्त लक्षण के अन्तर्गत लेखक का तात्पर्य है कि कार्यादि विलास सहित अविद्या की गोचरता अनिर्वाच्यता है और उसी कार्यादिविलास सहित अविद्या की निवृत्ति बाध है। अनिर्वाच्यता की उक्त परिभाषा के अनुसार शुक्ति एवं रज्जु आदि में अध्यस्त रजत एवं सर्पादि की सत्ता अनिर्वाच्य विषयों के अन्तर्गत आती है। जब रजत एवं सर्पादि की जननी अविद्या[2] एवं अध्यास ही अनिर्वचनीय हैं तो उनसे उत्पन्न शुक्त्यादि का अनिर्वचनीय होना संगत ही है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति-रजत के उदाहरण में रजत की सत्ता न आत्म-ख्यातिवादी के अनुसार चित्तगत है और न असत्ख्यातिवादी माध्यमिक बौद्ध के अनुसार असत्। अनिर्वचनीयख्यातिवादी शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए, उसकी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करता है।

सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही रजत अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय रजत के सदसद्विलक्षणत्व के समर्थन में अनिर्वचनीयख्यातिवादी का कथन है कि यदि रजत पूर्णतया सत् हुआ होता तो अविद्यानिवृत्ति होने पर उसका बाध न होता। अतः रजत को त्रिकालाबाधित सत् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अध्यस्त रजत को नितान्त असत् भी नहीं कह सकते। रजत शशशृंग के समान नितान्त असत् नहीं है। यदि रजत नितान्त असत् हुआ होता तो भ्रमकाल में भी उसकी प्रतीति सम्भव न होती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों ने शुक्ति आदि में अध्यस्त रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचनदृष्टि के अनुरूप सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण, अनिर्वचनीयख्यातिवाद के समर्थक अद्वैतवेदान्ती का रजत प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण शून्यवाद के अनुयायी असत्ख्यातिवादी बौद्ध के असत् रजत एवं विज्ञानवाद के समर्थक आत्मख्यातिवादी बौद्ध के चित्तगत रजत से भिन्न है। इसके साथ ही साथ अद्वैतवेदान्त के अनुसार शुक्ति में अध्यस्त रजत पूर्णतया सत् न होने के कारण सत्ख्यातिवादी रामानुजाचार्य के सत् रजत से भी भिन्न है। प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण ही अनिर्वचनीयख्यातिवादी का रजत अख्यातिवादी मीमांसक के स्मृत रजत एवं अन्यथाख्यातिवादी के देशान्तर एवं कालान्तरवर्ती रजत से भी भिन्न है।

अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने शुक्ति एवं रजत के दृष्टान्त के आधार पर अविद्या जन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् को न शशशृंग के समान अलीक (असत्) कहा जा सकता है और न पारमार्थिक ब्रह्म के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदसद्विलक्षणता के द्वारा जगत् की प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने एक ओर अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत दर्शन को पलायनवादी होने से बचाया है।

---

१. न्याय मकरंद, पृष्ठ १२५, चौखम्बा संस्करण, १९०७।
२. विवेक चूडामणि, श्लोक ११०,१११।
३. तथाचलोकेऽनुभवः शुक्तिकाहि रजतवदवभासते।—ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्घात।

क्या अद्वैत वेदान्त में कार्यकारण सम्बन्धी विचार सम्भव है ?

ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व-प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है। इस अनन्यत्व का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विवर्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का समर्थन किया गया है। विवर्तवाद का समुचित स्पष्टीकरण इसी अवसर पर आगे किया जाएगा। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य गौडपाद ने भी समस्त वस्तुओं की अजातता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सत्, असत् और सदसत् वस्तु की उत्पत्ति न स्वतः होती है और न परतः[१]। इस प्रकार गौडपादाचार्य ने अजातवाद के आधार पर प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का निराकरण किया है। उक्त कथन के अनुसार जब जगत् की उत्पत्ति का ही निराकरण हो जाता है, तो ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना किस प्रकार हो सकती है। ब्रह्म और जगत् की कार्य-कारणता इसलिए भी असंगत प्रतीत होती है कि यदि अमृत ब्रह्म से विनाशशील जगत् की उत्पत्ति होने लगेगी तो अमृत भी मर्त्यता को प्राप्त होने लगेगा।[२] इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि किसी वस्तु से तद् विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति हो जाए। अतः जब अमृत ब्रह्म से तद् विरुद्ध धर्म वाले मर्त्य जगत् की उत्पत्ति ही असम्भव है, तो ब्रह्म को कारण एवं जगत् को कार्य कहना कहां तक सम्भव हो सकता है।[३]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु यह सुचिन्त्य है कि जहां अद्वैत वेदान्त में कार्य-कारणवाद की असम्भवता सिद्ध होती है वहां अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा ब्रह्म को जगत् का मूल कारण एवं जगत् को कार्य कहकर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है। 'यतो वाइमानिभूतानि जायन्ते'— (तै०उ०३।१।१) (जिस परमात्मा से सारे भूत उत्पन्न होते हैं) श्रुतिवाक्य पर आधारित बादरायण के जन्माद्यस्य यतः (ब्र०सू०१।१।२) पर भाष्य करते हुए, शंकराचार्य ने लिखा है कि नामरूप से प्रकट होने वाले, अनेक कर्ता एवं भोक्ताओं से संयुक्त, जिस क्रिया और फल के देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं—उसके आश्रय तथा मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।[४] स्पष्ट ही उक्त कथन के अन्तर्गत शंकराचार्य ने ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करके ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना की है।

ऊपर दिए गए विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया विदित हो जाता है कि जहां एक ओर अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना असम्भव प्रतीत होती है वहां दूसरी ओर कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना का विचार भी पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। कार्य-कारणवाद के विवेचन के सम्बन्ध में इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय

---

१. गौ० का० ४।२२—स्वतोवापरतोवापिनकिंचिद्वस्तुजायते।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद् वस्तु जायते॥

२. वही ३।१६।

३. शा० भा०, गौ० का० ३।२१।

४. ब्र०सू०, शा० भा० १।१।२।

अत्यन्त अपेक्षित है। उक्त सिद्धान्तों के समन्वय के अर्थ मेरा विचार है कि जहां अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत परमार्थ सत् रूप ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहां जगत् की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् की सत्ता अद्वैत वेदान्त में मायिक कही गई है। यहां यह उल्लेख्य है कि जब मृगतृष्णिका आदि की ही कल्पना बिना किसी अधिष्ठान के असम्भव है तो व्यावहारिक जगत् की सत्ता बिना किसी अधिष्ठान के कैसे सम्भव हो सकती है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान एवं माया जन्य जगत् को 'अध्यास' कहा है। इस प्रकार अधिष्ठानवाद के आधार पर ही ब्रह्म से मायिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव होती है। क्योंकि जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण मिथ्या है एवं अवास्तविक है। इसलिए ब्रह्म और जगत् के बीच कार्य-कारण सिद्धान्त की योजना भी पारमार्थिक न होकर मिथ्या ही है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण गौडपादाचार्य के निम्नलिखित सिद्धान्त में पूर्णतया मिल जाता है—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वतः (गौ० का० ३।२७)

अर्थात् सत् रूप अधिष्ठान ब्रह्म से माया के द्वारा जगत् का जन्म होता है। परन्तु जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण तात्विक नहीं है। गौडपादाचार्य की उपर्युक्त पंक्ति का एक दूसरा अर्थ यह यह है कि सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का जन्म माया के द्वारा ही होता है, परन्तु यह तात्विक नहीं है। इन दोनों अर्थों के अनुसार रज्जु-आदि में सर्पादि के समान जगत् का जन्म पारमार्थिक न बतलाकर मायिक बतलाया गया है।

उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म और जगत् के बीच कार्य-कारणसम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है। अतः नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् एवं ब्रह्म के बीच सम्बन्धदृष्टि के निमित्त ही कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की उपयोगिता का औचित्य है।

बादरायण[1], गौडपादाचार्य[2] एवं शंकराचार्य[3] प्रभृति अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने कार्य-कारण सम्बन्ध की उपयोगिता की ओर संकेत करते हुए यही कहा है कि श्रुति वाक्यों के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो निर्देश किया गया है, वह मानव की बौद्धिक जिज्ञासा की सन्तुष्टि मात्र के लिए ही है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार यह कहना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं जगत् के कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना की सम्भावना पारमार्थिक न होकर ब्रह्म एवं जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में मनुष्य की बौद्धिक भूख की तुष्टि के प्रयोजन में ही संगत है।

अब यहां वैदिक एवं अद्वैत वेदान्तवर्ती कार्य-कारणसम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जायेगा।

वैदिक कार्यकारणवाद

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यद्यपि कार्य-कारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्यवस्था नहीं मिलती, परन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर कार्य-कारण सम्बन्धी विचार उपलब्ध

---

१. ब्र० सू० २।१।१४०।
२. गौ० का० ३।१८।
३. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।

होते हैं। इस सम्बन्ध में यहां कतिपय स्थलों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के १२९ वें सूक्त के तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि आरम्भिक मूल तत्त्व एक ही है। यह तत्त्व अप्रकट सलिल के रूप में वर्तमान है। इस मूल तत्त्व से सर्वप्रथम तप द्वारा काम अथवा मन की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद (१०।१२१।१) में प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ को जगत् का पति कहा है। ऋग्वेद (१०।८२।१) में सष्टि समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि शरीर के उत्पादयिता और अनुपम धीर विश्वकर्मा ने प्रथम जल को उत्पन्न किया और फिर इधर-उधर चलने वाले द्यावापृथिवी को बनाया। ऋग्वेद (१०।७२।२) के अन्तर्गत कहा है कि ब्रह्मणस्पति (अदिति) ने देवताओं को उत्पन्न किया एवं असत् (अविद्यमान) से सत् (विद्यमान) की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद (१०।१२५।७,८) में वाक् का मूल तत्त्व के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि आरम्भ में वाक् तत्व ही जगत् के स्रष्टा के रूप में वर्तमान था। यह मूल तत्व ही फिर समुद्र के जल में उत्पन्न हुआ। इसके जल में उत्पन्न होने का उद्देश्य जीवों में अपने स्वरूप का प्रचार करना था। ऋग्वेद (१०।१९०।५) में पुरुष का मूल स्रष्टा के रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव मनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि और फिर जीवों के शरीरों का निर्माण किया।

अथर्ववेद संहिता (१०।७।७,८) के अन्तर्गत स्कम्भ का वर्णन करते हुए कहा है कि स्कम्भ ने जिसमें कि प्रजापति ने समस्त जगत् को आश्रय एवं पोषण दिया, अपने अंशसहित जगत् में प्रवेश किया। अथर्ववेद संहिता में ही एक स्थल पर यह भी कहा है कि प्राण जगत् का निर्माण करता है।[1] **शतपथ ब्राह्मण** के अन्तर्गत कहा है कि पुरुष-प्रजापति जलों को उत्पन्न करता है और फिर उन जलों में अण्ड रूप में प्रवेश करके उनसे ब्रह्म को उत्पन्न करता है।[2] **तैत्तिरीय आरण्यक** में प्रजापति का स्रष्टा रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजापति ने लोकों का निर्माण करते हुए सृष्टि के आदि तत्व के रूप में आत्म स्वरूप में प्रवेश किया।[3]

उपर्युक्त स्थलों के स्पष्टीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का मूलतत्व एक ही था और यह मूल तत्व जगत् का निर्माण करने के पश्चात् उसी में प्रवेश कर लेता था। यह मूल तत्व आत्मा एवं हिरण्य गर्भ का ही रूप था।

उपर्युक्त विचार का विश्लेषण उपनिषदों में भी पूर्ण रूप से मिलता है। इस स्थल पर उपनिषदुपलब्ध कार्य-कारण सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

बृहदारण्यक में मूल तत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था, फिर यह नाम रूप के द्वारा व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ। इसी स्थल पर यह भी कहा है कि आत्मा इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त उसी प्रकार प्रवेश करता है जिस प्रकार कि छुरा अपने घर में प्रवेश करता है और अग्नि, अग्नि के आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है।[4] **छान्दोग्योपनिषद्** में सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आरम्भ

---

१. अथर्ववेद संहिता ११।४।
२. शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।
३. तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।
४. बृ० उ० १।४।७।

में सत् तत्त्व ही वर्तमान था, उसी आदि तत्त्व ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा की और सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति की। इसके अनन्तर तेज ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा करके जल की रचना की और फिर इसी प्रकार जल ने अन्न को उत्पन्न किया। इसके पश्चात् उस सर्वोच्च सत्ता ने यह इच्छा की कि मैं तेज, जल और अन्न में जीवात्मा के साथ प्रवेश करूं तथा नाम और रूप को व्याकृत करूं —(छा० उ० ६।२।२—६।३।२)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत परमात्मा के सृष्टिसंकल्प की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि सर्गारम्भ में परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न होकर बहुत-से रूप धारण करूं। उक्त संकल्प के बाद परमेश्वर ने जड-चेतन मय समस्त जगत् की रचना की और उसके पश्चात् स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गए।[1]

ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व केवल एक आत्मतत्व की ही सत्ता थी, उसी परमात्मा ने लोकों के सर्जन की इच्छा की और तदनुसार अम्भ, (द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक) मरीचि, (अन्तरिक्ष) मर (मर्त्यलोक) और जल लोक की रचना की।[2] ऐतरेयोपनिषद् में ही आगे चलकर कहा गया है कि उस परमात्मा ने विचार किया कि मेरे बिना यह मनुष्यरूप पुरुष कैसे रह सकेगा ? इस कामना से परमात्मा ने मनुष्य शरीर में प्रवेश करने की इच्छा की और वह ब्रह्मरन्ध्र को चीर कर मनुष्य शरीर में प्रवेश कर गया।[3]

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त के संकेत स्पष्ट हैं। इन संकेतों में परमात्मा के कारणत्व एवं जगत् की व्यंजना बहुत स्पष्ट है। परन्तु यहां यह कह देना भी समीचीन ही होगा कि ऊपर निर्दिष्ट किएगए वैदिक स्थलों में कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के बीज मात्र ही उपलब्ध हैं, उसका सैद्धान्तिक रूप नहीं। उक्त न्यूनता वैदिक साहित्य की न्यूनता इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसका उद्देश्य किसी सिद्धांत विशेष का प्रतिपादन नहीं था। कार्य-कारणवादसिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यो द्वारा ही किया गया है। अतः यहां अद्वैत वेदान्त के आचार्यो के अनुसार कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की समीक्षात्मक वर्णना की जाएगी।

अद्वैत वेदान्त और कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त

कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने आकाशादि प्रपंच-मय जगत् को कार्य एवं ब्रह्म को कारणरूप में स्वीकार किया है, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शंकराचार्य ने कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत् के बीच अनन्यत्व की स्थापना की है।[4] परन्तु अनित्य एवं मिथ्या जगत् की कार्यता के सम्बन्ध में कूटस्थ एवं नित्य ब्रह्म की कारणता संगत नहीं कही जा सकती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में मायाशक्तिविशिष्ट पर-मात्मा से प्रपंच मय जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य ने मायावी परमेश्वर को जगत् का स्रष्टा स्वीकार करते हुए कहा है कि एक ही परमेश्वर जो कूटस्थ, नित्य

---

१. तै० उ० २।६।
२. ऐतरेयोपनिषद् १।१।१,२।
३. वही, १।३।११,१२।
४. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। —ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

एवं विज्ञान स्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है[1]। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' आदि स्थलों में जहां-जहां परमेश्वर में जगदुत्पत्ति आदि की कामना का वर्णन आया है, वहां माया विशिष्ट ब्रह्म का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यही मायाविशिष्ट ब्रह्म अद्वैत वेदान्त में ईश्वर संज्ञा के द्वारा वर्णित हुआ है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार अद्वैत वेदान्त में कार्यरूप जगत् की सत्ता का कारण मायावी परमेश्वर है। माया के द्वारा ही परमेश्वर में जगत्-सृष्टि की योग्यता है। इसीलिए शांकर वेदान्त में माया को बीजशक्ति कहा गया है[2]। अपनी माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर उसी प्रकार जगत् की रचना करता है जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल के द्वारा बहुविध अवास्तविक विषयों की रचना करता है। जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक स्वरचित इन्द्रजाल से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार मायावी परमेश्वर भी जगत् के समस्त पाप-पुण्यादि कृत्यों से अस्पृष्ट है[3]।

अद्वैत वेदान्त में, माया की दो शक्तियां बतलाई गई हैं—एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति सत्य—ब्रह्म की तिरोधानकर्त्री एवं ब्रह्मसाक्षात्कार की बाधक है[4] और विक्षेप शक्ति नामरूपात्मक मिथ्या जगत् की निर्मात्री[5]। जगत् की कार्य-कारणता का स्पष्टीकरण अद्वैत वेदान्त में अनेक स्थलों पर रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। इस दृष्टान्त के आधार पर शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार अविद्यावश रस्सी में सर्प का मिथ्या अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण परमात्मा में जगत् के नानात्व का अनुभव होता है।[6] यहां यह कहना और उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार भ्रान्तिकालिक सर्प रस्सी का विकार नहीं होता उसी प्रकार जगत् को भी ब्रह्म का विकार नहीं समझना चाहिए। शंकराचार्य ने इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि गाढान्धकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानता हुआ द्रष्टा भय से कम्पित होकर भागने लगता है। किन्तु, किसी से यह सुनकर कि 'डरो मत, यह सर्प नहीं है, वरन् रज्जु है' सर्प ज्ञानजन्य भय से मुक्त हो जाता है और कांपना तथा भागना छोड़ देता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार सर्पज्ञानजन्य भय और उसकी निवृत्ति, इन दोनों अवस्थाओं में सर्प रूप वस्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा जाता, उसी प्रकार ब्रह्म में भी किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं है।[7] अतएव अद्वैत वेदान्त में विकारवाद का समर्थन न करके विवर्तवाद का ही अनुसरण किया गया है। इस स्थल पर विवर्तवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

विवर्तवाद का स्वरूप

वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विवर्त की परिभाषा करते हुए कहा है—

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।१९।
२. वही, १।४।३।
३. गीता, शा० भा० ५।१४,१५।
४. गौ० का० १।१६।
५. वेदान्तसार—४।
६. ब्र० सू०, शा० भा० २।१२।१६।
७. वही, १।४।६।

विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः

अर्थात् उपादान कारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त कहते हैं।[१] इस परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की सत्ता विषम होने के कारण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। यह निःसन्देह सत्य है कि मिथ्या जगत् की उत्पत्ति का कारण अधिष्ठान ब्रह्म ही है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जगत् ब्रह्म के तात्विक परिवर्तन का स्वरूप है। जगत् के ब्रह्म का तात्विक परिवर्तन न होने के कारण ही, ब्रह्म और जगत् में विवर्तभाव है।[२]

विवर्तवाद एवं सांख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद

कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के विवेचन के सम्बन्ध में सांख्यवादी सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद का समर्थक है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। सांख्यवादी के अनुसार घट एवं पट मृत्तिका एवं तन्तुओं के परिणाम मात्र हैं, इसीलिए इस सिद्धान्त को परिणामवाद का नाम भी दिया जाता है। सत्कार्यवाद का निरूपण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

परिणामवाद एवं विवर्तवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जहां विवर्त[३] उपादान से विषम कार्य की सत्ता का नाम है, वहां इसके विपरीत परिणाम उपादान के समान कार्य की सत्ता को कहते हैं।[४] रत्नप्रभाकार ने एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परिणामः, *यथादुग्धस्य दधिभावः,*······विवर्तः यथा शुक्ते रजतभावः।[५] अर्थात् दुग्ध का दधि भाव परिणाम और शुक्ति का रजत भाव विवर्त है। इस प्रकार विवर्तवाद एवं परिणामवाद सिद्धान्तों का मौलिक अन्तर पूर्णतया द्रष्टव्य है।

विवर्तवाद और असत्कार्यवाद का सिद्धान्त

*न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने असत्कार्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर कार्य-कारण*वाद की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। सांख्य के सत्कार्यवाद एवं न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। सत्कार्यवाद के अनुयायी कार्य की सत्ता को कारण में सत् मानते हैं। इसके विपरीत असत्कार्यवादी कार्य को कारण में असत् मानते हैं। असत्-कार्यवादी कारण में कार्य की सत्ता को सत् न मानकर कार्य का नवीन आरम्भ मानता है। इसीलिए असत्कार्यवाद का सिद्धान्त आरम्भवाद के नाम से भी प्रचलित है। *असत्कार्यवाद* का अपेक्षित स्पष्टीकरण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। विवर्तवादी के अनुसार जहां कार्य की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, वहां असत्कार्यवादी कार्य की सत्ता को कारण से पृथक् मानता है, यही दोनों सिद्धान्तों का मूल भेद है।

ऊपर किए गये विवेचन के अनुसार कार्यकारणवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त

---

१. वेदान्त परिभाषा—१।
२. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविवर्त इत्युदीरितः—वेदान्तसार २१।
३. वही, २१।
४. परिणामोनाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः—वेदान्त परिभाषा १।
५. रत्नप्रभा—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२८।

सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद का विरोधी होकर सत्कारणवाद का पोषक है। सत्कारणवाद के अनुसार कारण सत् एवं कार्य मिथ्या है। डा० दासगुप्त ने अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम भी दिया है।[१] परन्तु मेरे विचार से अद्वैत वेदान्त में कार्य की सत्ता मिथ्या होने के कारण, अद्वैतवेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। स्वयं डा० दास गुप्त ने अद्वैत दर्शन के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देने से पूर्व कार्य-कारण सिद्धान्त की विवेचना करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे हैं—

The one truth is clay. So in all world phenomena the one truth is being, the Brahman & all the phenomena that are being imposed on it are but illusory forms and names.[2]

डा० दासगुप्त के उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत्तिका ही सत्य है। अतः जगत् की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म में आरोपित जगत् की समस्त सत्ता मिथ्या नामरूप मात्र है। उक्त विचार के अन्तर्गत नामरूपात्मक कार्य रूप जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट होने पर भी डा० दासगुप्त ने उक्त विचार को सत्कार्यवाद के अन्तर्गत माना है। कदाचित् अपनी मान्यता में अनौचित्य का भास होने के कारण ही डा० दासगुप्त ने सत्कार्य-वाद की अपेक्षा सत्कारणवाद को अधिक समुचित मानते हुए यह वाक्य लिखा है —

This is what is called Satkaryavada or more properly the Sat-karanavada of the Vedanta.[३]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस लेखक के मतानुसार अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम न देकर सत्कारणवाद का नाम देना ही उपयुक्त है।

अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्यपरवर्ती आचार्यों द्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना

अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने कार्य-कारण समस्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है।

संक्षेप शारीरककार का मत—संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह शुद्ध परब्रह्म ही है।[४] सिद्धान्तलेशकार अप्पयदीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के उक्त मत का ही उल्लेख किया है।[५] परन्तु अद्वैत सिद्धि के टीकाकार के अनुसार संक्षेपशारीरककार का मत है कि

---

१. *Dr. S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 468.

२. वही, p. 468.

३. वही, p. 468.

४. निमित्तं च योनिश्चयत् कारणं सत्
परब्रह्मसर्वस्य जन्मादिभाजः
इतिस्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कार्यसिद्धवल्लक्षणं सिद्धिवाह्यम् ॥—संक्षेप शारीरकम् १।५३२।

५. अत्र संक्षेप शारीरकानुसारिणः केचिदाहुः—शुद्धमेवोपादानम्,
जन्मादिसूत्रतद्भाष्ययोरुपादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तेः।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

अविद्योपहित चित् जगत् का कारण है।[१]

विवरणकार का मत—विवरण मतानुयायियों का कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में कथन है कि जो 'सर्वज्ञ', सर्ववित् है तथा जिसका तपोज्ञानमय स्वरूप ज्ञान का विकार है, उस सर्वज्ञ ब्रह्म से हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं, इस श्रुतितात्पर्य के अनुरूप सर्वज्ञत्वादि धर्मों से युक्त माया से शबलित ईश्वर रूप ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है।[२] ब्रह्मानन्द ने विवरणकार के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ईश्वर और जीव अविद्या में क्रमशः शुद्ध चित् के बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप हैं। यह शुद्धचित् तत्व ही जो ईश्वर एवं जीव सत्ता को प्राप्त होता है, एवं सर्वकालिक साक्षी है, जगत् का उपादानकारण है।[३]

वाचस्पति मिश्र का मत—अद्वैत वेदान्त के गम्भीर समालोचक अप्पय दीक्षित ने वाचस्पति मिश्र के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार माया से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है और माया सहकारी कारण है।[४] यहां जीवाश्रितत्व से जीवत्व विशिष्ट चैतन्याश्रितत्व विवक्षित न होकर चैतन्याश्रितत्व ही विवक्षित है।

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का मत—मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार अज्ञान ही इस द्वैतात्मक जगत् का उपादान कारण है। अद्वैत वेदान्त के इस प्रकाण्ड विद्वान् का कथन है कि अज्ञान के ही कारण ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है।[५]

प्रकाशानन्द का मत—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक प्रकाशानन्द ने जगत् को अज्ञानकृत माना है।[६] प्रकाशानन्द के मतानुसार अज्ञान ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उपादान कारण है।

कतिपय अन्य मत—माया एवं अविद्या के भेद के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी मत का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। माया एवं अविद्या में भेद को स्वीकार करने वाले कुछ विद्वान् कहते हैं कि आकाशादि 'महाभूत प्रपंच' ईश्वर में रहने वाली माया का परिणाम है। अतः आकाशादि महाभूत प्रपंच का उपादान ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण आदि प्रपंच, ईश्वराश्रित माया के परिणाम भूत आकाशादि महाभूतों से संसृष्ट जीव की अविद्या से उत्पन्न हुए सूक्ष्म भूतों का कार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्तःकरण आदि के उपादान कारण हैं।

---

१. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४३८।
२. सिद्धान्त लेश संग्रह—१।
३. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८३। (निर्णयसागर, १९१७)
४. वाचस्पतिमिश्रास्तु—जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्मस्वत एव जाड्याश्रयप्रपंचाकारेण-विवर्तमानतयोपादानमिति मायासहकारित्वम्।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

५. अस्यद्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥—अद्वैत सिद्धि, पृ० २३८।
Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 580 से उद्धृत।
६. देखिए—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक २६ की व्याख्या।
(जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित संस्करण, कलकत्ता १९३५।)

माया एवं अविद्या सम्बन्धी भेद के आधार पर कुछ समालोचक विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूत प्रपंच ईश्वराश्रित माया का परिणाम है और इसलिए आकाशादि महाभूत प्रपंच में ईश्वर उपादान है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि जीवाश्रित अविद्या के ही परिणाम हैं, और उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर नहीं।

उपर्युक्त मतों के विपरीत अद्वैत वेदान्त के एकाधिक विद्वानों ने माया एवं अविद्या को अभिन्न मानकर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना की है। माया एवं अविद्या की अभिन्नता के अनुसर्ता कतिपय विद्वानों का विचार है कि यद्यपि आकाशादि महाभूत प्रपंच का ईश्वर ही उपादान है, परन्तु अन्तःकरण आदि में जीव के तादात्म्य की प्रतीति होने से अन्तःकरण आदि का उपादान जीव ही है।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर है और प्रातिभासिक-पदार्थों का उपादान जीव है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि केवल एक जीव ही अज्ञान से स्वाप्निक पदार्थों के समान ईश्वर सहित इस समस्त प्रपंच का कारण है।

विद्वानों के एक वर्ग का विचार है कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत् के प्रति उपादान हैं। केवल अन्तर इतना है कि ब्रह्म विवर्त दृष्टि से उपादान है और माया परिणाम रूप से।[1]

आलोचना

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में ऊपर हमने जिन मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है उन सभी ने ब्रह्म, ईश्वर और जीव में से किसी एक को जगत् का कारण स्वीकार किया है। यहां पर यह कह देना और उपयुक्त होगा कि उक्त तीनों कारणों की जगत्कारणता बिना माया के असिद्ध है। माया के द्वारा ही ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव जगत् के कारण कहलाते हैं। माया की सहकारिता के बिना तो सर्वोच्च सत्य पारमार्थिक ब्रह्म में भी जगत्कारणता नहीं सिद्ध होती। परन्तु माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी सिद्ध होता है और उपादान कारण भी। अपनी चैतन्य प्रधानता के कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर प्रपंचमय जगत् का निमित्त कारण है और अज्ञानप्रधानता के कारण उपादान कारण। जिस प्रकार कि एक ही मकड़ी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति, चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण है, उसी प्रकार माया विशिष्ट ब्रह्म चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही है।

जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कहना और उचित होगा कि वेदान्तिक विषयवाद एवं अज्ञानवाद का प्रभाव पश्चिमी दार्शनिकों पर भी अक्षुण्ण रूप से पड़ा है। जिस प्रकार कि विषयिवाद एवं विषयवाद के अन्तर्गत अज्ञान के द्वारा विषयी आत्मा में समस्त विषयों की उत्पत्ति सिद्ध की गई है, उसी प्रकार बर्कले,[2] एडवर्ड केर्ड,[3] हीगल[4] एवं

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृष्ठ ६७-७४ (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।
२. *Prof. J. G. Chatterji's* article, Empericism—History of Philosophy, Eastern and Western, Edited by *Radhakrishnan*.
३. *Edward Caird*: Evolution of Religion, Vol. I., p. 263.
४. Lectures on the Philosophy of Religion, Vol. I., p. 328.

हल्डेन[1] प्रभृति पश्चिमी विद्वानों ने भी जगत् की सत्ता को आत्मगत ही माना है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तिक एवं पाश्चात्य विद्वानों के कार्यकारणसम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है।[2]

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद—सृष्टि-दृष्टिवाद एवं अध्यारोपवाद—आदि सिद्धान्तों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद का विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहां दृष्टि-सृष्टिवादादि शेष सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

दृष्टि-सृष्टिवाद

दृष्टि-सृष्टिवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत दो मतों के आधार पर किया गया है। यहां दोनों मतों के अनुसार इस सिद्धान्त का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाएगा।

प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप

दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार कुछ विद्वानों का कहना है कि जाग्रत्कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है। क्योंकि अर्थ-सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं है। दृष्टि-सृष्टिवादी जगत् को कल्पित सिद्ध करते हुए समस्त प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि, दृष्टिसमकालीन ही मानते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त का नाम दृष्टि-सृष्टिवाद पड़ा है। दृष्टि-सृष्टिवाद के समर्थकों का कहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञानसत्ता हो ही नहीं सकती। अतः समस्त जाग्रत् प्रपंच की दृष्टिसमकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु के सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय, दृष्टि के पूर्व में घटादि का अभाव होने से नहीं हो सकता। इसलिए स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादि जागतिक पदार्थों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।[3]

प्रथम मत की आलोचना

दृष्टि-सृष्टिवाद के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद के आधार पर समस्त जगत् को कल्पित माना जाएगा तो उसकी कल्पना करने वाला कौन कहा जाएगा? अविद्योपाधि से रहित आत्मा अथवा अविद्योपाधि से उपहित आत्मा। अविद्योपाधि से रहित आत्मा को तो इसलिए प्रपंच की कल्पना करने वाला नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष में भी अन्य साधनों की अपेक्षा न करने वाले निरुपाधिक कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपंच की अनुवृति होने लगेगी और इस प्रकार मोक्ष एवं प्रपंच-मय संसार की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। इसके विपरीत यदि कहा जाय कि अविद्योपहित आत्मा प्रपंच-मय संसार का कल्पक है, तो भी यह पक्ष अयुक्त ही है, क्योंकि

---

१. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. 2, p. 111.
२. विशेष देखिए : *J. Kirtikar* : Studies in Vedanta, Ch. II.
३. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

अविद्या स्वतः कल्पित है। अविद्या के कल्पित होने के कारण अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, जो असंगत है। क्योंकि जब अविद्या की कल्पना ही नहीं है तो अविद्योपहित आत्मा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। अतः अविद्या की ही सृष्टि असम्भव है। वस्तुतः सिद्धान्त मतानुसार अविद्योपहित आत्मा को ही प्रपंच का कल्पक माना गया है। उक्त शंका का समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि अविद्यादि छः पदार्थ अनादि है, अतः उनमें दृष्टि-सृष्टि नहीं माननी चाहिए। किन्तु अविद्या से भिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपंच में दृष्टि-सृष्टि संगत है।[1] सिद्धान्ती के पूर्वोक्त मत के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि अविद्या से उपहित आत्मा पूर्वोक्त युक्ति से प्रत्यक्ष वस्तु का कल्पक भले ही हो, परन्तु केवल श्रुतिमात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच और उनके क्रम आदि का कल्पक किसी को नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि श्रुति मात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच का कोई कल्पक नहीं है। सिद्धान्ती के उक्त मत के सम्बन्ध में पूर्व पक्षी फिर शंका करता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः, इत्यादि श्रुति सिद्धान्ती के मतानुसार निरालम्ब सिद्ध होगी।

सिद्धान्ती पूर्व पक्षी की उपर्युक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' आदि श्रुतियों का आलम्बन प्रपंचशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अध्यारोप और अपवाद के आधार पर प्रपंचशून्य ब्रह्म की प्रतिपत्ति होती है, इसलिए समस्त प्रपंच शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय रूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। परन्तु वस्तुतः, सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुति का तात्पर्यभूत अर्थ कदापि नहीं है।[2]

द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण

ऊपर हमने दृष्टि-सृष्टिवाद के जिस सिद्धान्त की चर्चा की है उनके अनुसार विश्व की सृष्टि दृष्टिसमकालिक है। उक्त मत के अतिरिक्त दृष्टि-सृष्टिवाद का एक अन्य रूप भी मिलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद के इस द्वितीय मत के समर्थक वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द आदि विद्वान् हैं। प्रकाशानन्द प्रभृति का कथन है कि दृष्टि ही विश्वसृष्टि है।[3] इस मत के अनुसार स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपंच सृष्टि है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विश्व की सृष्टि दृष्टिसमकालिक कदापि नहीं है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि दृश्य जगत् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप आत्मा से पृथक् नहीं माना जा सकता। अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने स्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है —

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥[4]

अर्थात् विवेकी पुरुष इस जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।
२. अमलानन्द—शास्त्रदर्पण १।४।४, पृष्ठ ८७ (वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्)।
३. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लो० २६ पर प्रकाशानन्द की व्याख्या।
४. अप्पयदीक्षित द्वारा लिखित सिद्धान्त लेश संग्रह, द्वितीय परि० से उद्धृत।

जगत् को ज्ञान सत्ता से पृथक् देखते हैं। इस प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद सम्बन्धी उक्त मत के अनुसार जगत् की सत्ता दृष्टिसमकालिक न होकर दृष्टि मात्र ही है।

समीक्षा

दृष्टि-सृष्टिवाद और अद्वैत वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त में इतना अन्तर है कि जहां दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार जगत् की व्यावहारिक सत्ता का निराकरण किया गया है, वहां शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। दृष्टि-सृष्टिवादी का सिद्धान्त विज्ञानवादी बौद्ध के अधिक समीप प्रतीत होता है। दोनों में केवल यही एक विशेष असाम्य है कि दृष्टिसृष्टिवादी आत्मारूप परमार्थ सत्य को स्वीकार करता है, जबकि विज्ञानवादी बौद्ध वेदान्त के आत्मवाद का विरोधी है। इसी प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद का सिद्धांत सुरेश्वराचार्य के आभासवाद से भी इस अर्थ में भिन्न है कि दृष्टि-सृष्टिवादी के अनुसार जागतिक विषयों की सत्ता दृष्टिसमकालिक ही स्वीकार की गई है, जबकि आभासवादी के मतानुसार जागतिक पदार्थों की सत्ता तब तक सत्य ही कही जाएगी, जब तक कि परमार्थ सत्य का बोध नहीं हो जाता।[१]

सृष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के कतिपय विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोधी हैं। ये विद्वान् सृष्टि-दृष्टिवाद के समर्थक हैं। दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोध में इनका कहना है कि दृष्टि-सृष्टिवादियों द्वारा प्रतिपादित जाग्रत् प्रपंच की प्रातिभासिकता, आकाशादि सृष्टि का अपलाप एवं स्वर्गादि का अपलाप अप्रामाणिक है। ये विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन न करके सृष्टि-दृष्टिवाद के पक्षपाती हैं। सृष्टि-दृष्टिवादियों का विचार है कि श्रुति में बतलाये हुए क्रम के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृष्ट जगत् अज्ञात सत्ता से युक्त है। इस मत के अनुयायियों का तर्क है कि तत्-तत् विषयों में तत्-तत् प्रमाणों की प्रवृत्ति होने के अनन्तर आवरण भंग द्वारा तत्-तत् विषयों का अपरोक्षावभास होता है।[२] अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है, प्रत्युत सृष्टि ही दृष्टि की जननी है।

अध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना

ब्रह्मवेत्ता गुरु के लिए जिज्ञासु शिष्य को जगत् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोपवाद एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैत वेदान्त की एक अनुपम देन है। अध्यारोपवाद योजना के अभाव में तत्त्ववेत्ता गुरु द्वारा विविदिषु के लिए उपदेश देना ही असम्भव होता। अतः यह कथन अनुचित न होगा कि अध्यारोपवाद सिद्धान्त के द्वारा ही निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश सम्भव है।

अध्यारोप का अर्थ है—किसी वस्तु का आरोप और अपवाद का अर्थ है—आरोपित वस्तु का निराकरण। अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में ब्रह्म में जगत् के विषयों का आरोप अध्यारोप है एवं जगत् के समस्त विषयों का निराकरण अपवाद है। अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्य सदानन्द

---

१. Lights on Vedanta, p. 46.
२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

ने एक उदाहरण के आधार पर अध्यारोप की जो परिभाषा की है, वह इस प्रकार है—

असर्पभूतायां रज्जौसर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः (वेदान्तसार६) अर्थात् किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का आरोप अध्यारोप है। अध्यारोप के द्वारा गुरु पहिले आत्मा में, अवस्तु रूप अनात्म शरीर का आरोप करता हैं और फिर आत्मा को अपवाद पद्धति के द्वारा शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से अतिरिक्त सिद्ध करता है।

अपवाद के तीन भेद

आरोप के निराकरण के लिए ऊपर हमने जिस अपवाद की चर्चा की है वह (१) श्रौत (२) यौक्तिक और (३) प्रत्यक्ष भेद से तीन प्रकार का है[1]। यहां इन तीनों भेदों का पृथक-पृथक् स्पष्टीकरण उपयुक्त होगा।

श्रौत अपवाद—'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा नानात्वमय प्रपंच का निराकरण श्रौत अपवाद कहलाता है।

यौक्तिक अपवाद—कटक एवं कुण्डलादि की सत्ता अपने उपादानकारणभूत सुवर्णादि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार घटादि दृश्य पदार्थों की सत्ता घटादि के उपादान मृत्तिका आदि से भिन्न नहीं है। उक्त युक्ति के आधार पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार कटक कुण्डलादि अपने सुवर्ण रूप उपादान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार प्रपंचरूप जगत् भी अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो प्रपंच का यह निराकरण यौक्तिक अपवाद कहलाता है।

प्रत्यक्ष अपवाद—रस्सी एवं सर्प के उदाहरण में रस्सी का प्रत्यक्ष होने पर यह रस्सी है सर्प नहीं, इस प्रकार सर्प का अपवाद—प्रत्यक्ष अपवाद है। इसी प्रकार तत्वमसि आदि वाक्यों के अनुसार तत्ववेत्ता को जब 'मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हूं' इस प्रकार का अनुभव होता है और अनात्मबुद्धि का निराकरण हो जाता है तो यह प्रत्यक्ष अपवाद कहलाता है।

लोक में भी जिस प्रकार कि आकाश के स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त पुरुष पहिले नीलिमा और विशालता आदि का ज्ञान कराकर फिर यह आकाश वस्तुतः नीलिमायुक्त नहीं है, इस प्रकार अपवाद करके रूपरहित एवं व्यापक आकाश का बोध कराता है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त में भी पहिले आकाशादि का कारण ब्रह्म को बतलाया जाता है और फिर निषेध वाक्यों से आरोपित संसार कारणत्व के अपवाद से शून्य ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया जाता है।

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अद्वैतवाद वेदान्त के अन्तर्गत अध्यारोप एवं अपवाद की व्यवस्था ब्रह्म एवं जगत् की समस्या को सुलझाने का एक सरल एवं वैज्ञानिक उपाय है।

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ ३५९,६० पर देखिए— पाद टिप्पणी (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)

पंचम अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (उत्तरार्द्ध)

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठानवाद के सिद्धान्त के स्वीकार किए विना कूटस्थ एवं अचल ब्रह्म में जगत् की कारणता अनिष्पन्न है, यही अधिष्ठानवाद का सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का यत्किंचित् उल्लेख तृतीय अध्याय में गौडपादाचार्य एवं सर्वज्ञात्ममुनि के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय किया जा चुका है। यहां इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन अभीष्ट है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन के मायावाद सिद्धान्त के अनुसार अविद्या एवं माया को जगत् का कारण कहा गया है। परन्तु अविद्या एवं माया विना आधार के नाम रूपात्मक प्रपंच मय जगत् की उत्पत्ति में असमर्थ है। इसलिए वेदान्त परिभाषाकार का यह कथन युक्ति-युक्त ही है कि अधिष्ठान सत्ता के स्वीकार किए विना जगत् की आरोपित सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] व्यावहारिक जगत् की वात तो दूर रही असत् मृगतृष्णिका आदि भी विना आधार के नहीं रह सकते।[2] अधिष्ठान के उपयोगित्व पर विचार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों के व्यवहार भी विना अधिष्ठान के स्वीकार किए नहीं सिद्ध हो सकते।[3]

सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है। जिस प्रकार कि विवेक न होने के कारण लोग अप्रत्यक्ष आकाश में श्यामता, शुक्लता और नीलता का आरोप कर लेते हैं उसी प्रकार सत् ब्रह्म में भी अज्ञानी जगत् का आरोप कर लेते हैं। वस्तुतः अध्यस्त जगत् की सत्ता अधिष्ठान रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अध्यस्त जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म से अपृथक् होने पर भी अधिष्ठान ब्रह्म की अखण्डता एवं शुद्धता अवाधित है। इस सम्बन्ध में वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्ब रहता है, उसी प्रकार पापादि एवं दोषों से रहित पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में समस्त प्रपंच अध्यस्त है।[4] अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना ही भ्रान्ति है। शंकराचार्य ने उक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्पादि की कल्पना करना भ्रान्ति है उसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना भी भ्रान्ति मात्र है।[5]

---

१. वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

२. गीता, शा० भा० १३।१४।

३. नचाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। —ब्र० सू० शा० भा० १।१।१।

४. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली २४।

५. विवेक चूडामणि ४०६।

अधिष्ठानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक प्रपंच मय जगत् अध्यस्त है एवं ब्रह्म अधिष्ठान है।

शून्यवादी बौद्ध का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिस सत् तत्त्व को अध्यास रूप जगत् का अधिष्ठान कहा है, उसका शून्यवादी ने निराकरण किया है। शून्यवादी का कहना है कि शून्य में ही सांवृत्तिक सत्ता से रजतादि का भ्रम उत्पन्न होता है। शून्यवादी का अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहना है कि वेदान्ती का यह कथन असंगत है कि विना सद् रूप अधिष्ठान के भ्रम सम्भव नहीं है। शून्यवादी कहता है कि वेदान्ती के मत में भी तो केशोण्ड्रक या गन्धर्व नगर आदि भ्रम विना अधिष्ठान के ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वेदान्ती का यह कथन भी अनुचित है कि शुक्ति ज्ञान होने के अनन्तर रजत के 'नेदं रजतम्' वाध से शुक्ति सत्य बनी रहती है, उसका वाध नहीं होता और इस प्रकार उसके वाधित न होने से ही वह वाध की अवधि कहलाती है। अतः वाध अवधि के सहित ही होता है, वेदान्ती का यह कथन दोषपूर्ण है। वेदान्ती के उक्त तर्क का खण्डन करते हुए शून्यवादी का कहना है कि रज्जु और सर्प के दृष्टान्त में 'न सर्पः' सर्प नहीं है, यह आप्त-वाक्यस्वरूप वाध निरवधिक होता है। शून्यवादी का आक्षेप है कि जिस भ्रम का वाध आपके अभिमत अधिष्ठान (शुक्ति, रज्जु आदि) के ज्ञान से नहीं हुआ अपितु 'सर्प नहीं है या रजत नहीं है' इस आप्त वाक्य से हुआ, उसमें कुछ भी अवधि नहीं है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही नहीं स्वीकार की जा सकती।[1]

शून्यवादी के आक्षेप का परिहार करते हुए यह कहा जायेगा कि शून्यवादी का यह कथन यथार्थ नहीं है कि वेदान्ती के मत में केशोण्ड्रक का भ्रम विना अधिष्ठान के ही सम्भव है। केशोण्ड्रक के सम्बन्ध में वेदान्ती का मत है कि अंगुलि से अपांग भाग में नेत्र दबाकर मलने से एकत्रित हुई नेत्र की किरणें ही केशोण्ड्रक के अधिष्ठान हैं। गन्धर्व नगर का अधिष्ठान वेदान्त के मतानुसार आकाश है। यदि पूर्व पक्षी के अनुसार विना अधिष्ठान के ही भ्रम सम्भव होने लगेगा तो शून्य ज्ञान भी शुक्ति-रजत ज्ञान के समान निरधिष्ठानक होने से भ्रम ही कहलाएगा।

यदि कहा जाए कि रजत का अधिष्ठान भ्रम है और भ्रम का अधिष्ठान रजत और इस प्रकार ज्ञेय रजतादि और भ्रम ज्ञान दोनों परस्पर एक दूसरे के अधिष्ठान हैं, तो यह अनुचित है, क्योंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आ जाएगा, कारण कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान से पूर्वकाल में रहना आवश्यक है। भ्रम और रजत को एक-दूसरे का अधिष्ठान मानकर भ्रम की साधिष्ठानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए भ्रम और रजत के अतिरिक्त किसी तीसरे सत्य को अधिष्ठान मानना ही युक्ति-संगत होगा।

बीजांकुर न्याय द्वारा अधिष्ठान का समर्थन

बीजांकुर न्याय से भ्रमज्ञान और ज्ञेय (रजतादि) व्यक्तियों की परम्परा मानने पर भी बीजांकुर प्रवाह में अनुगत मृत्तिका की तरह ज्ञान और ज्ञेय की परम्परा में अनुगत रूप से प्रतीत होने वाली किसी स्थायी वस्तु को अवश्य स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार कि घट

---

१. विवरण प्रमेय संग्रह १।१।

और कपाल में परस्पर अन्वित-अनुगत मृत्तिका के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार परस्पर अन्वित बीजांकुर में अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्य के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है और बीजांकुर परम्परा में जिस बीज से जो अंकुर उत्पन्न हुआ है उसी अंकुर से अपने कारण स्वरूप बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है और यह बीज भी पुनः दूसरे अंकुर को उत्पन्न करता है, अपने कारण भूत अंकुर को नहीं। इस प्रकार एकत्र बीजांकुर में कार्य-कारण का ग्रहण हो जाने पर उस गृहीत कार्य-कारण भाव को लेकर अदृष्ट बीजांकुर परम्परा में भी कार्य-कारण भाव का ग्रहण हो जाता है। अतः बीजांकुर परम्परा में अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। अतः सद्रूप अधिष्ठान को स्वीकार करना आवश्यक ही है। वेदान्ती का कथन है कि अनुगत स्थायी कारण न मानकर अदृष्ट की कल्पना करने में अन्ध परम्परा के प्रसंग की आपत्ति अवश्य आ सकती है।

आप्त वाक्य स्वरूप बाध निरवधिक है, शून्यवादी के इस तर्क का निराकरण करते हुए वेदान्ती का कथन है कि 'सर्प नहीं है' इस आप्त वाक्य स्वरूप बाध का भी 'किन्तु रज्जु है' यहां तक तात्पर्य होने से आप्त वाक्य रूप बाध भी सावधिक है। 'सर्प नहीं है' यह सुनने पर 'तो क्या है ?' ऐसी अपेक्षा का नित्य उदय होने से पुरोवर्ती वस्तु-मात्र अवधि विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहां कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम डर रहे हो, इस प्रकार बाध में भी 'यहां' पद से उपस्थित पुरोवर्ती देश ही अवधिरूपेण विद्यमान है। अतः शून्यवादी का उक्त तर्क निरर्थक है।

जिन माया रचित हस्त्यादि स्थलों में पूर्वपक्षी निरधिष्ठान भ्रम की शंका करता है, वहां वेदान्ती का मत है कि उन स्थलों में भी भ्रम या बाध का साधक साक्षि-चैतन्य ही अधिष्ठान है एवं अवधि है। पूर्वपक्षी का यह तर्क उचित नहीं होगा कि भ्रम विषय के बाधित होने से भ्रम का बाध और भ्रम के बाधित होने से उस बाधित भ्रम का अवभास कराने वाले साक्षि-चैतन्य का भी बाध हो जाता है। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क का निरास करते हुए वेदान्ती का कहना है कि साक्षि चैतन्य का बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षि-चैतन्य के बाध का कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ जड रूप ही है। यदि पूर्वपक्षी शून्य को ही अधिष्ठान मानने लगे तो यह अनुचित है, क्योंकि अध्यस्यमान रजतादि में शून्य अनुगम्यमान नहीं है। इसके विपरीत सद्रूप अधिष्ठान 'सदिदं रजतम्' (यह रजत सद् है) इस अनुभव बल से सर्वत्र अन्वयी है। यदि शून्य को अन्वयी मान लिया जाए तो भ्रम दशा में 'शून्य रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इदम्' (यह) इस प्रतीति का विषय होने वाला ही शून्य है, तो ऐसा स्वीकार करने पर तो केवल शून्य एवं सद् ब्रह्म में नाम मात्र का ही अन्तर रहा। इसके अतिरिक्त शून्य को अवधि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वबाध के अनन्तर शून्य की प्रतीति नहीं होती। यदि बाध के अनन्तर भी शून्य की प्रतीति मानी जाएगी तब तो शून्य चैतन्य का ही रूप कहलाएगा।

उक्त विवेचन के आधार पर शून्यवादी के उन समस्त तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनके आधार पर उसने अधिष्ठान के वैयर्थ्य को सिद्ध करना चाहता था।

और कपाल में परस्पर अन्वित-अनुगत मृत्तिका के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार परस्पर अन्वित बीजांकुर में अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्य के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है और बीजांकुर परम्परा में जिस बीज से जो अंकुर उत्पन्न हुआ है उसी अंकुर से अपने कारण स्वरूप बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है और यह बीज भी पुनः दूसरे अंकुर को उत्पन्न करता है, अपने कारण भूत अंकुर को नहीं। इस प्रकार एकत्र बीजांकुर में कार्य-कारण का ग्रहण हो जाने पर उस गृहीत कार्य-कारण भाव को लेकर अदृष्ट बीजांकुर परम्परा में भी कार्य-कारण भाव का ग्रहण हो जाता है। अतः बीजांकुर परम्परा में अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। अतः सद्रूप अधिष्ठान को स्वीकार करना आवश्यक ही है। वेदान्ती का कथन है कि अनुगत स्थायी कारण न मानकर अदृष्ट की कल्पना करने में अन्य परम्परा के प्रसंग की आपत्ति अवश्य आ सकती है।

आप्त वाक्य स्वरूप बाध निरवधिक है, शून्यवादी के इस तर्क का निराकरण करते हुए वेदान्ती का कथन है कि 'सर्प नहीं है' इस आप्त वाक्य स्वरूप बाध का भी 'किन्तु रज्जु है' यहां तक तात्पर्य होने से आप्त वाक्य रूप बाध भी सावधिक है। 'सर्प नहीं है' यह सुनने पर 'तो क्या है?' ऐसी अपेक्षा का नित्य उदय होने से पुरोवर्ती वस्तु-मात्र अवधि विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहां कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम डर रहे हो, इस प्रकार बाध में भी 'यहां' पद से उपस्थित पुरोवर्ती देश ही अवधिरूपेण विद्यमान है। अतः शून्यवादी का उक्त तर्क निरर्थक है।

जिन माया रचित हस्त्यादि स्थलों में पूर्वपक्षी निरधिष्ठान भ्रम की शंका करता है, वहां वेदान्ती का मत है कि उन स्थलों में भी भ्रम या बाध का साधक साक्षि-चैतन्य ही अधिष्ठान है एवं अवधि है। पूर्वपक्षी का यह तर्क उचित नहीं होगा कि भ्रम विषय के बाधित होने से भ्रम का बाध और भ्रम के बाधित होने से उस बाधित भ्रम का अवभास कराने वाले साक्षि-चैतन्य का भी बाध हो जाता है। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क का निरास करते हुए वेदान्ती का कहना है कि साक्षि चैतन्य का बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षि-चैतन्य के बाध का कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ जड रूप ही है। यदि पूर्वपक्षी शून्य को ही अधिष्ठान मानने लगे तो यह अनुचित है, क्योंकि अध्यस्यमान रजतादि में शून्य अनुगम्यमान नहीं है। इसके विपरीत सद्रूप अधिष्ठान 'सदिदं रजतम्' (यह रजत सद् है) इस अनुभव बल से सर्वत्र अन्वयी है। यदि शून्य को अन्वयी मान लिया जाए तो भ्रम दशा में 'शून्य रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इदम्' (यह) इस प्रतीति का विषय होने वाला ही शून्य है, तो ऐसा स्वीकार करने पर तो केवल शून्य एवं सद् ब्रह्म में नाम मात्र का ही अन्तर रहा। इसके अतिरिक्त शून्य को अवधि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वबाध के अनन्तर शून्य की प्रतीति नहीं होती। यदि बाध के अनन्तर भी शून्य की प्रतीति मानी जाएगी तब तो शून्य चैतन्य का ही रूप कहलाएगा।

उक्त विवेचन के आधार पर शून्यवादी के उन समस्त तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनके आधार पर उसने अधिष्ठान के वैयर्थ्य को सिद्ध करना चाहा था।

यह ज्ञान स्मृति और अनुभव से भिन्न है। उक्त ज्ञान को शून्यवादी बौद्ध अध्यास रूपी ज्ञान मानता है। शून्यवादी का दृष्टिकोण है कि 'यह रजत है', इस ज्ञान में अध्यास के द्वारा असत् रजत का भान होता है।[1]

अख्यातिवादी मीमांसक का मत

अख्यातिवादी के मत का आशय है कि जिस (शुक्ति में) जिस (रजत) का अध्यास है, उसका भेद न समझने से होने वाला भ्रम ही अध्यास कहलाता है।[2]

उपर्युक्त सभी मतों में इस अंश में ऐकमत्य है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। इस अंश में अद्वैत वेदान्त और उपर्युक्त मतों में भी साम्य अवलोकनीय है।

अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप

शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कह कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प और आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।[3]

अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। उक्त शंका का उतर अद्वैत दर्शन के सम्राट् शंकराचार्य ने बड़ी कुशलता के साथ दिया है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रथम तो आत्मा अत्यन्त अविषय ही नहीं है, क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूं, मैं जागता हूं, आदि तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सर्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शंकाराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिस के अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए, अज्ञानी पुरुष अप्रत्यक्ष आकाश में भी तलमलिनता आदि अध्यास का अनुभव करता है।[4] अतः यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता है कि यदि अध्यास—रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतन निष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' यह रजत है इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकार ने उक्त शंका का बड़ा समीचीन उत्तर

---

१. रत्नप्रभा की टिप्पणी, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात (श्रीकृष्ण पन्त सम्पादित)।
२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
३. एवमनादिरनन्तोनैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्व लोक-प्रत्यक्षः (ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात)।
४. ब्र० सू०, शा०भा० उपोद्घात।

और वह आत्मचैतन्य में ही अध्यस्त है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार 'मैं हूं और मैं नहीं हूं' इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का व्यवहार अहंकार रूप उपाधि के कारण है। एक ही चैतन्य केसर्व व्यापक होने के कारण उसका 'भीतर' एवं 'बाह्य' जगत् में रहना उपपन्न है। अतः जागरण काल में पारमार्थिक रूप से माने गए घटपटादि सकल व्यवहार जब सर्वगत चैतन्यरूप अधिष्ठान में अध्यस्त हैं तो स्वप्न भी उस आत्मचैतन्य में अध्यस्त है, यह कहने की अपेक्षा ही नहीं है।

जैसा कि अधिष्ठान सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा गया है, अधिष्ठानवाद का प्रतिपाद्य मायिक जगत् की कार्यता सिद्ध करना है। मायिक जगत् की सिद्धि में जो स्थान अधिष्ठान का है, वही अध्यास का भी है। अतः इस स्थल पर अध्यास सिद्धान्त का विवेचन अत्यन्त उपयोगी समझ कर किया जा रहा है।

अध्यासवाद और अद्वैत दर्शन

अद्वैत दर्शन में वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अध्यासवाद का महत्त्व भी अधिष्ठानवाद से कथमपि कम नहीं है। अधिष्ठानवाद के द्वारा यदि जगत्कारणवाद का स्पष्टीकरण किया गया है तो अध्यासवाद के द्वारा कार्य रूप जगत् की सत्ता का समालोचन निष्पन्न हुआ है। दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। वेदान्त विरोधी आचार्यों के अध्यास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। यहां पहिले इन मतों का निरूपण किया जाएगा। इसकेप श्चात् वेदान्तिक दृष्टि से अध्यास का विवेचन अभीष्ट होगा।

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का अध्याससम्बन्धी मत

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का विचार है कि अन्य में (शुक्ति आदि में) अन्य वस्तु (देशान्तरवर्ती रजत आदि) के धर्म का अध्यास होता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी का मत है कि देशान्तर्गत और कालान्तर्गत रजत का ग्रहण दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति से होता है।

आत्मख्यातिवादी क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध का मत

अध्यास के सम्बन्ध में आत्मख्यातिवादी बौद्ध का मत है कि अन्य वस्तु (बाह्य शुक्ति आदि) में अन्य वस्तु (बुद्धि रूपी आत्मा) के धर्म रजत आदि का अध्यास होता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मख्यातिवादी की दृष्टि से आन्तर रजत का ही बाह्य पदार्थ के समान अवभास होता है। आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मतानुसार बुद्धि (विज्ञान) के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। अतः आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत में रजतादि का अध्यास बुद्धि रूप ही है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद भी इस मत में भ्रम ही माना गया है।[1]

शून्यवादी बौद्ध का मत

असत् ख्यातिवाद के समर्थक शून्यवादी का मत है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है)

---

1. रत्नप्रभा, ब्र० सू०' शा० भा० उपोद्घात।

यह ज्ञान स्मृति और अनुभव से भिन्न है। उक्त ज्ञान को शून्यवादी बौद्ध अध्यास रूपी ज्ञान मानता है। शून्यवादी का दृष्टिकोण है कि 'यह रजत है', इस ज्ञान में अध्यास के द्वारा असत् रजत का भान होता है।[१]

अख्यातिवादी मीमांसक का मत

अख्यातिवादी के मत का आशय है कि जिस (शुक्ति में) जिस (रजत) का अध्यास है, उसका भेद न समझने से होने वाला भ्रम ही अध्यास कहलाता है।[२]

उपर्युक्त सभी मतों में इस अंश में ऐकमत्य है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। इस अंश में अद्वैत वेदान्त और उपर्युक्त मतों में भी साम्य अवलोकनीय है।

अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप

शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कह कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प और आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।[३]

अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। उक्त शंका का उतर अद्वैत दर्शन के सम्राट् शंकराचार्य ने बड़ी कुशलता के साथ दिया है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रथम तो आत्मा अत्यन्त अविषय ही नहीं है, क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूं, मैं जागता हूं, आदि तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सर्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिस के अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए, अज्ञानी पुरुष अप्रत्यक्ष आकाश में भी तलमलिनता आदि अध्यास का अनुभव करता है।[४] अतः यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता है कि यदि अध्यास—रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतन निष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' यह रजत है इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकार ने उक्त शंका का बड़ा समीचीन उत्तर

---

१. रत्नप्रभा की टिप्पणी, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात (श्रीकृष्ण पन्त सम्पादित)।
२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
३. एवमनादिरनन्तोनैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्व लोक-प्रत्यक्षः (ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात)।
४. ब्र० सू०, शा०भा० उपोद्घात।

दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जिधर प्रतिकूलता दीखती है वहां पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होते। जैसे कि पशु यदि किसी पुरुष को मारने के लिए लाठी उठाए आते हुए देखता है तो पिटने की आशंका से भागने लगता है और यदि उसके सामने कोई पुरुष हरित तृण लिए हुए आता दिखाई पड़ता है तो उसके सम्मुख प्रवृत्त हो जाता है। यही बात पुरुषों के सम्बन्ध में भी है व्युत्पन्नचित्त पुरुष भी यदि किसी को खड्ग लिए एवं चिल्लाते हुए देखते हैं तो उससे दूर हट जाते हैं और इससे विपरीत पुरुषों को देखकर उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं। पशुओं एवं पुरुषों के उपर्युक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार का कारण अध्यास है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि पुरुषों के समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार अध्यास के कार्य हैं।

जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है, समस्त शास्त्रीय व्यवहारों का मूल भी अध्यास ही है। अतः आत्मबोध के पूर्व में प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुष का ही आश्रय लेता है। उदाहरण के लिए, 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र व्यवहार आत्मा में, वर्ण, आश्रम, वय, आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार समस्त प्रमाण-प्रमेय एवं शास्त्रीय व्यवहारों का मूल अध्यास ही है। जब अध्यास की निवृत्ति हो जाती है तो केवल अधिष्ठान तत्त्व—एक ब्रह्म ही की सत्ता वर्तमान रहती है।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्त्व

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का समन्वय करते समय यह कहा जा चुका है कि सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा भी मनुष्य निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ है। अतः उपासना सगुण ब्रह्म की दृष्टि से ही संगत है, निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह सगुणोपासना अविद्या का ही रूप है। अध्यास का विवेचन करते हुए, अभी यह कहा जा चुका है कि शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञादि कृत्यों का आधार अध्यास ही है। यद्यपि ईश्वर की उपासना वेदान्तिक दृष्टि से अविद्या का ही रूप है, परन्तु अविद्या के द्वारा ही मनुष्य मरणत्व को पार करके अमरत्व लाभ कर सकता है।[1] इसलिए अविद्या रूप उपासना भी निर्विशेष ब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या की साधिका है। यहां यह उल्लेखनीय है कि उपासना विधि की उपादेयता मन्दबुद्धि साधकों के लिए ही है, उच्चसाधकों के लिए नहीं।

ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले सगुणोपासकों की मुक्ति

उपासना का फल चित्त की एकाग्रता है। सगुण ब्रह्म की उपासना चित्त की एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है, इस कथन का समर्थन करते हुए कल्पतरुकार अमलानन्द ने कहा है कि निर्विशेष परब्रह्म के साक्षात्कार करने में जो अल्पबुद्धि वाले लोग असमर्थ हैं, उन पर दया करते हुए ही आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया है। सगुण ब्रह्म के परिशीलन के द्वारा जब उपासकों का मन वशीभूत होता है तो वे सगुण ब्रह्म का ही, कल्पित उपाधि से विनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात्कारण न होकर परम्परया कारण

---

१. अवान्तरभेदेनोपादानविधिरपि, मन्दानुकम्पार्थमनन्यादरेण—रामाद्वयाचार्य : वेदान्त कौमुदी, पृ० २४१ (मद्रास संस्करण १९५५)।

देते हुए कहा है कि जिस प्रकार न्याय दर्शन में आत्मनिष्ठ सुखादिकों का, ज्ञान शरीर के सुखादिकों की अधिकरणता का अवच्छेदक होने से उपलब्ध होता है उसी प्रकार चैतन्य मात्र के सत्य रजत का अधिष्ठान न होने पर भी इदमवच्छिन्न चैतन्य के उसका (रजत का) अधिष्ठान होने से एवं 'इदम्' को उस रजत का अवच्छेदक होने से अध्यस्त रजत का पुरोदेशवर्ती संसर्गज्ञान सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकार ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि विषय चैतन्य (इदमवच्छिन्न) के अन्तःकरणउपहित साक्षि-चैतन्य के साथ अभिन्न होने से पुरोवर्तिविषयचैतन्य में भी अध्यस्त रजतादि वस्तुतः साक्षी में ही अध्यस्त हैं।

अध्यास के विभिन्न रूप

अध्यास के ही कारण जीव, पुत्र-स्त्री आदि की पूर्णता एवं अपूर्णता के होने पर (मैं ही पूर्ण और अपूर्ण हूं) इस प्रकार अनुभव करके बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार 'मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं गौरवर्ण वाला हूं' इत्यादि अनुभव करके आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास देखा जाता है। इन्द्रियधर्मों के अध्यास के द्वारा जीव 'मैं मूक हूं, मैं अन्धा हूं,' ऐसा अनुभव करता है।[1] इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय और निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास देखा जाता है। इसके अतिरिक्त 'मैं' इस ज्ञान के उत्पादक अन्तः करण का, अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास होता है।

अध्यास का महत्त्व

यद्यपि अध्यास परमार्थ सत् होने के कारण मिथ्या है, परन्तु मिथ्या होते हुए भी यह संसार के समस्त लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों का हेतु है। अध्यास के ही कारण विधि-निषेध-बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार अद्वैत दर्शन में अध्यास की महती उपयोगिता स्वीकार की गई है। शंकराचार्य ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस देह में आत्मभाव अध्यस्त नहीं है उस शरीर से कोई व्यापार नहीं किया जा सकता। इस अध्यास के अभाव में असंग आत्मा, प्रमाता नहीं बन सकता एवं आत्मा के प्रमातृत्व के अभाव में प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रों का अनुभवकर्ता अध्यासदृष्टि वाला पुरुष ही है। इसके अतिरिक्त पशु आदि के व्यवहार और शरीर, इन्द्रियादि अनात्मा से आत्मा भिन्न है, इस प्रकार का परोक्षज्ञान करने वाले विवेकियों के व्यवहार में कोई भेद नहीं मिलता। इस से भी यही सिद्ध होता है कि प्रमाण एवं शास्त्र व्यवस्था के आश्रय अविद्वान् ही हैं, क्योंकि उक्त प्रकार के विवेकी पुरुषों को आत्मा और अनात्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान होता है परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उनके और पशुओं के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता।[3] उदाहरण के लिए, जिस प्रकार किसी पशु को यदि प्रतिकूल शब्द सुनाई पड़ता है तो वह दूर हट जाता है और यदि अनुकूल शब्द सुनाई पड़ता है तो उस ओर प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार पुरुष भी उधर ही प्रवृत्त होते हैं, जिधर अनुकूल व्यवहार

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
३. रत्नप्रभा, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है।[१] परमहंसोपनिषद् में तो यहां तक कहा है कि संन्यास आश्रम को धारण करने वाला पुरुष यदि ज्ञान प्राप्त नहीं करता तो अज्ञानवश महारौरव आदि घोर नरकों को प्राप्त करता है।[२] अतः संन्यासग्रहण परमात्मसाक्षात्कार का अनिवार्य कारण नहीं है।

संन्यास ग्रहण की योग्यता के सम्बन्ध में भी विद्वानों के एकाधिक मत मिलते हैं। स्मृति वाक्य के आधार पर कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए ही ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की व्यवस्था है।[३] सुरेश्वराचार्य भी द्विजमात्र को संन्यास एवं श्रवणादि का अधिकारी बतलाते हैं।[४] परन्तु एक अन्य सम्मानित मत के अनुसार ब्राह्मण मात्र को ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकार है।[५] आज के शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी संन्यासियों द्वारा उक्त मत को ही महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार स्वीकार करने वाले विद्वानों का कथन है कि यद्यपि स्मृति में तीनों वर्णों के संन्यास की चर्चा है, परन्तु विरोधाधिकरणन्याय से उसी स्मृति के अर्थ का परिग्रहण करना चाहिए जो श्रुति से विरुद्ध नहीं है।[६] अतः श्रुति में कहीं भी ब्राह्मणेतर के लिए संन्यास की व्यवस्था न होने के कारण, वर्णत्रय के लिए संन्यास की व्यवस्था सिद्ध करने वाला स्मृति वाक्य श्रुति विरुद्ध होने के कारण अमान्य समझा जाएगा।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति का स्वरूप

वेदान्त दर्शन के सर्वोच्च प्रतिपाद्य मोक्ष का विवेचन उपनिषद् दर्शन से ही पूर्णतया मिलना आरम्भ हो जाता है, यह हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत देख चुके हैं। यह बात दूसरी है कि प्राचीन उपनिषदों में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति आदि विषयों का पूर्ण एवं स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। उपनिषत्कालिक मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास हमें शांकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आगे चलकर शंकराचार्यपरवर्ती सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों ने मुक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया था। इस स्थल पर शंकराचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दर्शन के आधार पर मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया जाएगा।

मुक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप

मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ छुटकारा पाना होना है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। वस्तुतः आत्मा सर्वदा

---

१. न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।—गीता ३।४।

२. काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
न याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्।—परमहंसोपनिषद्, 'ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषद्' पृ० १६६ (निर्णयसागर, बम्बई १९४८)।

३. ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः॥—सि० ले० सं०, द्वितीय परिच्छेद से उद्धृत।

४. बृ० भा० वा० पृ० ३५८-३५९।

५. अन्येतु ब्राह्मणस्यैव संन्यासो बहुधाश्रुतः।—वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मंजरी, ३।१२।

६. सि० ले० सं०, तृतीय परिच्छेद।

विकार रहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है, परन्तु अविद्यावश जीवकोटि में आने पर उसमें जगत् के सम्बन्ध में ममत्व-परत्व आदि अनेकानेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण जीव आत्मबोध करने में असमर्थ होता है। आत्म बोध न होने के कारण ही जीव जगत् की समस्त वस्तुओं से कोई सम्बन्ध न होने पर भी अविद्या के कारण अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या सम्बन्ध ही मिथ्या बन्धन का मूल है। जब बन्धन की मूलभूता इस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तभी जीव मुक्त कहलाता है। परन्तु बन्धन एवं मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मायिक ही है।[1]

शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्तविक्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयंज्योतिस्स्वभाव कहा है। शंकराचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीररहित स्थिति को शंकराचार्य ने मोक्ष कहा है।[2] वेदान्त दर्शन की मुक्ति आनन्द रूप है। वह न्याय दर्शन की तरह शुष्क नहीं है।

अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध

आत्मबोध का ही नाम मुक्ति है और अविद्या जीव की मुक्ति में बाधक है, यह विचार अभी व्यक्त किया जा चुका है अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में भी वेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। जैसा कि अप्पय दीक्षित ने ब्रह्मसिद्धिकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है, ब्रह्मसिद्धिकार के मतानुसार आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है।[3] चित्सुखाचार्य एवं विमुक्तात्मा भी उक्त मत के ही समर्थक हैं। इन आचार्यों ने अविद्या निवृत्ति को ब्रह्मज्ञान कहा है।[4] ब्रह्मसिद्धिकार के उक्त मत के सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि आलोचकों[5] का अप्पय दीक्षित पर यह आक्षेप उचित नहीं है कि ब्रह्मसिद्धि में आत्मसाक्षात्कार को अविद्या निवृत्ति कहा है, आत्मा को नहीं। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में आत्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं रहती। आनन्दबोधाचार्य अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय से भी विलक्षण मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में आनन्दबोधाचार्य का तर्क है कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य मानने पर अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती। अविद्यानिवृत्ति को असत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि असत् मानने से अविद्यानिवृत्ति में ज्ञानसाध्यत्व नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति को सदसत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सत् एवं असत्

---

१. मानसोल्लास २।५६ अड्यार मद्रास।,

२. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४।

३. अथ केयमविद्यानिवृत्तिः? आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः।

—सिद्धान्त लेश संग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।

४. Lights on Vedanta, p. 259.

५. वही, p. 258-259.

एक दूसरे के विरोधी हैं। आनन्द बोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वचनीयता भी अस्वीकार्य है। आचार्य का विचार है कि अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सादि-अनिर्वचनीय पदार्थों के प्रति अज्ञान के उपादान कारण होने से, अविद्यानिवृत्ति के अनिर्वचनीय मानने से अविद्या निवृत्ति की फलभूत मुक्ति में भी अपने उपादानकारण—अविद्या की अनुवृत्ति प्रसक्त होगी और इस प्रकार मुक्ति की स्थिति अनिष्पन्न ही रह जाएगी।[1] अतः आनन्दबोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत् और अनिर्वचनीय से विलक्षण किसी पंचम प्रकार का ही स्वीकार किया गया है।[2] इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ने भी अविद्यानिवृत्ति को किसी पंचम प्रकार का ही माना था। आनन्दबोधाचार्य के न्याय मकरन्द में अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वाच्य भी कहा गया हैं।[3] न्याय मकरन्द के टीकाकार चित्सुखाचार्य के अनुसार उक्त मत का लेखक आनन्द बोधाचार्य को ही सिद्ध किया गया है। परन्तु ऊपर हमने अविद्या निवृत्ति के सम्बन्ध में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार के अनुसार आनन्दबोधाचार्य के जिस मत का उल्लेख किया है उसके अनुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता का निराकरण हुआ है। यदि विचार कर देखा जाए तो उपर्युक्त दोनों मतों में कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। दोनों ही मत परमार्थ सत्य के समर्थक हैं। प्रकाशात्मा ने भी दोनों ही मतों का निरूपण एवं समर्थन किया था।[4]

मेरे विचार से अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय मानना ही तर्क संगत होगा, क्योंकि जब अविद्या ही अनिर्वचनीय है तो उसकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय मानी जाएगी। यदि शंका हो कि मुक्ति में भी अविद्यानिवृत्ति की अनुवृति होगी तो उसकी उपादानभूता अविद्या की भी अनुवृत्तिहोने से अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी, तो यह अनुचित है, कारण कि अज्ञाननिवृत्ति की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें उत्पत्ति नाम का एक भावरूप विकार है, जो केवल एक ही क्षण में (उत्पत्त्यवच्छिन्न काल) में ही रहता है। इसी प्रकार निवृत्ति (विनाश) भी पदार्थो का भावरूप धर्म ही है, जो निवृत्त्यवच्छिन्न काल में ही रहता है। उत्पत्ति और निवृत्ति, आद्य और विनाश काल के अतिरिक्त यदि अन्य काल में रहती होतीं तो चिरकालोत्पन्न घट में और चिरविनष्ट घट में 'उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' ऐसा व्यवहार हुआ होता। अतः अत्यन्त क्षणिक अविद्यानिवृत्ति की अनुवृत्ति मोक्ष काल में कदापि नहीं सिद्ध की जा सकती। अतः अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता उचित ही है।

जहां तक अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध का प्रश्न है, अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मबोध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति अपने गले में हार के रहते हुए भी विस्मृति के कारण हार को यत्र-तत्र खोजता फिरता है, परन्तु विस्मृति दूर होने पर उसे अपने गले में ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म जीव को नित्य प्राप्त होते हुए भी जीव के, अनादि अविद्या से आवृत्त होने के कारण अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। जब श्रवणादि के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को अपने आनन्दस्वरूप का बोध तत्क्षण हो जाता है।

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।
२. न्याय मकरंद, पृष्ठ ३५२ (चौखंबा संस्करण)।
३. न्याय मकरंद, पृष्ठ ३५७।
४. Light on Vedanta p. 257.

मुक्त पुरुष का व्यवहार

मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस समस्या पर विचार करना परमावश्यक है कि मुक्त पुरुष का प्रपंचमय जगत् के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। इस समस्या का समाधान करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपंच रूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि के द्वारा घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।[1] यदि मुक्ति प्राप्त होने पर जगत् का ही विनाश हो जाता तब तो एक व्यक्ति के मुक्त होने पर ही समस्त जगत् का विनाश हो गया होता।[2] अतः मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जीव की जगद्बुद्धि का ही विनाश होता है। बद्धावस्था में जो प्रपंचमय जगत् जीव को सत्य रूप से भासित होता है, मुक्तावस्था में उसका प्रपंच शान्त हो जाता है।[3] प्रपंच शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैतबुद्धि का भी विनाश हो जाता है।[4] तत्त्वबोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है—ब्रह्म हि भवति य एवं वेद।[5]

मुक्त पुरुष एवं बद्ध पुरुष के व्यवहार में यही अन्तर है कि मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर मिथ्याभिमान एवं भ्रमजन्य दुःखादि की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि दुःखाद्यनुभूति का कारण मिथ्याभिमान ही है। इसके विपरीत अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण ही बद्ध संसारी पुरुष को दुःखादि की अनुभूति होती है। मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जब परमेश्वर रूप रामादि को अनेक अवसरों पर अज्ञान एवं दुःखादि का अनुभव करते हुए देखा जाता है तो साधारण मुक्त पुरुषों में अज्ञान एवं दुःखादि की अनुभूति का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। उक्त शंका के सम्बन्ध में यह निवेद्य है कि ईश्वर रूप रामादि द्वारा किया गया अज्ञान एवं दुःखादि का अनुभव ईश्वर का नट के समान अभिनय मात्र है। लोक मर्यादा के लिए ही ईश्वर को इस अभिनय की आवश्यकता पड़ती है।[6] सुरेश्वराचार्य ने मुक्त पुरुष के व्यवार के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार निद्राभंग होने पर द्रष्टा स्वप्नदृष्ट पदार्थों को पुनः नहीं देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्यक् ज्ञान होने पर विश्व को नहीं देखता है।[7] ज्ञानी के विश्व को न देखने का यही तात्पर्य है कि उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं दृष्टिगोचर होती। ऐसे मुक्त पुरुष का लोक में जड़वद् व्यवहार देखा जाता है।[8] श्रुति में मुक्त पुरुष को चक्षु रहते हुए भी अचक्षु के समान और कर्ण होते हुए

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।४।
२. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।११।
३. माण्डूक्योपनिषद्, शा० भा०, १।३।
४. ज्ञाते द्वैतं न विद्यते, मा० का० १।१८।
५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२५।
६. सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।
७. निद्रावसितानवन्ति पश्यति यथोत्थितः।
सम्यग्ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति ॥—मानसोल्लास १।८।
८. नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् न चान्येनापृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥—वे० सि० मु० पृ० २५५ से उद्धृत।

भी अकर्ण[1] के समान कहा गया है। मुक्त के अचक्षु एवं अकर्ण होने का यह तात्पर्य है कि मुक्त पुरुष नेत्र एवं कर्ण रहते हुए भी किसी विषय को कामना से नहीं देखता और न सुनता है। इसीलिए जगत् के समस्त विषयों में ज्ञानी की अनासक्ति देखी जाती है। उपदेश साहस्री के अन्तर्गत शंकराचार्य ने आत्मवेत्ता जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त्यवस्था का अनुभव करते हुए द्वैत जगत् को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मक जगत् को देखता है तो उसे अद्वैत रूप ही समझता है तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष है।[2]

क्या मुक्त पुरुष का परलोकगमन सम्भव है ?

मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि क्या मुक्त पुरुष देहत्याग के पश्चात् किसी लोकान्तर की प्राप्ति करता है अथवा नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव की ब्रह्मात्मता सिद्ध होने पर उसका लोकान्तरगमन कदापि सम्भव नहीं है। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ते' (उस आत्मज्ञानी पुरुष के प्राण उत्क्रमण को नहीं प्राप्त होते) आदि श्रुति वाक्य भी उक्त सिद्धान्त के ही प्रतिपादक हैं। इस प्रकार आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष वर्तमान शरीर को त्याग कर लोकान्तर को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त सुख-दुःख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[3] इस विषय का विवेचन अभी जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के तुलनात्मक समीक्षण के अवसर पर किया जाएगा। मुक्त पुरुष के लोकान्तर-गमन के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' (ब्र० सू०, ४।३।७) सूत्र के अन्तर्गत बादरायण द्वारा उद्धृत आचार्य बादरि के मत की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सगुण ब्रह्म में गन्तव्यत्व की उपाधि होने के कारण उपासक ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है, परन्तु इसके विपरीत परब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करने वालों का प्रत्यगात्मा है।[4] ब्रह्म वेत्ता मुक्त पुरुष जब स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है और अद्वैत सत्य ब्रह्म के अतिरिक्त जब किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं देखी जाती तो फिर मुक्त के लोकान्तरगमन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

मूलतः, मुक्ति के अन्तर्गत भेद का निरूपण शांकर वेदान्त के प्रतिकूल है। शंकराचार्य ने मुक्तावस्था को एक रूप ही माना है।[5] अतः शांकर वेदान्त में मुक्ति सम्बन्धी जो भेद मिलते हैं, वे परिस्थिति के अनुसार किए गए भेद हैं। शांकर वेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति—ये दो भेद मिलते हैं। जीवन्मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्म

---

१. न चक्षुरचक्षुरिव सकर्णो अकर्णइव—वेदान्तसार ३५ से उद्धृत।
२. सुषुप्तवज्जाग्रतियो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्चयः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥ —उपदेशसाहस्री १०।१३
३. वेदान्त परिभाषा, परिच्छेद ८।
४. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।३।७।
५. वही, ३।४।५२।

बोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति, वेग का क्षय होने पर होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी जीवन धारण करना ही पड़ता है। शंकराचार्य ने जीवन्मुक्ति की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता, जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार मुक्तपुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले कर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना पड़ता है। यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। जब जीवन्मुक्त प्राणी का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त होने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और विदेह मुक्ति में प्राणी कर्मभोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, यही जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का प्रधान भेद है।

मुक्तात्माओं द्वारा, शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार

प्राचीन इतिहास में मुक्त आत्माओं के शरीर धारण करने की अनेक कथाएं मिलती हैं। अपान्तरतमा नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्णद्वैपायन रूप से जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के मानसपुत्र वशिष्ठ ने भी निमि के शाप से पूर्व देह का त्याग करके ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इन दृष्टान्तों के अनुसार अपान्तरतमा आदि लोक मर्यादा के अर्थ वेदप्रवर्तन आदि अधिकार में नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार 'अथ तत उर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० उ० ३।११।१) श्रुति वाक्य के अनुसार सूर्य सहस्रों युगों तक जगत् का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होने पर उदय और अस्त से रहित होने पर कैवल्य का अनुभव करता है, और जैसे आज भी ब्रह्मवेत्ता आरम्भभूति कर्मों के भोग के क्षीण होने पर कैवाल्यानुभूति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा तत्-तत् अधिकारों में नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य के हेतु—सम्यक् तत्त्वज्ञान के होने पर भी कर्मों के क्षीण न होने से, अधिकार पर्यन्त शरीर धारण करते हैं और कर्मों के क्षीण होने पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति करते हैं।[1] इस प्रकार ईश्वर रूप को प्राप्त अपान्तरतमा आदि को भी जब तक कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तब तक पुनः-पुनः शरीर धारण करना ही पड़ता है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का विवेचन करने से पूर्व इस महावाक्य के पदों के अर्थ का विवेचन करना उपयुक्त होगा। अतः यहां पहिले तत्त्वमसि महावाक्य के पदार्थ का निर्णय किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' के अन्तर्वर्ती पदों का अर्थ

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अन्तर्गत पहिला पद तत् है, जिसका वाच्यार्थ अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म-स्थूल शरीर की समष्टि, तदुपहित चैतन्य तथा एतदनुपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य)— इन सबका तप्तलोहपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना है। इसके अतिरिक्त 'तत्' शब्द का लक्ष्यार्थ—अज्ञानावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य का आधार भूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न रूप से अवभासित होना है।

'त्वम्' पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ—अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व चैतन्य और तदनुपहित चैतन्य, इन तीनों का तप्त लोहपिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एकरूप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त व्यष्टिभूत अज्ञानादि, तदुपहित जीवचैतन्य एवं इनका आधार भूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मक तुरीय चैतन्य, इन सबका भेद विवक्षा में पृथक्-पृथक् प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) तत् और त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार तत त्वम् पदों के अर्थ का निर्णय होने पर अब यहां 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ का प्रतिपादन किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' का लक्षणाप्रतिपाद्य अर्थ—'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' यह क्रमशः सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के बोधक हैं। इस प्रकार दोनों पदार्थों में स्पष्ट विरोध होने के कारण 'तत्त्वमसि' द्वारा अखण्डार्थ का बोध होना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु उक्त आपत्ति तत्त्वमसि का अभिधेयार्थ ग्रहण करने पर ही उत्पन्न होती है। लक्षणा द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ ग्रहण करने पर 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध स्वयं हो जाता है।

पंचदशीकार ने तत्त्वमसि के अन्तर्गत तत् एवं त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए पहिले तत् शब्द का लक्ष्यार्थ निश्चित करते हुए कहा है कि सृष्टि से पहिले नाम रूप से रहित जो सद् एवं अद्वैत वस्तु बतलाई गई है, सृष्टि निर्माण होने के पश्चात् वह सद् वस्तु अब भी वैसी ही अविरत है,—यही तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है। पंचदशीकार विद्यारण्य ने 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए कहा है कि 'त्वम्' पद लक्षणा के द्वारा श्रवणादि का अनुष्ठान करने वाले तथा महावाक्य के जिज्ञासु श्रोता के देहेन्द्रियातीत एवं तीनों देहों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) के साक्षी पदार्थ का बोधक है।[1]

यह कहना असंगत न होगा कि तत्त्वमसि महावाक्य का अखण्डार्थबोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि जहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा में से किस लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ का बोध होता है। उक्त तीनों लक्षणाओं के समी-

---

१. पंचदशी ५।५,६।

क्षात्मक विवेचन के द्वारा यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि किस लक्षणा के द्वारा तत्त्व-मसि के अखण्डार्थ का बोध संगत हो सकता है।

जहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहल्लक्षणा को ही जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जब पद अपने अर्थ का त्याग करके अन्य अर्थ का बोध कराता है तो वह जहल्लक्षणा कहलाती है। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोष) है उक्त उदाहरण के अन्तर्गत गंगा शब्द का मुख्यार्थ प्रवाह है। परन्तु प्रवाह में घोष का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसलिए गंगा शब्द अपने मुख्यार्थ-प्रवाह को त्याग कर सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तीर अर्थ का बोधक है। अतः 'गंगायां घोषः' स्पष्ट ही जहल्लक्षणा का उदाहरण है। जहां तक 'तत्त्वमसि' का प्रश्न है, यह महावाक्य उक्त रीति से जहल्लक्षणा का उदाहरण नहीं सिद्ध होता। तत्त्वमसि में जहल्लक्षणा न मानने का कारण यह है कि तत्त्वमसि के तत् एवं 'त्वम्' पद अपने मुख्यार्थ-चैतन्य का पूर्ण रूप से परित्याग नहीं करते, क्योंकि दोनों के चैतन्यांश में विरोध न होकर तत् के परोक्षत्व एवं त्वम् के अपरोक्षत्व का ही विरोध है। यदि कहा जाए कि अविरुद्ध चैतन्यरूप वाक्यार्थ को त्याग कर तो उक्त लक्षणा हो ही जाएगी तो यह अनुचित है, क्योंकि यदि 'तत्त्वमसि' के चैतन्यांश रूप वाक्यार्थ का त्याग कर दिया जाएगा तो तत्त्वमसि के द्वारा प्रतिपाद्य अखण्ड एवं चेतन ब्रह्म का बोध ही नहीं निष्पन्न हो सकेगा। एक दूसरा तर्क करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' के अन्तर्गत गंगा पद अपने अर्थ का त्याग करके तीर अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पद क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ और किंचिज्ज्ञ-त्वादिविशिष्टचैतन्य रूप अर्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा जीवचैतन्य का बोध कराएंगे। पूर्वपक्षी की उक्त शंका निराधार है, क्योंकि गंगायां घोषः में तो तीर पद न होने के कारण लक्षणा द्वारा गंगा शब्द का अर्थ तीर ग्रहण किया जाता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तो 'तत्' एवं 'त्वम् शब्द वर्तमान है, अतः इन पदों के द्वारा तत्-तत् अर्थों की प्रतीति स्वतः हो रही है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का बोध कराने का प्रयत्न व्यर्थ ही कहा जाएगा।[1] इसलिए 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध जहल्लक्षणा द्वारा कदापि संगत नहीं कहा जा सकता।

'त्वम्' पदों का अर्थ क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। अतः ये दोनों चैतन्यांश में अविरुद्ध होते हुए भी परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अर्थ में विरुद्ध ही हैं। अतः अजहत्स्वार्था लक्षणा मानने पर उक्त विरोध का परिहार न होने के कारण तत्वमसि के द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि अजहत्स्वार्था लक्षणा के अनुसार पदों के अपने अर्थ का त्याग न होने के कारण उक्त परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अर्थ का विरोध बना ही रहेगा।

तत्त्वमसि में पुनः अजहल्लक्षणा सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का विचार है कि 'तत्' पद 'त्वम्' पद से विरुद्ध अपने परोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं (तत् एवं त्वम् पदवर्ती) अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर त्वम् पद के अर्थ—किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट जीवचैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। उक्त प्रकार के अनुसार ही त्वम् पद तत् पद से विरुद्ध अपने अपरोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर तत् पद के अर्थ—सर्वसत्त्वादिविशिष्ट ईश्वरचैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। अजहल्लक्षणा के समर्थन में पूर्वपक्षी का उक्त तर्क संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक पद ('तत्' या 'त्वम्') लक्षणा द्वारा अपने परित्यक्त परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ को भी लक्षणा से सूचित करे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा द्वारा बोधित करे, यह असंगत है, क्योंकि अजहल्लक्षणा का जो उदाहरण 'शोणोधावति' हमने अभी दिया है, उसमें शोण पद अपने अर्थ—रक्त को भी बतलाए और लक्षणया नीलादि वर्णों का भी बोध कराए, यह असंगत है। इसके अतिरिक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों द्वारा अपने-अपने अर्थ की स्वतः प्रतीति होने के कारण लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण करना ही व्यर्थ है।[1]

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर अजहल्लक्षणा द्वारा भी 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थबोध की असंगति स्पष्ट ही है।

तत्त्वमसि और भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा

भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा उस स्थल पर होती है, जहां शब्द अपने कुछ अंश के अर्थ का त्याग कर कुछ अंश के अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत् (सः) शब्द का अर्थ है—तत्काल विशिष्ट देवदत्त और इदम् (अयम्) शब्द का अर्थ है—एतत्काल विशिष्ट देवदत्त। उक्त वाक्य के अन्तर्गत देवदत्तांश में कोई विरोध न होकर तत्कालीन और एतत्कालीन अंश में ही काल सम्बन्धी विरोध है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में विरुद्धांश का त्याग करके अविरुद्ध देवदत्तपिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि के अन्तर्गत भी तत् शब्द का अर्थ है—परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य—ब्रह्म और त्वम् पद का अर्थ है—अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य जीव। इस प्रकार इन दोनों पदों के चैतन्यांश में कोई विरोध न होकर केवल परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व में ही पारस्परिक विरोध है। अतः परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप विरुद्धांशों का त्याग जहल्लक्षणा द्वारा और तत् एवं त्वम् पद से अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य का बोध अजहल्लक्षणा द्वारा होकर, जहदजहल्लक्षणा द्वारा तत्त्वमसि से अखण्ड चैतन्य का बोध होता है।

---

1. एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च। —वेदान्तसार २६।

जहदजहल्लक्षणा द्वारा पदार्थ के कुछ अंश का त्याग एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिए इसे भागलक्षणा भी कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से तत्त्वमसि में लक्षणा होने पर सम्बन्धत्रय (समानाधिकरण सम्बन्ध, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध और लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्ध) के आधार पर अखण्डैकार्थ का प्रतिपादन करना है। अतः यहां तत्त्वमसि के सम्बन्ध में उक्त तीनों सम्बन्धों का विवेचन अपेक्षित है।

समानाधिकरण सम्बन्ध

जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यावबोध होता है वह सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ 'सोऽयंदेवदत्तः' इस उदाहरण में तत् (सः) पद का तत्काल-तद्देशविशिष्ट अर्थ है और इदम् (अयम्) शब्द का एतत्काल–एतद्देश विशिष्ट रूप अर्थ है। परन्तु उक्त दोनों पदों का तात्पर्य देवदत्तपिण्ड रूप एक ही अर्थ को प्रकट करना है। इसी प्रकार तत्त्वमसि में भी तत् एवं त्वम् पदों का परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट रूप अर्थ तथा किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हुए भी समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा एक ही अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का बोधक है। अतः समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा तत्त्वमसि से एक ही अखण्डार्थ ब्रह्म का प्रतिपादन होता है।

विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध

जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शब्द व्यावृत्त होता है उसे विशेष्य कहते हैं। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में अयंशब्दवाच्य एतत्काल–एतद्देशविशिष्ट देवदत्त 'सः' शब्द वाच्य तत्काल-तत् देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है, जब यह बोध होता है तो तत् शब्द 'इदम्' शब्द का विशेषण होता है और इदम् शब्द तत् शब्द का विशेष्य है। अतः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध से 'सोऽयं देवदत्तः' से यह वही देवदत्त है, यह बोध होता है और तत्काल-तत्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार तत् पद वाच्य तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्त 'इदम्' शब्द वाच्य एतत्काल–एतद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है अर्थात् 'वही वह देवदत्त है' जब इस प्रकार का बोध होता है तो इदं (अयम्) शब्द तत् (सः) शब्द का विशेषण होता है और (सः) शब्द विशेष्य होता है। इस प्रकार परस्पर भेद व्यावर्तक होने से स एवायम् (यह वही है) एवं 'अयमेवसः' (वह यही है) के रूप में सः और अयम् दोनों ही एक दूसरे के विशेषण एवं विशेष्य हो जाते हैं। इस प्रकार विशेषणविशेष्यसम्बन्ध के द्वारा देवदत्त रूप एक ही अर्थ का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जब यह बोध होता है कि 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्व-किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो तत् शब्द का अर्थ त्वम्पदार्थनिष्ठभेद का व्यावर्तक होने से विशेषण होता है और त्वम्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य होता है। इसी प्रकार जब यह बोध होता है कि तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो त्वम्पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने से विशेष्य है। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर तत् एवं त्वम् पदों के द्वारा चैतन्यरूप एक ही अर्थ का बोध होता है। तत् एवं

त्वम् पदों द्वारा एक ही अर्थ का बोध होने से 'वही तू है' और 'तू ही वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ के द्वारा जिस विरोध की प्रतीति होती है, उसका निराकरण उक्त विधि से लक्षणा मानने पर स्वयं हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती प्रभृति अद्वैत वेदान्त के अनेक विद्वानों ने तत्त्वमसि के अखण्डार्थ बोध के सम्बन्ध में जहदजहल्लक्षणा का ही समर्थन किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत

वेदान्तपरिभाषाकार ने स्वमतप्रतिपादन के सम्बन्ध में पहिले पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'आदित्यो यूप:' (यज्ञस्तम्भ सूर्यरूप है) तथा 'यजमानः प्रस्तर:' (यजमान दर्भमुष्टि स्वरूप है), इत्यादि वाक्यों में गौणरूप से यूप में आदित्य एवं दर्भमुष्टि में यजमान का व्यवहार होता है, उसी प्रकार जीव और परमात्मा का अभेद 'द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च', 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति 'आदि प्रमाणों से बाधित होने पर भी तत्त्वमसि इत्यादि में आदित्य एवं यूप तथा यजमान एव दर्भमुष्टि के परस्पर भेद की तरह तत् त्वम् पदों के अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी गौण रूप से अभेद का व्यवहार हो जाता है। पूर्वपक्षी के मत का निराकरण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं "त्वम्' पदों के विरोध की शान्ति गौणार्थव्यवस्था के बिना स्वीकार किए ही सम्भव है। इस विद्वान् का कथन है कि व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ वास्तविक अभेद का बोध कराने वाले 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का कुछ भी विरोध नहीं है। अपने मत की पुष्टि में वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि 'तत्वमसि' में तत् एवं त्वम् पदों के भेद के साक्षात्कार में प्रत्यक्षादि दोषपूर्ण होने की संभावना हो सकती है, परन्तु वैदिक प्रमाण के सर्वथा निर्दोष होने के कारण उसमें दोषों की संभावना नहीं की जा सकती। अतः वेदजन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों "का बाध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार तत् एवं त्वम् पदों का अभेद प्रतिपादन, वेद प्रतिपाद्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिपादित भेदप्रतिपादन की अपेक्षा प्रामाणिक होने के कारण स्वीकार्य है। यदि शास्त्र प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को बलवान् माना जाएगा, तब तो चन्द्रादि ग्रहों के अधिक परिमाण के ग्रहण करने वाले ज्योतिष् शास्त्र का, चन्द्रादि प्रदेश मात्र परिमाण दिखलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने लगेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शास्त्र प्रमाण को ही बलवान् माना जाना चाहिए। परन्तु पूर्वपक्षी की शंका है कि प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण का परस्पर उपजीव्योपजीवक भाव है। यदि शब्दप्रमाण को प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा बलवान् माना जाएगा तो उपजीव्योपजीवक भाव की स्थिति नहीं देखी जा सकती। पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि अग्निसंयोग से रक्त हुए घट में 'अयं रक्तोघटोन-श्यामः (यह रक्त घट श्याम नहीं है) इत्याकारक प्रतीति होती है। यहाँ वेदान्त परिभाषाकार[1] का कथन है कि 'सविशेषणेहि' न्यायनियम[2] के अनुसार जिस प्रकार पके हुए रक्त

---

१. वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

२. वेदान्त परिभाषाकार द्वारा निर्दिष्ट 'सविशेषणेहि' इस न्याय के अनुसार विशेषणविशिष्ट में प्रवृत्त होने वाले विधि-निषेध रूप वचनों का यदि विशेष्य भाग में बाध प्रतीत हो तो वह विधि-निषेध विशेषण भाग मात्र में प्रवृत्त होकर सान्त हो जाता है।

घट में 'सोऽयं घटोरक्तो न श्यामः' (वह यह घड़ा रक्त है, श्याम नहीं है) आदि स्थलों में श्यामता एवं रक्तता आदि धर्मों के भेद होने से भी धर्मी विशेष्य मात्र घटादि का अभेद होने से, उक्त वाक्य का केवल श्यामत्व एवं रक्तता आदि धर्म भेद ही में तात्पर्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार जीव एवं परमात्मा के भेद के साधक प्रत्यक्ष का भी, उसके (प्रत्यक्ष के) विशेषणीभूत अल्पज्ञत्व एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मों का अवगाहन करने वाला होने से अर्थात् 'नाहं ईश्वरः' इत्यादि प्रत्ययों का केवल विशेषण मात्र में उपक्षीण होने से, केवल विशेष्य भाग में अभेद के बोधक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थ के साथ कुछ विरोध नहीं है। अतः' मैं ईश्वर नहीं हूं' 'दुःखी हूं,' संसारी हूं इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर तत् एवं त्वम् पदार्थों की भेदयोजना अनुचित कही जाएगी।[1]

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप प्रत्यक्ष का निराकरण होने पर पूर्वपक्षी का यह कथन कि जीव और ईश्वर किंचिज्ज्ञत्वादि एवं सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त होने के कारण तथा प्रकाश एवं अन्धकार के समान विरुद्ध धर्मवाले होने के कारण परस्पर भिन्न हैं, इत्यादि अनुमान के अनुसार जीव एवं ईश्वर में परस्पर भेद होने के कारण तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों में भेद निश्चित है, यह अयुक्त है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा तो 'मेरुपाषाणमयः पर्वतत्वात् विन्ध्यादिवत्' (विन्ध्यादि के समान पर्वत होने के कारण सुमेरु पर्वत भी पाषाण युक्त है) आदि अनुमान भी प्रामाणिक कहलाएंगे, परन्तु उक्त अनुमानवाक्य आगमप्रमाण से बाधित होने के कारण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'जीवेश्वरौ परस्परभिन्नौ' आदि अनुमान वाक्य भी आगमबाधित होने के कारण अप्रामाणिक हैं। वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि आगमान्तर के साथ भी तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है,[2] क्योंकि तत्पर एवं अतत्पर वाक्यों में से तत्पर वाक्य के बलवान् होने के कारण 'तत्त्वमसि' में भेद के अनुवादक 'द्वासुपर्णा' इत्यादि आगम वाक्यों से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की ही प्रबलता है। क्योंकि उपक्रम उपसंहारादि षड्विध लिंगों के अनुरोध से अद्वैत में ही तात्पर्य निश्चित होता है[2] इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों के विरोध का परिहार जहदजहल्लक्षणा के द्वारा न करके उपर्युक्त तर्क-तथ्यों के आधार पर किया है।

---

१. विशेष देखिए—वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

२. अतएव च नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्। नाप्यागमान्तरविरोधः तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्यबलवत्वेनलोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्यतत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात्। —वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

रामानुजाचार्य (१०३७-११३७ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)

अन्य वेदान्तिक सिद्धान्तों के विपरीत रामानुजीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड जगत् ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गए हैं। जीव चित् एवं जड जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। कुछ समालोचकों ने, अद्वैत तत्व और दो विशिष्ट-कारण एवं कार्य की सत्ता के आधार पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का नामकरण किया है।[1] रामानुज दर्शन के अनुसार यद्यपि जीव तथा जगत् की स्वतन्त्र सत्ताएं स्वीकार की गई हैं, तथापि परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से भोक्ता—जीव एवं भोग्य—जगत् में स्थित रहता है।[2]

ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन

रामानुजीय वेदान्त दर्शन के अन्तगत ब्रह्म का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। ब्रह्म सम्बन्धी वर्णनों में ब्रह्म के आधार, नियन्ता, शासक एवं रक्षक, शेषी, प्रकारी, स्रष्टा एवं सुन्दर रूप के वर्णन प्रमुख हैं। यहां ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूपों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

ब्रह्म का आधार रूप—शांकर अद्वैत के अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के विपरीत आचार्य रामानुज ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् के बीच शरीर-शरीरी एवं आधाराधेय सम्बन्ध मानते हैं। इस सम्बन्ध के अनुरूप ब्रह्म शरीरी एवं चित् तथा अचित्—जीव-जगत् ब्रह्म के शरीर हैं। दूसरे शब्दों में शरीरी ब्रह्म, शरीर रूप—जीव तथा जगत् का आधार है तथा जीव एवं जगत् उस ब्रह्म के आधेय हैं। इस सम्बन्ध को ही रामानुज वेदान्त में शरीर—शरीरी सम्बन्ध तथा आधाराधेय सम्बन्ध कहा गया है। शरीर की परिभाषा करते हुए रामानुजाचार्य ने लिखा है कि वह द्रव्य, जिसकी, आत्मा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए रक्षा करता है तथा जिसे धारण करता है और जो आत्मा के अधीन रहता है उसे शरीर कहते हैं।[3] जिस प्रकार कि आत्मा सर्वात्मना शरीर को धारण करता है तथा उसपर नियमन करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव तथा जगत् को धारण करता है तथा उसका नियमन करता है। इस प्रकार चेतन जीव तथा अचेतन शरीर उस ब्रह्म के शरीर हैं।[4] ब्रह्म जब आत्मा रूप से जीव को धारण करता है तथा अन्तर्यामी रूप से उस पर शासन करते हुए स्वार्थ सिद्धि के लिए उसे उसी प्रकार कार्य में प्रवृत्त

---

१. The phrase विशिष्टाद्वैतम् is sometimes explained as the oneness or identity and the two Vishishta entities mentioned with text, as cause & effect. (Three great Acharyas p. 151. Footnote) G.A. Nateson and Co. Madras.

२. परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्।

—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १०८।

३. यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुम् धारयितुं च शक्यम् तच्छेषैकस्वरूपं च तत् तस्य शरीरम्। —श्रीभाष्य २।१।९।

४. सर्वस्य पुनरेत ''' सर्वं चेतनाचेतनं तच्छरीरं। —श्रीभाष्य। २।१।६।

करता है, जिस प्रकार कि जीव शरीर को धारण करता हुआ तथा उस पर नियन्त्रण करता हुआ अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है, तो ब्रह्म और जीव का यह सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ब्रह्म आधार एवं जगत् आधेय है। इस प्रकार शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को ही आधाराधेय-सम्बन्ध भी कहते हैं।

ब्रह्म का नियन्ता रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत आधार रूप ब्रह्म का वर्णन नियन्ता रूप से भी किया गया है। ब्रह्म के इस नियन्ता रूप का उल्लेख हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत उस स्थल पर स्पष्ट रूप से मिलता है जहां उद्दालक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि इस संसार का अन्तर्यामी नियन्ता एवं शासक कौन है—और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि जो परमात्मा समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता हुआ भी सबसे अलग रहता है और जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते परन्तु समस्त प्राणी जिसके शरीर हैं वही परमात्मा अन्तर्यामी रूप से समस्त प्राणियों का नियन्ता है।[१] इस कथन के अन्तर्गत परमात्मा के प्राणियों से पार्थक्य का यही आशय है कि वह प्राणियों के पाप-पुण्यों से अस्पृष्ट रहता है। नियन्ता परमात्मा पुरुषोत्तम रूप है। उसकी पुरुषोत्तमता यही है कि वह अपहत पाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिघित्स, तृष्णारहित, सत्यकाम एवं सत्य संकल्प है।[२] श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परम पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वह परम पुरुष अपाणिपाद होते हुए भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है तथा सर्वत्र वेगपूर्वक गमन करता है। वह परमात्मा नेत्रहीन होते हुए भी देखता है तथा अकर्ण होते हुए भी सुनता है। वह सब कुछ जानता है, परन्तु उसे कोई नहीं जानता।[३] वह परमात्मा ही प्राणियों का सर्वोच्च शासक है, जिसके प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक तथा पृथ्वी एवं समस्त संसार स्थिर रहता है। इसी प्रकार रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा को जगत् का नियन्ता कहा गया है। परमात्मा के नियन्ता रूप के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता स्थिति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के संकल्प के अधीन है। यही उस परमात्मा का नियाम्यत्व है।[४] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद में भी माया विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को अन्तर्यामी[५] एवं नियन्ता कहा गया है।[६]

ब्रह्म का शासक एवं रक्षक रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जहां चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को नियन्ता कहा है, वहां उसके शासक एवं रक्षक रूप का भी व्यवस्थित एवं तर्कप्रतिष्ठित वर्णन मिलता है। रामानुज का शासक ब्रह्म जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ फल का दाता है। यद्यपि ब्रह्म स्वभाव से परम कारुणिक है, परन्तु उसकी कारुणिकता का यह अर्थ कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वह पापी को दण्ड नहीं देता। वास्तविक दृष्टि से पापी को दण्ड देना भी उस पर कृपा ही करना है[७]। क्योंकि दण्ड भी पापी के लिए

कहा है कि जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करती है उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। दीपक के विस्तार एवं संकोच शील प्रकाश के समान ही जीव का ज्ञान भी विस्तार एवं संकोच से सम्पन्न है।

जीवों की संख्या अनन्त है। प्राणियों में सुख एवं दुःख का पृथक्-पृथक् विभाजन जीवों की अनन्तता का द्योतक है। यद्यपि जीव, जगत् में अनेक बार जन्म लेते हैं, परन्तु अनेक बार जन्म लेने पर भी उनके मूल रूप में परिवर्तन न होकर—बाह्य रूपों में ही परिवर्तन होता है।

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव को ज्ञाता कहा गया है। बन्धन एवं मुक्ति दोनों अवस्थाओं में, जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।[१] इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मानकर 'अंशांशि भाव का प्रतिपादन किया गया है। अंशाशि भाव के अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। जीव की अंशता से यह कदापि न ग्रहण करना चाहिए कि जीव ब्रह्म का कोई पृथक् कृत अंश है, क्योंकि ब्रह्म भेदों से रहित है।[२] जीवों के, ब्रह्म के विशेषण एवं 'प्रकार' होने के कारण ही उन्हें ब्रह्म का अंश कहा गया है।[३]

जीवों के भेद

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव के बद्ध, मुक्त एवं नित्य रूप से तीन भेद माने गए हैं।[४] जो जीव अज्ञान एवं स्वार्थ के कारण संसार में बार-बार जन्म लेते हैं वे बद्ध कहलाते हैं।[५] चतुर्दश भुवनों में रहने वाले ब्रह्मा आदि से लेकर कीट पर्यन्त जीव बद्ध कोटि में आते हैं। बद्ध जीव के ही देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर ये चार भेद हैं। कुछ एक विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों का एक भेद नित्यबद्ध भी मानते हैं। नित्यबद्ध वे जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फंसे रहते हैं।[६] जैसा कि ऊपर कहा है, दूसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। ये वे जीव हैं जो अपनी बुद्धि, गुणों एवं भक्ति के द्वारा संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के नित्य जीव वे जीव हैं जो भगवदभिमत आचरण के विरुद्ध कदापि व्यवहार नहीं करते। ऐसे जीवों के ज्ञान के संकोच का अवसर नहीं आता।[७] ये जीव कर्म एवं प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए वैकुण्ठ में निवास करते हैं। गरुड एवं विष्वक् सेन आदि जीव नित्य जीवों की कोटि में आते हैं।

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol II, p. 692.
२. श्रीभाष्य २।३।४२।
३. वही, २।३।४५।
४. सजीवस्त्रिविधः—बद्धमुक्तनित्यभेदात्। यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० ३२।
५. रहस्यत्रयसार ४।
६. तत्त्वमुक्ताकलाप २।२७, २८।
७. यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ ३६।

जगत्

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन अत्यन्त बलपूर्वक किया गया है। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के शरीर-शरीरी एवं विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के आधार पर जगत् को, ब्रह्म का शरीर एवं विशेषण होने के कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कि नील कमल का नीलत्व कमल से पृथक् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जगत् की सत्ता भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतः शांकर वेदान्त में जगत् को जिस व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत बतलाया गया है, रामानुजीय दर्शन में उसका वैपरीत्य है।[1] रामानुज दर्शन में अचित् जगत् भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार कि ब्रह्म और जीव। मूलतः, जगत्, ब्रह्म और जीव दोनों से भिन्न है परन्तु साथ ही साथ ब्रह्म का विशेषण एवं प्रकार होने के कारण जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है[2]। ब्रह्म की कार्यावस्था में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट रूप से स्थित ब्रह्म स्वेच्छा से, विचित्र शक्ति के योग से नामरूपात्मक जगत् एवं जीवों की सृष्टि करता है।

मुक्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन का मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त शांकर वेदान्त के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धांत से नितान्त भिन्न है। शांकर वेदान्त के अनुसार मुक्ति के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म की जिस एकता का विवेचन किया गया है उसका रामानुजदर्शनपद्धति से विरोध है। रामानुज दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को न प्राप्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।[3] इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन अभी रामानुजदर्शन का निरूपण करने के पश्चात् किया जाएगा। रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त जीव सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व को तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह ईश्वर की तरह सर्वकर्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं होता।[4] मुक्त जीव को स्वराट् कहने का यही आशय है कि वह संसार के कर्म बन्धन से मुक्त होता है।[5]

शांकरवेदान्त के विपरीत रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव की कोई कामना न होने के कारण उसे फिर संसार में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता।[6] इसीलिए रामानुज वेदान्त में विदेह मुक्ति का समर्थन किया गया है। मुक्तावस्था में जीवात्मा, यों तो अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है और स्रष्टा द्वारा यह अनेकों लोकों का आनन्द ले सकता है, परन्तु स्रष्टा ब्रह्म की अपेक्षा जीव में दो न्यूनताएं स्पष्ट रूप से मिलती हैं। एक तो यह कि जीव अणु है

---

१. *Radha Krishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 701.
२. *Ghate* : The Vedanta, p. 28.
३. ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्। —श्री भाष्य १।१।१।
४. एवं मुक्ताः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
कर्तृत्वमेवैकं नेश्वरेण विशिष्यते। —सर्वदर्शन संग्रह ४।८३ तथा देखिए श्रीभाष्य ४।४।१७।
५. मुक्त स्वराडिता—श्रीभाष्य १।१।१।
६. श्री भाष्य ४।४।२२।

और दूसरी यह कि जगत् की क्रियाओं के नियंत्रण की शक्ति जीव में नहीं होती। उक्त न्यूनताओं की पूर्ति ब्रह्म ही में मिलती है।[१]

विशिष्टाद्वैतदर्शन परम्परा के अनुसार मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो संसार और स्वर्ग में परमेश्वर के किंकर बने रहना चाहते हैं। इन जीवों का यह कैंकर्य ही मुक्ति है। दूसरे प्रकार के मुक्त जीव केवली कहलाते हैं, मुक्त जीवों का सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से नहीं होता। ये जीव अपने मुक्ति रूप लक्ष्य की प्राप्ति आत्मा के सतत चिन्तन द्वारा प्राप्त करता है।[२] प्रथम प्रकार के मुक्तों को कैंकर्य रस की उपलब्धि होती है और इससे उनमें निःस्वार्थ सेवा का भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत केवली मुक्तों को आत्मरतिरूप आनन्द की उपलब्धि होती है।[३]

मुक्तात्माओं को जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है वह साधारण जीवन से भिन्न नहीं है।[४] वेश-भूषा, रहन-सहन एवं रमणीक दृश्यों की सुसम्पन्न योजना वैकुण्ठ में साधारण जीवन की अपेक्षा विशिष्ट होती है। वैकुण्ठ में जीव संगीत भी सुनता है और कभी-कभी गूढ़ रहस्यों का विवेचन भी करता है। इस प्रकार वैकुण्ठ में भी जीव के कामना एवं विलासिता के जीवन का अन्त नहीं होता। इस प्रकार रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष परमात्मा द्वारा सृष्ट आनन्दमय पदार्थों का भोग करता है। (वे० सा० ४।४)

रामानुज दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन के अनुयायी विद्वानों का मत है कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक एकान्तिक भक्तियोग से भगवान् की उपलब्धि करता है।[५] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने तो मुक्ति में भक्ति को प्रधान कारण माना है।[६] भक्ति में भी पराप्रपत्ति का महत्त्व रामानुज दर्शन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। यामुनाचार्य के शब्दों में प्रपत्ति को प्राप्त भगवान् का भक्त न अपने आप को धर्मनिष्ठ मानता है, न आत्मवेत्ता और न भक्तिमान्। वह सदा अपने अकिंचनत्व एवं अनन्यगतित्व का ही भगवान् से निवेदन करता है।[७] प्रपत्ति को प्राप्त भक्त की दृष्टि में एकमात्र भगवान् ही उसका उद्धारकर्त्ता है।[८] इस प्रकार प्रपत्ति का अर्थ भक्त का सर्वात्मना भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण है। समर्पण भी निम्नलिखित

---

१. श्रीभाष्य ४।४।१३, १५।
२. *Radha Krishnan* : Indian Philosophy, p. 711.
३. *P. N. Shrinivasachari* : The Philosophy of Vishishtadvaita, page 489-490.
४. नारद पंचरात्र १।६।१३, १४, १५, १६, १७। (सुवर्ण प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, सन् १९०६)
५. बलदेव उपाध्याय —भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४७४।
६. वेदार्थ संग्रह, पृष्ठ १४५, १४७।
७. नधर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
   अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
   —यामुनाचार्य : आलवन्दार स्तोत्र २५।
८. रामानुजाचार्य, शरणागति गद्यम्, १२।

तीन भेद हैं[1]—

(१) फल समर्पण। (२) भारसमर्पण।। (३) स्वरूप समर्पण।

(१) **फल समर्पण**—फल समर्पण के अन्तर्गत भक्त का फल-त्याग आता है। फल का समर्पण करने वाला भक्त प्रपत्ति रूप साधन से किसी प्रकार के आत्मानन्द या आत्मसन्तोष की कामना नहीं करता। जहां ऐश्वर्य एवं कैवल्य के साधक स्वर्ग और आत्म-दर्शन की कामना करते हैं वहां प्रपत्ति का सच्चा अनुयायी यही समझता है कि अनन्यार्ह, शेष एवं पूर्ण परतन्त्र रूप में उसका आधार 'शेषी' परमात्मा ही है। प्रपत्ति पर आधारित भक्त अपनी सत्ता भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही समझता है। इस प्रकार प्रपत्ति में फल-समर्पण के द्वारा भक्त फल का पूर्णरूपेण त्याग कर देता है।

(२) **भार समर्पण**—भार समर्पण के द्वारा भक्त अपनी रक्षा का पूर्ण भार अपने ऊपर न रख कर पूर्णतया भगवान् को समर्पण कर देता है। प्रपत्ति के अनुसार आत्मरक्षा का भाव उस रक्षक में उत्पन्न होता है जो साध्य एवं साधन दोनों ही है, न कि प्रपन्न में। इसका कारण यह है कि प्रपन्न द्वारा पूर्ण समर्पण होने पर रक्षा एवं रक्ष्य का भेद नहीं रह जाता। भार-समर्पण मूलक प्रपत्ति और भक्ति योग में यह प्रमुख भेद है कि प्रपत्ति हृदय को कर्तव्य, प्रयत्न एवं पाप के भार से मुक्त कर देती है, जब कि भक्तियोग के अनुसार भक्त में सतत नैतिक प्रयत्न एवं आध्यात्मिक उत्कण्ठा तथा जागरण अपेक्षित होता है।[2] अतः प्रपत्ति-योग भक्ति-योग की अपेक्षा सरल है।

(३) **स्वरूप-समर्पण**—स्वरूप-समर्पण के द्वारा प्रपन्न अपने स्वरूप का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है। स्वरूप-समर्पण केवल अहंकार त्याग ही नहीं है, अपितु उसमें आत्म-समर्पण का भाव भी निहित है।

इस प्रकार प्रपत्ति भाव द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण का नाम है। परन्तु प्रपत्ति सम्बन्धी विवेचन के समय यह विचार करना भी अत्यन्त अपेक्षित है कि क्या प्रपत्ति में कर्मानुष्ठान की उपादेयता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं—

(१) **टेंकलई मत**—इस मत के प्रस्थापक श्री लोकाचार्य हैं। ये प्रपत्ति में कर्मों के अनुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। इनका विचार है कि प्रपत्ति के अन्तर्गत भक्त पर भगवान् की दया किसी कर्मादि हेतु पर नहीं आधारित होती। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि मार्जार शिशु जब अपनी मां (बिल्ली) की शरण में जाता है तो उसकी मां (बिल्ली) तुरन्त शिशु को मुंह में दबाकर यथास्थान पहुंचा देती है। अहिर्बुध्न्य[3] संहिता एवं शठकोपाचार्य[4] आदि की उक्तियों के अनुसार भी भक्त पर भगवान् की अकारण कृपा का ही उल्लेख है।

(२) **वडकलै मत**—वडकलै मत के प्रस्थापक आचार्य वेदान्तदेशिक हैं। इस मत के अन्तर्गत वेदान्त देशिक प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान को आवश्यक मानते हैं।

---

१. वेदान्तदेशिक, न्यासदशक, श्लोक २।
२. *Shrinivasachari* : The Philosophy of Vishishtadvaita, p. 392.
३. अहिर्बुध्न्य संहिता १७।२६।
४. श्रीवचनभूषण, पृष्ठ ६२७।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का विवेचन अभी ऊपर किया जा चुका है। अद्वैतवाद का निरूपण तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः यहां उसके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं समझते।

शंकराचार्य एवं रामानुज-वेदान्त की तुलना करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है —

Sankara and Ramanuja are the two great thinkers of the Vedanta, and the best qualities of each were defects of the other.[1]

डा० राधाकृष्णन के उपर्युक्त कथन के अनुसार शंकर और रामानुज दोनों वेदान्त के महान् विचारक हैं। इन दोनों में प्रत्येक के उत्तम गुण दूसरे के दोष है। विचार करने पर, यों तो दोनों ही दर्शन पद्धतियां अपने-अपने प्रकार एवं स्वरूप के अनुसार बड़े बलपूर्वक स्थापित की गई हैं, परन्तु फिर भी दोनों की कुछ न कुछ दुर्बलताएं अवश्य देखने को मिलती हैं। कहना न होगा कि शंकराचार्य का दर्शन यदि शुष्क तर्कपुष्ट होने के कारण धार्मिक आकर्षण से दूर है तो रामानुजाचार्य द्वारा की गई परलोकसम्बन्धिनी सुन्दर कथाएं विश्वास की भाजन नहीं बनतीं। इसके विपरीत शांकर वेदान्त की वह तर्कविद्या जो ईश्वर, जीव एवं जगत् को पूर्णब्रह्म का रूप देती है, रामानुज दर्शन में किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। जैसा कि रामानुज दर्शन की विवेचना के समय कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है, जबकि अद्वैती शंकराचार्य ने परमार्थतः ईश्वर, जीव एवं जगत की पृथक् सत्ता को न स्वीकार करके, एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की ही सत्ता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ यदि शांकर वेदान्त में बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए तर्क की सुन्दर योजना की गई है तो रामानुजीय दर्शन पद्धति में अपूर्व धार्मिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद को जो प्रतिष्ठा मिली है, वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को नहीं। धार्मिक दृष्टि से निःसन्देह रामानुज दर्शन की देन बेजोड़ है, परन्तु धर्म जीवन का प्रथम चरण है और दर्शन द्वितीय। धर्म साधन है, साध्य तो दर्शन ही है। समालोचक घाटे ने शांकर वेदान्त के विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार तो किया है परन्तु साथ ही साथ उन्होंने उस पर लोक सामान्य के अनुपयोगी होने का आरोप भी लगाया है। मेरे[2] विचार से जैसा कि घाटे महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है, शंकराचार्य द्वारा की-गई उपास्य-सगुण ब्रह्म की स्थापना शंकराचार्य के अध्यात्मदर्शन को पूर्णतया लोकसामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। परन्तु शंकराचार्य प्रतिपादित उपास्य ईश्वर की आलोचना करते हुए घाटे साहब ने उसे मिथ्या एवं गौण कहा है।[3] घाटे महोदय का उक्त मत समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शांकर वेदान्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। अतः मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में माया को ही मिथ्या कहा जा सकता है, न कि ब्रह्म रूप को। जहां तक कि ईश्वर को गौण सिद्ध करने की बात है, वह भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि शांकर वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर रूप से दो भिन्न तत्त्वों की स्थापना नहीं

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 720.
२. *Ghate* : The Vedanta, p. 20.
३. वही।

की गई है। यदि ऐसा हुआ होता तो अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि ही सम्भव न होती। अतः ब्रह्म एवं ईश्वर के मूलतः एक होने के कारण प्रधानत्व एवं गौणत्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जब साधक ब्रह्म रूपता को प्राप्त हो जाता है तो उसकी दृष्टि में ईश्वर एवं ब्रह्म का स्वरूप भेद नहीं रहता। अतः ईश्वर के सम्बन्ध में घाटे महोदय की गौणत्व की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती।

प्रायः समालोचकों ने रामानुजदर्शन के धार्मिक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया है।[१] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, धर्म जीवन का साधन मात्र है। दर्शन ही के द्वारा आत्म-दर्शन सम्भव है। अब यहां शंकराचार्य एवं रामानुजदर्शन के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलनात्मक रीति से विचार किया जाएगा। इससे दोनों महान् दार्शनिकों का सैद्धान्तिक अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्मतत्त्व की स्थापना शांकर एवं रामानुज-वेदान्त की उच्चतम निधि है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृद्-विभात एवं सर्वज्ञ है।[२] शांकर वेदान्त में ब्रह्म की सर्वज्ञता का आशय उसकी ज्ञानरूपता से है,[३] न कि उसके सर्वज्ञातृत्व से। रामानुजाचार्य का ब्रह्म उपर्युक्त शांकरवेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म से बहुत-सी बातों में भिन्न है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है।[४] रामानुज के ब्रह्म की कल्याणगुणसम्पन्नता एवं पुरुषोत्तमाभिधानता[५] शांकर वेदान्त के ब्रह्म से विपरीत है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म तो निर्गुण एवं निरभिधान है। यों, रामानुज भी ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, परन्तु उनकी निर्गुणता की परिभाषा शांकर वेदान्त की निर्गुणता की परिभाषा से भिन्न है। राणानुज का कथन है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है, इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है।[६]

रामानुज-वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को चिदचिद् विशेषणों से विशिष्ट कहना भी शांकर वेदान्त की ब्रह्मविषयिका विचारधारा से भिन्न है। जहां शांकर वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित होता हुआ अद्वैत सत्य रूप है, वहां रामानुजाचार्य का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों से शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त में मायोपाधिक ब्रह्म को ईश्वर तथा मायोपाधिरहित को ब्रह्म कहा गया है। इसके विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद नहीं है। रामानुज वेदान्त में जहां सगुण

---

१ *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 720.
२. गौ० का० ३।३६।
३. शां० भा०, गौ० का० ३।३६।
४. श्रीभाष्य १।१।१।
५. पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। —श्रीभाष्य १।१।१।
६. निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यन्ते। —श्रीभाष्य, पृ० ८३।

ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की नित्यता स्वीकार की गई है, वहां शांकर वेदान्त में जीव एवं जगत् की नित्यता का निराकरण कर इन्हें मिथ्या सिद्ध किया गया है। इस प्रकार जहां अद्वैत वेदान्त में एक मात्र ब्रह्म को ही नित्य पदार्थ माना है, वहां रामानुज दर्शन में ब्रह्म, जीव एवं जगत्, इन तीन नित्य पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त के ब्रह्मसम्बन्धी विचार में पर्याप्त अन्तर है। परन्तु ब्रह्म का सत्, चित् एवं आनन्द रूप दोनों दर्शन पद्धतियों में समान है।

जीव

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मैव जीवः स्वयम्, (विवेक चूडामणि, ३९५) कहकर जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध की गई है। जीव की जीवता तभी तक है, जब तक कि वह अविद्या से उपहित है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार शांकर वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता स्वयंसिद्ध है, परन्तु इसके विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में विचारित शेष-शेषीभावसम्बन्ध, प्रकार प्रकारी-भावसम्बन्ध, नियाम्य-नियामकभाव-सम्बन्ध एवं विशेषण विशेष्य भाव आदि सम्बन्ध दोनों की भिन्न स्थिति के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में ब्रह्म एवं जीव में अंशांशिभावसम्बन्ध माना गया है। अंशांशि-भाव को स्पष्ट करते हुए रामानुजाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि आदि आदित्यादि के, गोत्वादि गवादि के और देव-मनुष्य आदि शरीर, देही के अंश हैं, उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश है।[1] रामानुज दर्शन में अंशांशि भाव होने पर भी ब्रह्म एवं जीव में विशेषणविशेष्य-सम्बन्ध होने के कारण दोनों में स्वाभाविक वैलक्षण्य भी मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है।[3] जबकि शांकर वेदान्त में जीव 'ज्ञः' कहा गया है।[4] अपने ज्ञत्व के कारण ही जीव स्वयंज्ज्योतिस्वरूप कहलाता है।

शांकर वेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण कर उसे अणुसिद्ध किया है।[5] जीव के विभुत्व एवं अणुत्व के आधार पर ही दोनों दर्शनपद्धतियों का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवेदान्त के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, जबकि विशिष्टाद्वैतवेदान्त के अनुसार अणु जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादिलोकगमन एवं ऊर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।[6] इस प्रकार शांकरवेदान्त और रामानुज-वेदान्त की जीवसम्बन्धित विचार-धारा में मौलिक भेद हैं।

जगत्

शांकर वेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताओं द्वारा मिथ्यात्व की व्याख्या सदसद्विलक्षणत्व की जाने पर भी, इस दर्शन पर आलोचकों द्वारा पलायनवादिता का अनुचित आरोप लगाया गया है। शांकर वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता निःसंकोच स्वीकार की गई है, परन्तु रामानुजदर्शन में जगत् को मूलतया सत्य स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शन पद्धतियों की तुलना करते हुए घाटे महोदय लिखते हैं—

According to one, the world as we perceive it, is unreal, only an appearence superimposed through nescience on the real entity, i.e. Brahman, just like that of serpent superimposed on a rope. According to the other, the world, though inexplicable, is however, as real as the Brahman.[१]

घाटे साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार रज्जु में आरोपित सर्प के समान अज्ञान के कारण ब्रह्म में आरोपित जगत् के शांकरवेदान्तगत स्वरूप से रामानुजाचार्य प्रतिपादित जगत् का स्वरूप भिन्न है। रामानुज दर्शन के अनुसार जगत् अनिर्वचनीय होते हुए भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार कि ब्रह्म। फिर जैसा कि रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय कहा जा चुका है, रामानुज-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं जगत् का शरीर-शरीरी-सम्बन्ध भी शांकर वेदान्त के पूर्ण विपरीत है।

शांकर वेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज-दर्शन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अधिष्ठानवाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास या अविद्या रूप है। जबकि रामानुज-वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को पूर्णतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद सिद्धान्त के विरोध में रामानुज ने जो आक्षेप लगाये हैं उनकी समीक्षा अभी आगे की जायेगी।

शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण न ब्रह्म का कार्य है और न परिणाम। शांकर वेदान्त में तो जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य न होकर मायिक एवं मिथ्या प्रतीतिमात्र का फल है। कार्य-कारण-सम्बन्धी उक्त विचार के कारण ही शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के ख्याति सम्बन्धी विचार में भी अन्तर है। रामानुज सत्ख्यातिवादी है और आचार्य शंकर अनिर्वचनीयख्यातिवादी। सत्ख्याति-वादी रामानुज के अनुसार शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति असत्ख्यातिवादी बौद्ध की तरह असत् अथवा शांकरवेदान्ती की तरह अनिर्वचनीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अन्तर्गत शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर मिलता है।

मुक्ति का विचार

रामानुज-दर्शन की मुक्तिविषयक विचारणा के अवसर पर अभी पीछे रामानुज एवं शांकर वेदान्त की मुक्ति से सम्बन्धित अन्तर का संकेत किया गया था। निश्चय ही, दोनों की मुक्तिविषयक विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया के फलस्वरूप मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा-प्राप्ति का नाम है। जब जीव की अविद्या निवृत्त हो जाती है तो वह ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त होता है। शांकर वेदान्त के इस दृष्टिकोण से रामानुज का मौलिक विरोध है। रामानुज के मतानुसार मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुजाचार्य का विचार है कि मुक्त जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, न कि स्वरूपैक्य को। (श्रीभाष्य १।१।१) इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में जहां मुक्त जीव का चन्द्रादिलोकगमन संगत है,[१] वहां शांकर वेदान्त में ब्रह्मभावापन्न मुक्त जीव की परलोकादिगमनशीलता का पूर्णतया निराकरण किया गया हैं।[२]

शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के मुक्ति सम्बन्धी विचार का यह अन्तर और विचार्य है कि जहां शंकराचार्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों के समर्थक हैं, वहां रामानुजाचार्य के मतानुसार केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया गया है।[३] रामानुजाचार्य का सिद्धांत है कि जब जीव को परब्रह्म का अनुभव हो जाता है तो फिर उसे शरीरग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[४] परन्तु शांकर वेदान्त के अनुसार अविद्या निवृत्ति के फलस्वरूप आत्मबोध होने पर जीव को तब तक शरीर धारण करना ही पड़ता है, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। यहां तक कि अपान्तरतमा आदि को भी अक्षीण कर्मों के भोग के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता था। इस प्रकार शांकर वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया गया है।

---

१. श्रीभाष्य ४।३।२०।

२. ब्र० सू०, शां० भा० ४।३।७।

३. For Ramanuja there is no Jivanmukti.

—*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 710.

४. श्रीभाष्य ४।४।२०।

तत्त्वमसि

शांकर-वेदान्त और रामानुज-वेदान्त की, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की समन्वय दिशा में भी भेद है। शांकरवेदान्तानुगत 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन पंचम अध्याय के अन्तर्गत विस्तृत रूप में किया जा चुका है। शांकर वेदान्त के अनुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा द्वारा जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शांकर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। आचार्य रामानुज के मतानुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत्कारणरूप ब्रह्म का बोधक है और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का।[1]

अचिद्विशिष्ट जीव शरीरक ब्रह्म रामानुज के वेदान्त का अन्तर्यामी ब्रह्म है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीवात्मा के वाचक 'तत्त्वमसि, आदि महावाक्यों के अन्तर्वर्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान है। इसीलिए तो परमात्मा के द्वारा 'मामेवविजानीहि' (मुझ ही को जानो) और 'मामुपासस्व' (मेरी उपासना करो) का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार वामदेव का यह कथन कि 'मैं ही मनु हूं' और 'मैं ही सूर्य हूं' परमात्मा के अन्तर्यामित्व का ही सूचक है।[2] अनन्त ब्रह्म के सर्वगत एवं अन्तर्यामी होने के कारण प्रत्येक जीव में उसकी सत्ता देखी जा सकती है। अतः प्रत्येक जीव प्रह्लाद की तरह यह कह सकता है कि अनन्त परमात्मा के सर्वगत होने के कारण मैं उस परमात्मा का ही रूप हूं, मुझ से सारा संसार उत्पन्न हुआ है, मैं सब कुछ हूं और मुझ सनातन में सब कुछ स्थित है।[3]

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दृष्टि से विचार करते हुए 'तत्' पदबोध्य, जगत्कारणब्रह्म एवं त्वम्पदबोध्य अन्तर्यामी ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया है।

मायासम्बन्धी दृष्टिकोण

यों तो, शांकर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त, दोनों ही दर्शनपद्धतियों में माया की चर्चा मिलती है, परन्तु दोनों का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। शांकर वेदान्त का तो प्रासाद ही मायावाद पर आधारित है। क्योंकि मायावाद को स्वीकार किए बिना अद्वैतवाद की सिद्धि ही असम्भव है। शांकर वेदान्त के अनुसार माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है।[4] परमेश्वर की यह माया शक्ति सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। इन्होंने माया शब्द को आश्चर्य अर्थ का बोधक

---

१. तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेन तदर्थाभिधायित्वात्। —श्रीभाष्य २।३।४५।

२. श्रीभाष्य १।१।३१।

३. सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥ —विष्णुपुराण १।१९।८५।

४. शा० भा०, श्वे० उ० ४।१०।

माना है।[1] इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने एक स्थल पर माया शब्द का अर्थ कूटयुक्ति भी किया है।[2] अतः निश्चित ही मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व की बोधक शांकर वेदान्त की मायासम्बन्धीविचारधारा से रामानुज का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न है। दोनों दर्शन पद्धतियों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में भेद का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मायावाद की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ने जहां जगत् के मिथ्यात्व का विचार प्रस्तुत किया था, वहां रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण की विरोधिनी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जगत् को सत्य सिद्ध किया था। इतना ही नहीं, रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ आक्षेप भी लगाये थे। यहां इन आक्षेपों का उल्लेख एवं समीक्षण उपयुक्त होगा। रामानुजाचार्य के यह आक्षेप रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत सात अनुपपत्तियों के रूप में मिलते हैं। यहां सातों अनुपपत्तियों के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के मायावाद विरोधी आक्षेपों का निरूपण एवं समीक्षा की जाएगी।

१. आश्रयानुपपत्ति

शांकर वेदान्त के अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए रामानुजाचार्य का कथन है कि अविद्या का आश्रय अनुपपन्न है। अतः निराधार अविद्या की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती। रामानुजाचार्य का तर्क है कि जीव एवं ब्रह्म दोनों ही अविद्या के आश्रय नहीं सिद्ध किये जा सकते। जीव तो अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वह स्वयं अविद्याकल्पित है और ब्रह्म अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान स्वरूप होने के कारण अविद्या का विरोधी है।[3] इसप्रकार रामानुजाचार्य का तर्क है कि अविद्या न ब्रह्माश्रित कही जा सकती है और न जीवाश्रित।

समीक्षा—डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने रामानुजाचार्य के उपर्युक्त आक्षेप की समालोचना करते हुए निम्नलिखित दो दोष बतलाए हैं—

(१) आश्रयानुपपत्ति के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के तर्क का पहला दोष तो यह है कि वे अविद्या को सत् पदार्थ मानकर उसके आश्रय का अन्वेषण करते हैं, जब कि अविद्या सत् न होकर असत् है। अविद्या विद्या का अभाव एवं आवरण है। इस सम्बन्ध में डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार उपाधियों में ब्रह्म की सत्ता एवं चैतन्य भाव छिपा रहता है।[4]

आलोचना—तर्क की कसौटी पर प्रभुदत्त जी का उपर्युक्त मत खरा नहीं उतरता। जैसा कि प्रभुदत्त जी का कथन है, यदि अविद्या को विद्या का अभाव माना जाएगा तो अविद्या आवरण शक्ति का कार्य भी किस प्रकार कर सकती है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी के कथन के विपरीत शांकर वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या या अज्ञान को अभाव रूप न मानकर भाव-

रूप माना गया है।[१]

(२) डा० प्रभुदत्त जी के अनुसार रामानुजाचार्य के तर्क का दूसरा दोष यह है कि वे ब्रह्म एवं जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म एवं जीव की भेदव्यवस्था का निराकरण करते हुए डा० प्रभुदत्त जी का कथन है कि उपाधि के कारण ही ब्रह्म और जीव की भेद व्यवस्था सम्भव है। जहां तक अविद्या के आश्रय का प्रश्न है, मन और इन्द्रियों की उपाधियां ही अविद्या की आश्रय हैं।[२]

आलोचना—प्रथम मत के समान ही डा० प्रभुदत्त जी का दूसरा मत भी दोष पूर्ण है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, डा० प्रभुदत्त जी ने जीव एवं ब्रह्म के भेद का निराकरण किया है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थ दृष्टि से अभेद होते हुए भी अविद्योपाधि के कारण जीव एवं ब्रह्म का भेद देखने में आता है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी का, मन और इन्द्रियों की उपाधियों को अविद्या का आश्रय कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि मन और इन्द्रियोंकी उपाधियां भी अविद्या रूप ही हैं। इस प्रकार डा० प्रभुदत्तजी ने रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे अप्रामाणिक एवं अयुक्त हैं। परन्तु डा० प्रभुदत्त जी के तर्कों की अयुक्ति से हमारा तात्पर्य रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति को युक्ति-युक्त कहना कदापि नहीं है।

रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध एवं आश्रयोपपत्ति के समर्थन में यह कहा जाएगा कि अविद्या जीवाश्रया है। यदि कहा जाए कि अविद्या को जीवाश्रया मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि अविद्या एवं जीव का सम्बन्ध अनादि है।[३] इस प्रकार जीव एवं अविद्या का अनादिसम्बन्ध होने के कारण रामानुजाचार्य का यह कथन उचित नहीं है कि जीव को अविद्या द्वारा कल्पित होने के कारण अविद्या का आश्रय नहीं कहा जा सकता। दोनों के अनादि होने के कारण अविद्या जीवाश्रया है और जीव अविद्याश्रय।

विवरणकार का मत

विवरण प्रस्थान के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव न होकर ब्रह्म है। इस मत के अनुसार अविद्या स्वरूपज्ञान की उपाधि एवं अविरोधिनी है।[४] अतः रामानुजाचार्य का ब्रह्म एवं अविद्या में विरोध देखना समुचित नहीं है। रामानुजाचार्य द्वारा तर्कित ब्रह्म एवं अविद्या के विरोध के सम्बन्ध में यह कहना और युक्ति-युक्त होगा कि ब्रह्मज्ञान, अज्ञान या अविद्या का निवर्तक नहीं है, अपितु अखण्डाकारवृत्ति ही अज्ञान की निवर्तक है। अतः ब्रह्म ज्ञान एवं अविद्या में विरोध मानना असंगत है।

---

१. वेदान्त सार ६।

२. *P. D. Shastri* : The Doctrine of Maya, p. 122.

३. अविद्येयं जीवाश्रया। न चान्योऽन्याश्रयः, अनादित्वादविद्या-जीवतत्सम्बन्धानाम्।
—अनन्तकृष्ण शास्त्री : अद्वैत तत्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट, पृ० १७१)।

४. विवरण प्रस्थाने त्वविद्या ब्रह्माश्रया। सा हि स्वरूपज्ञानोपाधिः, तदविरोधिनी च।
—वही, पृष्ठ १

२. ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति

ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति को ही तिरोधनानुपपत्ति भी कहते हैं। मायावाद सिद्धान्त के अन्तर्गत अविद्या की आवरण शक्ति का निरूपण किया गया है। अविद्या की आवरण शक्ति के कारण ही जीव ब्रह्म बोध करने में असमर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने मायावाद सिद्धान्त के उक्त तर्क का निराकरण करते हुए कहा है कि यदि अविद्या के द्वारा प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान समझा जाएगा, तो इससे तो ब्रह्म का स्वरूपनाश ही सिद्ध होगा। उक्त तथ्य के समर्थन में श्रीभाष्यकार का कथन है कि प्रकाश के तिरोधान से प्रकाशोत्पत्ति के प्रतिबन्ध एवं विद्यमान प्रकाश के विनाश का आशय ग्रहण किया जाता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानरूप प्रकाश के अनुत्पाद्य होने के कारण प्रकाशतिरोधान का आशय प्रकाशनाश ही समझा जाएगा।[1] अतः प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान या आवरण मानने से तो ब्रह्म के स्वरूप का नाश ही सिद्ध होगा, जो अनभिप्रेत है।

समीक्षा—ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति के समर्थन में रामानुजाचार्य का यह तर्क समीचीन नहीं है कि अविद्या के द्वारा प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान मानने से ब्रह्म का स्वरूपनाश ही हो जाएगा। अविद्या का आवरण प्रकाश का नाशक न होकर प्रकाश का प्रतिबन्धक ही है। आत्मबोध होनेपर प्रकाश के प्रतिबन्धक अज्ञान की ही निवृत्ति होती है न कि स्वरूपज्ञान की[2]। जिस प्रकार घट से आवृत दीपक पर दण्डपात होने से घटावरण मात्र की निवृत्ति होती है, न कि दीपक की, उसी प्रकार आत्म बोध होने पर अविद्यावरण की ही निवृत्ति सम्भव है, न कि स्वरूपज्ञान की। अतः अविद्या के आवरण द्वारा रामानुज द्वारा की गई स्वरूपज्ञान के विनाश की कल्पना निरर्थक ही कही जाएगी। इस प्रकार रामानुजाचार्य की ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति की गुत्थ अनिष्पन्न ही है।

प्रकार ख्यातिवाद की अनुपपत्ति ही अनिर्वचनीय अविद्या में प्रमाण है।[1] ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की तिरोधानकर्त्री, अनेक प्रकार के अध्यासों की उपादानभूता, अज्ञानादिपदवाच्या, भावरूप एवं प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध अनिर्वचनीय अविद्या के स्वीकार कर लेने पर उससे उत्पन्न समस्त जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध ही है। सदसद्विलक्षणत्व लक्षणवाली अनिर्वचनीयता प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। अनिर्वचनीय अज्ञान के आवरण के बिना ब्रह्म की जगदुपादानता एवं सर्वप्रपंच की अधिष्ठानता सिद्ध नहीं होती।[2]

५. प्रमाणानुपपत्ति

सदसद्विलक्षणत्वसम्पन्न अनिर्वचनीयता का निराकरण करते हुए रामानुजाचार्य ने अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध बतलाया है। श्री भाष्यकार का विचार है कि सदसद्विलक्षण वस्तु में कोई प्रमाण नहीं है।[3]

समीक्षा—अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति की समीक्षा करते समय हम अनिर्वचनीय अविद्या की प्रामाणिकता का उल्लेख कर चुके है। अनिर्वचनीय अविद्या अर्थापत्ति एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। सदसद्विलक्षण एवं अनिर्वचनीय वस्तुओं का स्वरूप पारमार्थिक सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही प्रत्यक्ष का विषय है। इसीलिए शंकराचार्य ने जगत् के उपादान एवं अनिर्वचनीय अध्यास को लोकप्रत्यक्ष का विषय कहा है।[4] इस प्रकार अनिर्वचनीय वस्तुओं की प्रमाणोपपत्ति स्पष्ट ही सिद्ध है।

६. निवर्तकानुपपत्ति

रामानुजाचार्य ने अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के अज्ञाननिवर्तकत्व को अनुपपन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। रामानुजाचार्य का कथन है कि अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त कि श्रुति के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, अयुक्त है। अपने कथन की पुष्टि में रामानुजाचार्य का तर्क है कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' आदि वाक्य निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के विरोधी हैं। श्रीभाष्यकार का कथन है कि ब्रह्म के सगुण होने के कारण समस्त श्रुतिवाक्य सगुण ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं।[5] इसके अतिरिक्त तत्त्वमसि आदि महावाक्य भी आचार्य रामानुज के मतानुसार सगुण ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। रामानुजाचार्य के मतानुसार तत्त्वमसि का निरूपण इसी अध्याय में पीछे किया जा चुका है।

समीक्षा—आचार्य रामानुज ने निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञान के विरोध में जिन 'वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तम्' (श्वे० उ० ३।८) आदि श्रुतियों को उद्धृत किया है, वे वाच्यार्थ या अनुवाद मात्र की दृष्टि

से ही सगुण ब्रह्म के समर्थक हैं, परन्तु उनका लक्ष्य परमात्मा को अविद्यारूप अन्धकार से सर्वथा अतीत कहना एवं स्वप्रकाश स्वरूप चित् तत्व के बोध की ओर संकेत करना ही है। इस प्रकार 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' के अन्तर्गत 'तमसः परस्तात्' से परमात्मा की अविद्या से अतीत होने का अभिप्राय है और आदित्यवर्णता से स्वप्रकाश स्वरूप संवित्मात्रता का। इसी प्रकार श्रीभाष्यकार द्वारा उद्धृत अन्य वाक्यों का भी अद्वैत वेदान्त के जीवब्रह्मैक्य सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं कहा जा सकता।[1] यों तो, अद्वैत वेदान्त में भी पर एवं अपर ब्रह्म के रूप में निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार से ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च प्रतिपाद्य बतलाया गया है। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अध्यास रूप अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अतः रामानुजाचार्य का निवर्तकानुपपत्ति का सिद्धान्त पुष्टतर्काधारित नहीं कहा जा सकता।

७. निवृत्यनुपपत्ति

जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य से होने वाली अद्वैतवेदान्तानुगत अविद्यानिवृत्ति को श्री-भाष्यकार रामानुजाचार्य ने अयुक्त बतलाया है। रामानुजाचार्य ने अविद्या निवृत्ति को अनुपपन्न सिद्ध किया है। रामानुजाचार्य का तर्क है कि बन्धन पारमार्थिक है, इसलिए उसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा कदापि सम्भव नहीं है।[2] विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि पुण्यापुण्य कर्मों के निमित्त स्वरूप देवादि के शरीर में प्रवेश करने से होने वाले सुख-दुःखानुभव रूप बन्धन का मिथ्यात्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इस बन्धन की निवृत्ति तो भक्तिरूपापन्न उपासना से तुष्ट परमपुरुष के अनुग्रह से ही सम्भव है। अतः जीव एवं ब्रह्म के एकत्व के द्वारा अद्वैत वेदान्त में जो अविद्यानिवृत्ति का विवेचन किया गया है, वह असंगत है।

समीक्षा—सूक्ष्मतया विचार करने पर रामानुजाचार्य का निवृत्यनुपपत्ति का तर्क पूर्णतया असंगत प्रतीत होता है। जैसा कि रामानुजाचार्य के मत का उल्लेख करते समय ऊपर कहा जा चुका है, यदि बन्धन के परमार्थिक होने के कारण जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्ति असम्भव होगी तो फिर श्रीभाष्यकार के मतानुसार ही अविद्यानिवृत्ति का कौन उपाय होगा। यदि उपासना मात्र से अविद्याबन्धन की निवृत्ति मानी जाएगी तो फिर अविद्याबन्धन की पारमार्थिकता का ही क्या आशय होगा। यदि कहा जाए कि अविद्या बन्धन की निवृत्ति होने पर भी बन्धन शेष रह जाएगा तो संसार दशा एवं मुक्तिदशा में अन्तर ही क्या रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि अज्ञाननिवृत्यनुपपत्ति का समर्थक कहे कि निवृत्ति से केवल निवृत्त की अबन्धकता से अभिप्राय है तो यह भी अनुचित है, क्योंकि ऐसी निवृत्ति का आशय एवं उद्देश्य अस्पष्ट है। अतः रामानुजाचार्य द्वारा निवृत्यनुपपत्ति के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं, वे निराधार हैं।

श्रीभाष्यकार का बन्धन को पारमार्थिक कहना भी अनौचित्यपूर्ण ही है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' आदि श्रुतिवाक्य अविद्याजन्य नानात्वमय बन्धन की अपारमार्थिकता के ही द्योतक हैं। जिन जिज्ञासुओं को परमार्थतत्व का ज्ञान होता है, वे अविद्याजन्य द्वैतबन्धन से

---

१. अद्वैतानन्दसुधा (प्रथम सम्पुट), पृष्ठ २०६।
२. बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्। —श्रीभाष्य १।१।१।

पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। अतः अविद्यावन्धन को पारमार्थिक कहना, स्पष्ट ही अन्यायपूर्ण है। आश्चर्य तो यह है कि श्रीभाष्यकार को बन्धन के मिथ्यात्व के स्वीकार करने में आपत्ति है। निवृत्ति, अविद्या और उससे उत्पन्न बन्धन के बाध का नाम है। रज्जु एवं सर्प के उदाहरण में रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प रूप मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाता है। यही बात सर्पादि के मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न भयादि बन्धन की निवृत्ति करता है। यदि सर्पादि का ज्ञान मिथ्या न होता तो उससे उत्पन्न भयादि बन्धन की निवृत्ति ही कैसे सम्भव होती। अतः श्रीभाष्यकार का, अविद्याजन्यबन्धन के मिथ्यात्व में संशय करना, संगतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रज्जु एवं सर्प के उदाहरण के अनुसार ही ब्रह्म एवं जीव के एकत्व ज्ञान के द्वारा अविद्या एवं उससे जन्य नानात्वरूप मिथ्या ज्ञान का बाध हो जाता है और तत्फलस्वरूप मिथ्याज्ञानोत्पन्न अनेक ममत्व—परत्वादि बन्धनों की भी निवृत्ति हो जाती है। अतः आविद्यिक बन्धन के मिथ्यात्व में संशय करना नितान्त निर्मूल है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शांकर मायावाद के विरोध में उपर्युक्त जिन सप्तविध अनुपपत्तियों का उल्लेख किया है, वे पूर्णतया असिद्ध हैं।

निम्बार्क दर्शन (११वीं शताब्दी) का स्वरूप

एगेलिंग प्रभृति कुछ पश्चिमी विद्वानों ने तो निम्बार्काचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य—वेदान्त-पारिजातसौरभ एवं भास्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य की कतिपय समानताओं के आधार पर भास्कराचार्य, निम्बार्काचार्य का ही दूसरा नाम बतलाया है। इस प्रकार दोनों भाष्यों की समानता के आधार पर एगेलिंग ने निम्बार्काचार्य एवं भास्कराचार्य को एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] परन्तु अब दोनों भाष्यों के सिद्धान्तों के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा दोनों के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट हो गया है।

निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद है। यहां द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त

रामानुजाचार्य के मतानुसार निम्बार्क-दर्शन में भी चित्, अचित् एवं ईश्वर रूप से तीन तत्त्व माने गए हैं। चित् तत्त्व जीव एवं अचित् तत्त्व जगत् का बोधक है। परन्तु निम्बार्कदर्शन के चित् एवं अचित् तत्त्व रामानुजाचार्य की तरह ईश्वर के विशेषण नहीं हैं। इसीलिए निम्बार्काचार्य विशिष्टाद्वैतवाद के विरोधी हैं। आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में, रामानुजाचार्य की तरह विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध न होकर, आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आश्रित तथा ईश्वर आश्रय है।

निम्बार्काचार्य के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है और भेद भी। इस प्रकार निम्बार्क दर्शन में जीव एवं जगत् के आश्रितत्वादि स्वभाव एवं अचेतनत्वादि विशेषणों के ईश्वर के आश्रयत्वादि स्वभाव एवं कल्याण विशेषणों से विरुद्ध होने के कारण ईश्वर तथा जीव एवं जगत् का भेद स्पष्ट ही है। परन्तु जीव तथा जगत् की सत्ता आश्रयरूप

ईश्वर के बिना असम्भव है, अतः ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।[1] इस प्रकार ईश्वर जीव एवं जगत् में भेद भी है और अभेद भी। जिस प्रकार कि जल की लहरें, सूर्य की किरणें, अग्नि के स्फुलिंग, रस्सी के लपेट एवं सर्प का कुण्डली रूप, जलादि से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव एवं जगत् ईश्वर से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी के मतानुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए द्वैताद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप द्वैत एवं अद्वैत दोनों की ही प्रतिपादक श्रुतियां सत्य हैं। अब यहां द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

ईश्वर

द्वैताद्वैतवादी निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई है। निम्बार्काचार्य ने अपने ब्रह्म को समस्त दोषों से रहित एवं अशेष कल्याण गुणों से सम्पन्न कहा है।[2] इसके अतिरिक्त परमात्मा समस्त अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् में व्याप्त होकर स्थित है।[3] जीव एवं जगत् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ईश्वराधीन है, इसीलिए ईश्वर इनका नियन्ता कहलाता है।[4] प्रलयकाल में जीव एवं जगत् ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं। प्रलय एवं सृष्टि के पुनर्निमाण काल के बीच जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ईश्वर में ही स्थित रहते हैं। सर्वशक्तिमान् होने के कारण ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से ही समस्त संसार की सृष्टि में समर्थ होता है।[5] इस प्रकार रामानुज के अनुसार जहां जगत् सगुण ब्रह्म की विशेषणभूत प्रकृति का परिणाम है, वहां, निम्बार्काचार्य के दृष्टिकोण के अनुसार वह ईश्वर की शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार आचार्य निम्बार्क अद्वैती की तरह विवर्तवादी न होकर परिणामवादी हैं। इस विषय का विवेचन अद्वैतवेदान्तदर्शन एवं निम्बार्कदर्शन के सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन के समय किया जाएगा। द्वैतवादी मध्वाचार्य के विपरीत निम्बार्क ईश्वर को उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों ही मानते हैं। रामानुजाचार्य के विष्णु, एवं लक्ष्मी के स्थान पर आचार्य निम्बार्क ने कृष्ण एवं राधा की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त निम्बार्काचार्य की वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार व्यूहों की कल्पना रामानुजाचार्य के समान ही है।[6] निम्बार्क दर्शन के अनुसार भी ईश्वर मत्स्यादि रूप से लोक कल्याण के लिए अवतार ग्रहण करता है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् ईश्वर के ही आश्रित हैं।

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

२. दशश्लोकी ४।

३. यत्किंचित्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। —सिद्धान्तजाह्नवी, पृष्ठ ५३ से उद्धृत।

४. दशश्लोकी ७।

५. निम्बार्कभाष्य, ब्र० सू० १।१।१६।

६. डा० देवराज : दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४६०।

जीव

निम्बार्क दर्शन में जीवों को अनन्त एवं अणु रूप बतलाया गया है, परन्तु अणु होते हुए भी जीव का यह वैशिष्ट्य है कि वह सार्वत्रिक ज्ञान के कारण शरीर के सुख-दुःखादि का अनुभव करने में समर्थ होता है। शांकरदर्शन के विपरीत जीव बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में ही कर्तृत्व से युक्त रहता है। परन्तु यहाँ यह कह देना और अपेक्षित होगा कि जीव स्वतन्त्र रूप से कर्ता नहीं है। उसका कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। जीवज्ञाता एवं भोक्ता भी है, परन्तु कर्तृत्व के समान ही जीव का ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व भी परमेश्वर के ही आश्रित है।

साधारणतया बद्ध एवं मुक्त रूप से जीवों के दो भेद हैं। बद्ध जीव मुमुक्षु तथा बुभुक्षु रूप से दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु एवं बुभुक्षु जीवों का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि मुमुक्षु जीव मुक्ति का इच्छुक होता है और बुभुक्षु जीव विषयानन्द का इच्छुक। इसी प्रकार मुक्त जीवों के भी नित्य मुक्त एवं मुक्त रूप से दो भेद बतलाए गये हैं। नित्य मुक्त जीवों में गरुड एवं विष्वक् सेन आदि आते हैं। नित्यमुक्त जीव भगवान् के पार्षद रूप में परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इसके विपरीत वे मुक्त जीव हैं जो अपनी साधना के बल से संसार चक्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं। निम्बार्काचार्य का कथन है कि मुक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद के द्वारा सम्भव है।[१] निम्बार्कदर्शनसम्मत मुक्ति का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ईश्वर एवं जीव का सम्बन्ध

निम्बार्कदर्शन के अनुसार जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव है। जीव अंश एवं ईश्वर अंशी है, परन्तु द्वैताद्वैतवादी के अनुसार अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं है। वेदान्त पारिजात सौरभ (निम्बार्क भाष्य) के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य ने अंश शब्द का 'अर्थशक्ति' किया है[२]। अतः सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही ईश्वर को अंशी कहा गया है। इस प्रकार जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव के द्वारा शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध है।

भातरादि अनेक भेद हैं।

मुक्ति

जीव, अनादि त्रिगुणात्मिका एवं प्रकृति स्वरूप माया से आवृत्त होने के कारण अपने धर्मभूत ज्ञान से वंचित रहता है। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।[१] निम्बार्क दर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि उसके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव के कर्तृत्व में बाधा नहीं पड़ती[२]। यही कारण है कि मुक्तावस्था में भी जीव के द्वारा उपासना का विधान बतलाया गया है। निम्बार्कदर्शन के अनुसार मुक्ति इस संसारावस्था में संभव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

निम्बार्कदर्शन और अद्वैतवेदान्तदर्शन

आचार्य निम्बार्क यों तो, ब्रह्मवादी ही हैं, परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैतवेदान्तियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। उनके ब्रह्म की सगुणता रामानुजाचार्य के चिदचिद्विशेषण विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न है, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म के स्वरूप से तो निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया भिन्न ही है। अद्वैतवेदान्तदर्शन और निम्बार्कदर्शन, दोनों के ही अन्तर्गत ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म दोनों ही जगत् के निमित्त-कारण एवं उपादान कारण हैं, परन्तु दोनों में यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म अपनी माया शक्ति के कारण जगत् का उपादानकारण है, जब कि निम्बार्क-दर्शन के अनुसार चित् एवं अचित् शक्ति के द्वारा ईश्वर जगत् का उपादानकारण है। इसी लिए अद्वैतवेदान्त और निम्बार्कदर्शन के कार्य-कारणसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैत वेदान्त में जहां विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, वहां निम्बार्कदर्शन परिणामवादी है। परिणामवादी निम्बार्कदर्शन के अनुसार जगत् ईश्वर की चित् एवं अचित् शक्ति का ही परिणाम है। विवर्तवाद के विरोध में निम्बार्क दर्शन के अनुयायियों का तर्क है कि जैसा कि विवर्तवादी कहते हैं यदि जगत् मिथ्या हुआ होता तो उसका अध्यस्त होना संभव न हुआ होता।[३] द्वैताद्वैतावादी के उक्त तर्क का अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए यह कथन असंगत न होगा कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत् आकाशकुसुम अथवा शशशृंग के समान मिथ्या न होकर केवल परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार जगत् के नाम एवं रूप का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। इसीलिए, अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भी भौतिक जगत् का विनाश नहीं हो जाता, अपितु उसकी नामरूपता का ही विनाश हो जाता है।

आश्रय दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव भी ज्ञान का स्वरूप तथा आश्रय दोनों है।

अद्वैत वेदान्त एवं निम्बार्कदर्शन के मुक्तिविषयक विचार में भी पर्याप्त भेद है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत जीव मुक्तावस्था में ब्रह्मरूप हो जाता है। शंकराचार्य भी जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ही समर्थक हैं। इसके विपरीत निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत भक्ति द्वारा प्राप्य भगवत्साक्षात्कार ही मोक्ष है। परन्तु यह भगवत्साक्षात्कार भक्त को इस जीवन में संभव नहीं है।

बलदेव उपाध्याय का मत—भारतीय दर्शन के लेखक पंडित बलदेव उपाध्याय ने निम्बार्क दर्शन की विवेचना करते हुए 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' 'शान्तउपासीत' आदि श्रुतिवाक्यों के आधार पर मुक्तावस्था में जीव के उपासनरूप कर्तृत्व को सिद्ध किया है।[1] मेरे विचार से उक्त श्रुति वाक्यों के आधार पर मुक्तावस्था में जीव के उपासनादि कर्तृत्व का सिद्ध करना समुचित नहीं है। क्योंकि उक्त श्रुति वाक्यों के अन्तर्गत जीव के जिस मुमुक्षत्व एवं शान्तित्व की चर्चा है वह मुक्ति की स्थिति के अन्तर्गत नहीं आते। मुमुक्षु का अर्थ है—मोक्ष का अभिलाषी और शान्त का अर्थ है—शान्त चित्त। अतः मुमुक्षु और शान्त शब्दों से मुक्त का अर्थ ग्रहण करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। अपने मत के समर्थन में पंडित बलदेव उपाध्याय ने वेदान्तपारिजातसौरभ के जिस अंश (वेदान्तपारिजातसौरभ, ब्र० सू० २।३।३२) को उद्धृत किया है उसमें भी 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' को मुक्ति का उपाय ही माना गया है।[2]

अद्वैत वेदान्त और निम्बार्क दर्शन के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैत वेदान्त के समान निम्बार्कदर्शन में यह जीवन्मुक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है। जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत जीव को शरीर त्याग होने पर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार जीव को शरीर दशा में ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन एवं निम्बार्कदर्शन के सिद्धान्तों में भेद का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि समस्त वैष्णव पद्धतियां अद्वैत वेदान्त की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई थीं।

निक सिद्धान्त में मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के बीज निहित होने पर भी दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों में भेद दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, आचार्य मध्व का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवाद है। शांकर अद्वैतवाद के विपरीत द्वैतवादी आचार्य मध्व जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्व-दर्शन की प्रमुख विशेपता है।[१] अपने इस दार्शनिक वैशिष्ट्य के समर्थन के लिए आचार्य मध्व ने दरिद्र-दम्पत्तिन्याय से श्रुति का भी आश्रय लिया है। अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति, एकमेवाद्वयं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि वाक्य भी आचार्य मध्व की अद्‌भुत कल्पना के अनुसार द्वैतसिद्धान्त के ही समर्थक हैं। यहां उक्त सिद्धांत वाक्यों के सम्बन्ध में मध्व-दर्शन की दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को न स्वीकार करके यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेपताओं में साम्य है।[२] इस सम्बन्ध में माध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीवों और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भविष्यपुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[३] उन्होंने तत्त्वमसि का अर्थ 'त्वम् तदीयः असि' एवं 'त्वम् तस्य असि' भी स्वीकार किया है।[४] आचार्य मध्व 'स आत्मा तत्त्वमसि' को 'स आत्मा अतत्वमसि' के रूप में ग्रहण करते हैं।[५] 'अयं आत्मा ब्रह्म' को आचार्य मध्व जीवात्मा की प्रशंसा अथवा ध्यान की दृष्टि से कहा गया मानते हैं। इन्होंने अद्वैतपरक उपर्युक्त वाक्य को पूर्वपक्ष भी कहा है।[६] 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मध्व ने शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ग्रहण किया है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के ही आधार पर मध्वाचार्य ने उक्त वाक्य के अन्तर्गत जीवात्मा या ब्रह्म का वर्णन माना है। जीवात्मा का वर्णन मानने पर मध्वाचार्य ने 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ किया है—यह जीवात्मा वर्द्धनशील है।[७] आचार्य मध्व ने उक्त वाक्य में ब्रह्मपरक वर्णन मानते हुए इस वाक्य का अर्थ किया है—यह जो सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म वेत्ता ब्रह्मरूप ही हो जाता है) वाक्य का अर्थ भी आचार्य मध्व यह करते हैं कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्वाचार्य की दृष्टि से क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता और विश्वव्यापकता के द्योतक हैं, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक। इस प्रकार विश्वव्यापक ब्रह्म को आचार्य मध्व विश्व से पृथक् मानते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यों का मनमाना अर्थ लगाकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की ही स्थापना करने का प्रयत्न किया था।

---

१. *Ghate* : The Vedanta, p. 33.

२. मध्वभाष्य, ब्र० सू० २।३।२८।

३. भिन्नाः जीवाः परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपतः।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषुसर्वशः ॥
—भविष्यपुराण, मध्वभाष्य २।३।२८ के अन्तर्गत उद्धृत।

४. *Ghate* : The Vedanta, p. 34.

५. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 746.

६. वही, पृ० ७४६।

७. *Ghate* : The Vedanta, p.34.

हैं। परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त हैं।[१] समस्त जीवों का आधार परमात्मा है। परमात्मा ही जीवों को उनके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिये प्रवृत्त करता है।[२] मध्वाचार्य का कहना है कि जीव की स्वप्नकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है— (मध्व भाष्य ३।२।३,५) जीव अणु परिमाण होने के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यद्यपि जीव पूर्वकृतकर्मानुसार अज्ञान, मोह, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्ण है तथापि उसका स्वभाव आनन्द ही है। मुक्तावस्था में जीव अपने मूलस्वभाव आनन्दस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मध्व दर्शन के अनुसार प्रधानतया तीन प्रकार के जीव बतलाये गए हैं—**मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी** एवं तमोयोग्य जीव। मुक्तियोग्य जीवों के अन्तर्गत देव, ऋषि पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम रूप से पांच प्रकार के जीव आते हैं। नित्य संसारी वे जीव हैं जो महामुखदुःखादि का भोग करते हुए अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग, नरक एवं भूलोक में विचरण करते हैं। तमोयोग्य जीवों में दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अन्य अधम कोटि के जीव आते हैं।

जगत्

मध्व-दर्शन के अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर, उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है। स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के—महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियां, पंचतन्मात्राएं और क्षित्यादि पंचतत्त्व, ये चतुर्विंशति तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में, मूल प्रकृति में ये तत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू, एवं दुर्गा रूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्व-दर्शन के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है।[३] इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप हैं। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के आवरण के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है।[४]

मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्ति की, कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादि मार्ग एवं भोग, ये चार अवस्थाएं मानी गयी हैं। भोग के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य रूप से चार भेद हैं। सालोक्य के अनुसार जीव स्वर्ग में निवास करता हुआ सन्तोषपूर्वक आनन्द का भोग करके सदा ईश्वर साक्षात्कार करता है। सामीप्य में जीव सदा भगवान् के समीप स्थित रहता है तथा सारूप्य में जीव बाह्य रूप से भगवान् का सादृश्य प्राप्त करता है। सायुज्य में जीव भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करता है।[1] जैसा कि कहा जा चुका है, जीवों के मुक्तिकालिक आनन्द की स्थिति भिन्न-भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार जीव की मुक्ति के लिए वैराग्य, शम दमादि का सम्पादन, स्वाध्याय, शरणागतिभाव, गुरुसेवा, शास्त्रश्रवण, मनन, ईश्वरार्पणबुद्धि एवं ईश्वरोपासना आवश्यक है।

अद्वैतवेदान्त एवं मध्व-दर्शन

मध्व-दर्शन का द्वैतवाद सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त दर्शन द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का चरम विरोधी सिद्धान्त है। यों तो, दोनों ही दर्शन पद्धतियों में ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है, परन्तु दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अत्यधिक भेद मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जहां निर्गुण ब्रह्म को पूर्ण सत्य एवं साध्य के रूप में घोषित किया गया है, वहां मध्वदर्शनपरम्परा में सगुण एवं साकार रूपधारी भगवान् विष्णु ही परमेश्वर के रूप बतलाए गए हैं। अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि मध्व-दर्शन में ईश्वर जगत् का निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, जबकि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों ही है। जीव एवं जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर अद्वैतवादियों ने जो जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के सिद्धान्त की स्थापना की है, उसका तो मध्वाचार्य ने पूर्णतया विरोध किया ही है। इस विरोध का ही तो फल है कि आचार्य मध्व ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव एवं जड और जड में भी भेद की व्यवस्था की है। इस भेद व्यवस्था के अनुसार, जीव एवं जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह मध्वदर्शन में मिथ्या न मानकर सत्य ही माना गया है।

मायावाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। अद्वैतवेदान्त में माया से अविद्या एवं मिथ्यात्व का आशय ग्रहण किया जाता है, परन्तु पूर्णप्रज्ञदर्शन के लेखक मध्व ने माया से स्वप्न का तात्पर्य ग्रहण किया है—(मध्व भाष्य ३।२।३) इसके अतिरिक्त जहां अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति परमेश्वर से अभिन्न बतलाई गयी है, वहां मध्व-दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लक्ष्मी को परमेश्वर से भिन्न सिद्ध किया गया है।[2]

जैसा कि मध्व-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्तिकालिक आनन्द के भेद की व्यवस्था, अद्वैतवेदान्तसम्मत मुक्ति की अद्वैतरूपता एवं भेदराहित्य के विपरीत है। इस प्रकार कहना न होगा, कि अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वरादि सिद्धान्तों में भेद की एक अत्यन्त स्पष्ट रेखा मिलती है।

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, *Vol. IV*, p. 318.

२. परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीनालक्ष्मीः। —मध्वसिद्धान्तसार, पृ० २६।

वल्लभाचार्य (१४८१-१५३३ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (शुद्धाद्वैतवाद)

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। अद्वैत वेदान्त के समान वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है, इसीलिए ब्रह्म के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।[१] शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत गिरिधर महाराज ने कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरुष दोनों समासों की ओर संकेत किया है। कर्मधारय समास मानने पर विग्रह होगा—शुद्धं चेदम् अद्वैतम्—शुद्धाद्वैतम् और षष्ठी तत्पुरुष मानने पर विग्रह होगा—शुद्धयोः अद्वैतम्—शुद्धाद्वैतम्।[२] इस प्रकार वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्ध अद्वैत तत्त्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करके शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया है। अब यहां वल्लभ-दर्शन के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण करने के पश्चात् वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्म की शुद्धाद्वैतता का ऊपर संकेत किया जा चुका है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों हैं। शुद्ध अद्वैत तत्त्व होने के कारण ब्रह्म निर्गुण तथा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप के विरोध का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार एक ही वस्तु सर्प कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण कर लेने पर कुण्डलादि अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि में अभेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से स्फुरित होता है।[३] वस्तुतः ब्रह्म शुद्ध अद्वैत तत्त्व रूप ही है। ब्रह्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य द्वारा दिए गए 'अहिकुण्डल' दृष्टान्त में यह वैषम्य प्रतीत होता है कि सर्प तो स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा के अनुसार कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण करता है, परन्तु वल्लभाचार्य का ब्रह्म एक ही काल में भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों को प्राप्त होता है। उक्त वैषम्य के समाधानार्थ प्रकाशकार पुरुषोत्तमाचार्य का तर्क है कि भक्त की तादृश इच्छा की उत्पत्ति में ईश्वर की तादृश-तादृश फल देने की इच्छा ही प्रयोजिका है। अतः उक्त दृष्टान्त के अन्तर्गत वैषम्य देखना समुचित नहीं है।[४]

कार्य-कारण-सम्बन्ध

वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत कारण रूप ब्रह्म एवं कार्य रूप जगत् में भेद नहीं है। जगत् ब्रह्म की आविर्भाव दशा है। ब्रह्म की कारणता उसकी तिरोभावदशा है। इस सम्बन्ध में

प्रस्थानरत्नाकरकार पुरुषोत्तमाचार्य का कथन है कि उपादानरूप ब्रह्म के कार्य की जो शक्ति व्यवहारगोचर करती है, वह आविर्भाविका है। इस प्रकार आविर्भाव व्यवहारयोग्यत्व एवं तिरोभाव व्यवहारायोग्यत्व का नाम है।[१] इसीलिए वल्लभाचार्य ने सजातीय जीव, विजातीय जगत् एवं स्वगत अन्तर्यामी ईश्वर, ये ब्रह्म के ही तीन रूप बतलाए हैं। इसलिए जीवादि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म जीवादि में सदा अनुस्यूत है।[२] वल्लभ-दर्शनपद्धति के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों है। ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई वैमत्य नहीं है, परन्तु उपादानकारणत्व विवेचनयोग्य है। वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म को समवायिकारण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु ब्रह्म की समवायिकारणता के विरोध में पूर्वपक्षी का तर्क है कि यदि ब्रह्म को समवायिकारण माना जाएगा तब तो ब्रह्म को भी विकार का विषय मानना पड़ेगा—समवायित्वेविकृतत्वस्यापत्तेः। पूर्वपक्षी के उक्त कथन के विपरीत यह कहा जाएगा कि सत्, चित् एवं आनन्द रूप से सर्वव्यापी होने के कारण ब्रह्म समवायिकारण है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के आरोपवाद सिद्धान्त के विपरीत वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि ब्रह्म स्वेच्छा से सत्, चित् एवं आनन्द तत्वों के प्रभाव से भौतिक जगत्, जीव एवं ब्रह्म रूप से व्यक्त होता है। अतः वल्लभ-दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वल्लभ-दर्शन का समवायिकारणवाद माया को उपादान कारण मानने वाले अद्वैतिक कारणवाद से तो भिन्न है ही, साथ ही न्यायदर्शन की समवायकल्पना से भी भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार कारण एवं कार्य का सम्बन्ध तादात्म्य मूलक है। कारण एवं कार्य रूप द्रव्यों का तादात्म्य निर्विवाद सिद्ध है।

अद्वैत वेदान्त के समान ही वल्लभ-वेदान्त में भी माया ब्रह्म की शक्ति है।[४] परन्तु दोनों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। वल्लभाचार्य की माया अद्वैत वेदान्त की माया की तरह मिथ्या नहीं है। इस अन्तर का विस्तृत उल्लेख दोनों दर्शन पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन करते समय किया जाएगा। वल्लभ दर्शन के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की सहायिका शक्ति है।

वल्लभ-दर्शन का जीवसम्बन्धी सिद्धान्त

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव अणु तथा ईश्वर का ही अंश है। अणु होते हुए भी जीव सर्वव्यापक है, परन्तु ईश्वर की तरह सर्वज्ञ नहीं है। वह जीव उसी प्रकार ईश्वर का अंश है, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि का अंश है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म दोनों में अभिन्नत्व है।[५]

वल्लभ-दर्शनपद्धति द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ईश्वर का अंशांशिभावसम्बन्ध वैष्णव एवं अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वरसम्बन्ध से भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार भी

---

१. उपादानस्य कार्यम् या व्यवहारगोचरं करोति साशक्तिराविर्भाविका···तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्।—प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ २६।
२. देखिए तत्वार्थदीप १।६६ एवं उसकी आवरणभंग टीका, पृष्ठ १०६।
३. पुरुषोत्तमाचार्यः प्रकाश टीका, अणुभाष्य, पृष्ठ ६०।
४. प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६ (चौखम्बा संस्करण)।
५. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृष्ठ १५, १६।

जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभावसम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु वहां जीवों की सत्ता ईश्वर से भिन्न है। इस प्रकार मध्वदर्शन के अन्तर्गत जीव एवं ईश्वर का दूरवर्ती सम्बन्ध है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर से भिन्न होते हुए भी ईश्वर के समान है। निम्बार्क-दर्शन परम्परा के अन्तर्गत भी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में अंशांशिभाव को स्वीकार किया गया है। परन्तु निम्बार्क दर्शन के अनुयायियों ने जीव एवं ईश्वर की भिन्नता तथा सादृश्य पर ही विशेष बल दिया है। जहां तक रामानुज दर्शन का प्रश्न है, रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर जीवों के ज्ञान का विकास एवं संकोच करते हुए उनकी समस्त क्रियाओं का नियमन करता है। भास्कराचार्य के अनुसार तो जीव स्वतः ईश्वर से सम्बद्ध है। उपाधि के कारण ही जीव ईश्वर से भिन्न दिखाई पड़ता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यद्यपि जीव वस्तुतः ईश्वर से भिन्न है परन्तु जीव ईश्वरस्वभावसम्पन्न है। अतः ईश्वर से जीव अभिन्न है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव सम्बन्ध है।[1]

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, वल्लभाचार्य का जीवेश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त उपर्युक्त आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर के अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न हैं। जीवों का जीवत्व ईश्वर की आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का फल है। आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियां एवं गुण जीव में तिरोभूत हो जाते हैं और कुछ आविर्भूत हो जाते हैं।[2]

जीवों के भेद—वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीवों के शुद्ध, संसारी और मुक्त, यह तीन भेद बतलाए गए हैं। आनन्दांश के तिरोधान के फलस्वरूप अविद्या से सम्बन्ध होने से पहले जीव की शुद्धावस्था कहलाती है। जब जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और जब जीव जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का विषय हो जाता है तो उसे संसारी कहते हैं संसारी जीव भी दैव और आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव वे जीव हैं जो ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदा-नन्द रूप को प्राप्त कर ईश्वराभिन्नत्व को प्राप्त होते हैं। वल्लभ-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन पृथक् रूप से आगे किया जाएगा।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप

वल्लभ-दर्शन पद्धति के अन्तर्गत जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।[1] जगत् ईश्वर की आविर्भाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर अपनी इच्छा से आविर्भाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविर्भूत होता है और तिरोभाविका शक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत का ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण, अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का कारण तथा नियन्ता है।

से प्रादुर्भूत पदार्थों को जगत् कहते हैं। इसके विपरीत स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्तःकरणाध्यास, अविद्या के इन पंच पर्वों के द्वारा जीवों की बुद्धि में जगत् के पदार्थों के सम्बन्ध में जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसे संसार कहते हैं। उदाहरण के लिए, संसार बुद्धि के अनुसार जीव, जगत् के घटादि पदार्थों की सत्ता ईश्वर से पृथक् समझते हैं। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या न होकर उपर्युक्त द्वैत-मूलक संसार ही मिथ्या है। वादावलिकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिवर्ती घट ही मिथ्या है, न कि प्रपंचान्तर्वर्ती घट।[1] इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जगत् की नानात्वमूलक बुद्धि का निराकरण किया गया है—'नेहनानास्ति किंचन' (विवेकचूडामणि ४६५)।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार भक्ति का स्वरूप

भक्ति वल्लभ-दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। आचार्य वल्लभ ने भक्ति की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है। परन्तु आचार्य वल्लभ ने जिस भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसका विवेचन हमें वल्लभपूर्ववर्ती साहित्य में अनेक मतमतान्तरों के साथ मिलता है। जहां तक वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति सिद्धान्त पर पूर्ववर्ती पुराणादि के प्रभाव का प्रश्न है, निश्चित ही वल्लभाचार्य का भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त पुराणादि के भक्तिसम्बन्धी विवेचन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित हुआ है। श्रीमद्-भागवत का तो पूर्ण प्रभाव वल्लभाचार्य के भक्ति सिद्धान्त पर प्रत्यक्ष ही है। यहां वल्लभ दर्शन के अनुसार भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व भक्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

शाण्डिल्य सूत्र और भक्ति—'परानुरक्तिरीश्वरे' सूत्र के अन्तर्गत शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का निरूपण किया गया है। शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति को 'परानुरक्ति' का रूप दिया गया है। अनुरक्ति राग का ही उत्कृष्ट रूप है। इस प्रकार आराध्यविषयक उत्कृष्ट राग ही शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार भक्ति है।[2] स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्य सूत्र के उक्त अनुरक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए 'अनु' का अर्थ पश्चात् किया है और 'रक्ति' का अर्थ राग। इस प्रकार स्वप्नेश्वर अनुरक्ति का अर्थ ईश्वरज्ञानोत्तरवर्ती राग ग्रहण करते हैं।[3]

विष्णु पुराण और भक्ति—विष्णु पुराण के अन्तर्गत प्रह्लाद के प्रसंग में भक्ति का प्रीति रूप से वर्णन किया गया है (विष्णु पुराण-१।२०।१९)।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का स्वरूप—श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का जो स्वरूप समझाया गया है, उसमें भक्त का आनन्द भी सम्मिलित है। कृष्ण अपने भक्तों के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि मुझ में ही जिनका चित्त है तथा मुझमें ही जिनके चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्राण लीन रहते हैं, ऐसे मेरे भक्त परस्पर एक-दूसरे को मेरा तत्त्व समझाते हुए तथा ज्ञान, बल, एवं सामर्थ्यादि गुणों से युक्त मुझ परमेश्वर के रूप का वर्णन करते हुए, सदा सन्तुष्ट

---

१. अत्रापि बौद्ध एव घटो मिथ्या, न तु प्रपंचान्तर्वर्तीति-निष्कर्षः।
—वादावलिः, पृष्ठ ६। (बृहन्मन्दिरपुष्टिमार्ग, सिद्धान्त कार्यालय, बम्बई १९२०)।

२. शाण्डिल्य सूत्र १।२ तथा देखिए स्वप्नेश्वर की टीका।

३. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p.704.

रहते हैं तथा आनन्द को प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार उपर्युक्त कथन के अनुसार भक्ति में से सन्तोष एवं आनन्द के भाव भी सन्निहित रहते हैं।

रामानुजाचार्य और भक्ति—रामानुजाचार्य ने भक्ति को ज्ञान की एक कोटि के रूप में माना है। विभिन्न प्रकार की अर्चनाएं एवं कर्मकाण्ड के अनेक रूप जीव को भक्ति की ओर ही अग्रसर करते हैं, परन्तु वह भक्ति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति ज्ञान एवं कर्म का समन्वय है (रामानुजभाष्य-गीता उपोद्‌घात)।

भक्ति चिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप—भक्तिचिन्तामणि के अन्तर्गत भक्ति को 'योगवियोगवृत्तिप्रेम' कहा गया है। योगवियोगवृत्तिप्रेम प्रेम का वह रूप है जिसमें दो मिलन को प्राप्त प्रेमी वियोग से भयविह्वल रहते हैं और दो वियुक्त प्रेमी संयोग के लिए उत्कंठित रहते हैं।[2]

कुछ अन्य आचार्यों एवं विद्वानों के मत—हरिदास एवं गुप्ताचार्य भक्तिचिन्तामणि के उपर्युक्त मत ही के समर्थक हैं। गोविन्द चक्रवर्ती ने भक्ति के पोषक प्रेम को महान् से महान् आपत्तिकाल में भी निरन्तर रूप से स्थिर रहने वाला कहा है।[3] प्रेमलक्षणचन्द्रिकाकार परमार्थ ठक्कुर ने उक्त प्रेम की अभिलाषा को वाणी द्वारा अवर्णनीय कहा है।[4] प्रेमरसायनकार विश्वनाथ ने भक्ति को प्रेममय आकांक्षा का रूप दिया है।

गोपेश्वर जी महाराज का मत—गोपेश्वर जी का भक्तिसम्बन्धी मत उपर्युक्त उन मतों से भिन्न है जो आकांक्षा या उत्कण्ठा को भक्ति का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्र अथवा किसी प्रिय सम्बन्धी के प्रति जो प्रेम होता है उसका आधार कोई आकांक्षा नहीं होती। फिर आकांक्षा किसी अप्राप्य विषय की होती है परन्तु भक्ति का अनुराग अप्राप्त नहीं कहा जा सकता।[5] इसके अतिरिक्त गोपेश्वर जी रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत नहीं मानते। उन के मतानुसार भक्ति में कर्मकाण्ड एवं उपासना सम्मिलत नहीं है। गोपेश्वर जी तो शाण्डिल्य सूत्र के अनुयायी होने के कारण भक्ति को अनुरक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं।

इस लेखक का दृष्टिकोण—मेरे विचार से भक्ति, हृदय की वह भावदशा है जिसमें भक्त के हृदय में एक ओर तो भगवान् के माहात्म्य पर दृष्टि रहती है और दूसरी ओर आत्म निवेदन तथा आत्म समर्पण पर। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन, यह नौ भक्ति की मौलिक विशेषताएं हैं। भक्ति ज्ञान से तो कोसों दूर है। जहां ज्ञान है वहां भक्ति नहीं और जहां भक्ति है वहां ज्ञान कहां? दोनों के आधार स्थल भी भिन्न हैं। ज्ञान का आधार बुद्धि है और भक्ति का आधार हृदय। अतः भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत मानने वाले रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के मतों से इस लेखक का मतवैपरीत्य है।

वल्लभाचार्य और उनका भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त—वल्लभाचार्य ने स्नेह को भक्ति

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।९।

२. अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टेविश्लेषभीरुता। —भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५ (चौखम्बा संस्करण बनारस) सं० १९९५।

३. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ३५।

४. *Das Gupta*: Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.

५. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ३५।

का प्रमुख तत्त्व माना है। उन्हीं के शब्दों में भक्ति की परिभाषा है—भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होने पर भगवान् के प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह होता है वही, भक्ति है।[1] अपनी भक्तिवर्धिनी के अन्तर्गत भक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए वल्लभाचार्य ने प्रेम को भक्ति का बीज माना है, जो भगवद्कृपा से उत्पन्न होता है। जब यह बीज पुष्टि को प्राप्त हो जाता है तो त्याग, भक्ति, शास्त्रश्रवण एवं नामकीर्तनादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। भक्ति कभी स्वतः, कभी भक्तों के सम्पर्क से और कभी भक्ति के उपयोगी साधनों से उत्पन्न होती है। जिन भक्तों में साधन द्वारा भक्ति उत्पन्न होती है उनके हृदय में वह भाव रूप से स्थित रहती है। फिर पूजादि साधनों के द्वारा प्रेमादि रूप से क्रम से उद्भूत होती है।[2] भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग और व्यसन यह सात भक्ति के क्रमिक विकास के सोपान हैं। जब भक्त को भगवद् व्यसन प्राप्त हो जाता है तो उसे संसार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। भगवद् व्यसन से पहिले सांसारिक बाधायें भक्त के जीवन में बाधक बनकर उपस्थित होती हैं। अतः जब तक व्यसन की उत्पत्ति नहीं होती तब तक सांसारिक पदार्थों का राग नष्ट नहीं होता। इस प्रकार भक्त की स्नेह शक्ति सांसारिक व्यसनों की विनाशकर्त्री है। व्यसनों के नाश होने पर पूर्वकृत समस्त कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। अतः कर्म का त्याग करके ही भगवत् प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।[3]

वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग—वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। पुष्टि का अर्थ है—भगवान् का अनुग्रह (पोषणं तदनुग्रहः, श्रीमद्भागवत् २।१०) इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार भगवदनुग्रह ही मुक्ति का प्रधान कारण माना गया है। इसलिए वल्लभदर्शन का भक्तिसिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित होता है। पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवत् प्राप्ति के लिए ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है।[4]

मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति—पुष्टि भक्ति के विपरीत वैष्णव दर्शन का मर्यादा-भक्ति का सिद्धान्त है। स्वयं वल्लभाचार्य ने पुष्टि भक्ति का समर्थन करते हुए भी मर्यादा भक्ति की युक्तता की शंका नहीं की है।[5] भक्तिमार्तण्डकार ने मर्यादाभक्ति और पुष्टि-भक्ति का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों एवं साधनों के द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है वह मर्यादा भक्ति कहलाती है और जैसा कि कहा जा चुका है, कर्म और साधकों के बिना केवल भगवदनुग्रह के द्वारा जिस भक्ति की उपलब्धि होती है उसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं।[6] कर्म एवं साधनों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी, मर्यादा भक्ति के अनुयायियों की यह मान्यता है कि एक बार कर्म एवं साधनों द्वारा भगवत्प्रेम उत्पन्न होने

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।। —तत्त्वार्थदीप, पृ० ८० ।। —Edited by Hari Shanker Onkarji Shastri, Bombay, 1943.

२. देखिए—भक्तिवर्द्धिनी, श्लोक ५ पर पुरुषोत्तमाचार्य की वृत्ति।

३. स्नेह शक्तिः व्यसनानाम् विनाशनम्। तथा सतिकृतमपि सर्व कार्यम् व्यर्थम् स्यात्। तेन तत् त्यागम् कृत्वायतेत। —भक्तिवर्द्धिनी, श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

४. अणुभाष्य ३।३।२९।

५. वही।

६. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५१।

पर फिर साधनादि की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु पुष्टिमार्ग के अनुसार किसी स्थिति में भी साधन मात्र से भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। पुष्टि मार्ग में तो भगवत्कृपा को ही साधन कहा गया है—पुष्टिमार्गे वरणम् एवं साधनम्। मर्यादा भक्ति के अन्तर्गत श्रवणादि के द्वारा पापक्षय होने पर प्रेमोत्पत्ति और फिर मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पापादि की अप्रतिबन्धकता का कारण है। इसके अतिरिक्त मर्यादाभक्ति के अन्तर्गत जो श्रवणादि एवं प्रेम का पौर्वापर्य सम्बन्ध बतलाया गया है, वह भी पुष्टि मार्ग की भक्ति में आवश्यक नहीं है।[१]

प्रवाह मार्ग और पुष्टि मार्ग—वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के अतिरिक्त प्रवाहमार्ग के नाम से एक और मार्ग का भी उल्लेख किया है। प्रवाहमार्ग के अन्तर्गत उन वैदिक कर्मो का उल्लेख किया गया है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जो कर्म वैदिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते वे मर्यादामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग का भेद ऊपर बतलाया जा चुका है। पुष्टि मार्ग प्रवाह मार्ग से इस अंश में भिन्न है कि पुष्टिमार्ग प्रवाहमार्ग की तरह वैदिक कर्मो पर आधारित न होकर पूर्णतया भगवदनुग्रह पर ही प्रतिष्ठित रहता है।[२]

भक्ति के साधन—वैसे तो, भगवद्भक्ति की प्राप्ति का प्रमुख कारण भगवदनुग्रह ही है, परन्तु भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्त में अन्त:करण की शुद्धि अत्यावश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि के षोडश साधन बतलाए गए हैं। इनमें कुछ साधन आन्तरिक तथा कुछ बाह्य हैं। बाह्य साधनों में स्नान, यज्ञ और देवमूर्ति का अर्चन, ये तीन साधन आते हैं। सर्वात्म-रूप से भगवान् का ध्यान करना चतुर्थ साधन है। सत्वगुण का उत्कर्ष पंचम साधन है। समस्त कर्मो का समर्पण एवं अनासक्ति षष्ठ साधन है। श्रद्धेयों एवं आदरणीयों का आदर करना सप्तम साधन है। दीनों के प्रति दया का भाव अष्टम साधन के अन्तर्गत आता है। सभी प्राणियों के प्रति समानता एवं मित्रता का भाव नवम साधन है। दशम साधन यम तथा एकादश साधन नियम है। गुरुमुख द्वारा शास्त्र श्रवण द्वादश साधन है। भगवन्नामश्रवण एवं कीर्तन त्रयोदश साधन है। सार्वभौमसहानुभूति एवं स्नेह चतुर्दश साधन है। सत्संग पन्द्रहवां साधन है। डाक्टर देवराज ने ईश्वरसायुज्य को अन्तःकरण की शुद्धि का पंचदश साधन माना है।[३] परन्तु यह अनुचित है, क्योंकि ईश्वर सायुज्य तो साधन न होकर साध्य ही है। अन्तःकरण की शुद्धि का सोलहवां साधन अहंकार का विनाश है।[४] इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ यह सोलह साधन बतलाए गए हैं।

वल्लभदर्शन में मुक्ति का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त परम्परा के अनुसार जहां परमात्मसाक्षात्कार का मूलज्ञान है, वहां वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत भगवत्‌महात्म्य ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मुक्ति का कारण है, यह इसी प्रकरण के अन्तर्गत कहा जा चुका है। अतः ज्ञान एवं भक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति की स्थिति में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञानसाध्य जिस जीवब्रह्मैक्य रूप मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है, उससे वल्लभाचार्य प्रतिपादित मुक्ति का स्वरूप भिन्न है। वल्लभ दर्शन के अनुसार जीव मुक्तावस्था में भी कर्मरत रहते हैं। इनमें कुछ जीव इस प्रकार के हैं जो पूर्व-बन्धन से मुक्त हो गए हैं। इस प्रकार के जीवों में सनकादि आते हैं। दूसरे प्रकार के जीव वह हैं जो ब्रह्म लोक की प्राप्ति करके, भगवान् के अनुग्रह से मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के जीव वह हैं जो एकमात्र भगवान् की भक्ति का आश्रय प्राप्त करते हैं और फिर पूर्ण भगवत्‌प्रेम के द्वारा ईश्वरसायुज्य की उपलब्धि करते हैं।[१]

वल्लभदर्शन के अन्तर्गत यद्यपि भक्ति मुक्ति का साधन है, परन्तु उसका महत्त्व मुक्ति से भी अधिक है। मुक्ति के अन्तर्गत जिस आनन्द का अनुभव होता है वह आत्मिक है, परन्तु भक्त को जो रसानुभव होता है, वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा ही अनुभूत होता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा आनन्द का अनुभव करने वाले भक्तों की महत्ता जीवन्मुक्तों से भी अधिक मानी गई है।[२]

अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभदर्शन, तुलनात्मक विवेचन

शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त-शुद्धाद्वैतवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद में समताएं एवं विषमताएं दोनों ही मिलती हैं। जहां तक शांकर अद्वैतवाद एवं वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद की समताओं का प्रश्न है, दोनों में ही दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यदि सजातीय विजातीय भेद से रहित एवं दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्य अद्वैत एवं एकरस ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है[३] तो वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत भी मायासम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही अद्वैत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[४] शांकर अद्वैतवाद का परब्रह्म भी शुद्धाद्वैतवादी की तरह माया से रहित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा पदार्थमय जगत् की शून्यता न सिद्ध करके जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न द्वैतबुद्धि का ही निराकरण किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैत-वादियों ने भी प्रपंचबुद्धि का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया है (वादावलि, पृष्ठ ६)। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'नेहनानास्ति किंचन' की भावना के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैतत्व स्थापित किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत भी जगत्

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 760.
२. देखिए तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ ७७।
३. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म। —शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।
४. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः—शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड २८।

के सम्बन्ध में ब्रह्मात्मकता का भाव स्पष्ट रूप से मिलता है।[1] अद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिविम्बवादसम्बन्धिनी समानता भी द्रष्टव्य है। अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिविम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं। प्रतिविम्बवाद के द्वारा अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए, अद्वैती शंकराचार्य का कथन है कि जल में स्थित सूर्यप्रतिविम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है और जल के क्षीण होने पर क्षीणता को प्राप्त होता है, जल के कम्पित होने पर कम्पित होता है और जलभेद होने पर भिन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्यप्रतिविम्ब जल के धर्मों का अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म परमार्थतः अविकृत एवं एक होते हुए भी देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।[2] इस प्रकार प्रतिविम्बवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव प्रतिविम्ब रूप है जिस प्रकार प्रतिविम्ब वृद्धि-क्षयादि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव सुखदुःखादि का अनुभव करता है। परमेश्वर वस्तुतः सुख-दुःखादि से असम्बद्ध है। अब शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को लीजिए। प्रतिविम्ब-वादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिविम्बवाद का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—जिस प्रकार कि जल में चन्द्रमा का प्रतिविम्ब पड़ने पर जल-वर्ती कम्पादि धर्म मिथ्या हैं और उनका चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार अनात्म देहादि का जन्म, बन्ध, दुःखादि रूप धर्म, जी का ही है, ईश्वर का नहीं।[3] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभदर्शन एवं शांकरवेदान्त के सिद्धान्तों में समानता भी मिलती है। अतः वल्लभाचार्य के शंकराचार्यपरवर्ती होने के कारण शांकरवेदान्त एवं वाल्लभ वेदान्त के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट किए गए समान स्थलों में, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर शांकर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित कहा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत समताओं की अपेक्षा विषमताएं अधिक हैं। शुद्धाद्वैत दर्शन के शांकर वेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण शांकर वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में विषमताओं का होना स्वाभाविक ही है। यहां दोनों दर्शन पद्धतियों की विषमताओं का उल्लेख किया जाएगा।

अद्वैत वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त, दोनों ही पद्धतियों के अनुसार सर्वोच्च तत्त्व ब्रह्म है, परन्तु दोनों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में मूल अन्तर तो यह है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है और वाल्लभ वेदान्त के अनुसार सगुण पुरुषोत्तम। अद्वैत वेदान्त में भी अपरब्रह्म के नाम से सगुण ब्रह्म की चर्चा मिलती है, परन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। परमार्थ दशा में पर अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। पर एवं अपर ब्रह्म का निरूपण चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैती हैं, परन्तु एक का सिद्धान्त केवलाद्वैतवाद है और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद। केवल अद्वैतवादी शंकराचार्य के मतानुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, जगत् तो व्यावहारिक सत्ता

1. विवेकस्तु मनैतद् एव प्रभुणाकृतम् मर्त्यं ब्रह्मात्मतत्त्वम् कोऽहं, किन्न [illegible] दाता, भोक्ता इत्यादिरूपः।—सेवाफल श्लोक ३ पर हरिराय की टीका।
2. ब्र० सू०, शां० भा० ३।२।२०।
3. यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बगतस्य तेन जलेनकृतो गुणः कम्पादिधर्मो [illegible] निरर्थकदर्शी न वस्तुतश्चन्द्रस्य [illegible] देहादेः धर्मो [illegible] [illegible] जीवस्य न ईश्वरस्य।—सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत ३।७।११।

की दृष्टि से सत् है, परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है, क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है।[1] शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शांकर वेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद पर आक्षेप करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करना है।[2] वैसे, माया के दायित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है। शांकर वेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है तो वाल्लभवेदान्त में भी माया का उल्लेख भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में किया गया है।[3] परन्तु दोनों की माया शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त की मायाशक्ति "अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३) और वाल्लभ वेदान्त की माया मिथ्या न होकर पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदान्त की माया का मिथ्यात्व अनिवर्चनीयता पर आधारित है। परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया को अद्वैत वेदान्त में अनिवर्चनीय कहा गया है। शांकर वेदान्त और वल्लभ दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शांकरवेदान्तसम्मत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान् की माया शक्ति की सहायता से आविर्भूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कार्य रूप जगत् के ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा का फल होने के कारण उसका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कार्यकारणवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठान-वाद[4] एवं अध्यारोपवाद[5] का समर्थन किया है उसका भी वल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप का फल है। इसके विपरीत वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है[6] और शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं माया उपादान कारण है।[7] इस प्रकार शांकर वेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अद्वैत वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहकर विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवर्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शांकर वेदान्त एवं वल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है। अंशांशि भाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।[8] इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है—शांकर

---

१. गौ० का० ४।५८।
२. अणु भाष्य १।१।६।
३. मायाया अपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमदभिन्नत्वात्।—प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१, २।१।२८ तथा देखिए वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—४६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
६. देखिए—पुरुषोत्तमाचार्य की टीका—अणुभाष्य, पृष्ठ ९०।
७. वेदान्त सार, ११।
८. अणु भाष्य २।३।४३।

वेदान्त में जीव की सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ-दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[1] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभुत्व का भी शांकर वेदान्त में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप विभुत्व जीव में न होकर ब्रह्म में है। वल्लभ-वेदान्त और शांकर वेदान्त के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकर वेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। इस मत के अनुसार भक्ति का पर्यवसान भी ज्ञान में ही होता है। स्वयं कृष्ण ने भी भक्त की अपेक्षा ज्ञानी को ही अपना अधिक प्रिय माना है (गीता ७।१७), परन्तु आचार्य वल्लभ का मत शांकर वेदान्त के मत से विपरीत है। जैसा कि वल्लभ दर्शन की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते समय कह आए हैं, भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[2] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भक्ति का अंग बतलाया गया है।

शांकर वेदान्त और वल्लभ-दर्शन की मुक्तिपरक विचारधारा का प्रमुख भेद भी विवेच्य है। वल्लभ दर्शन की भगवत्सायुज्यादिस्वरूपिणी मुक्ति शांकर वेदान्त की जीवैक्य-स्वरूपिणी मुक्ति से तो भिन्न है ही, साथ ही दोनों दर्शनपद्धतियों की आत्मानुभवसम्बन्धिनी दृष्टि में भी मौलिक भेद है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति में जो आनन्दानुभव होता है वह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से अतीत है, क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।[3] इसके विपरीत जैसा कि वल्लभदर्शनानुगत मुक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि शांकर वेदान्त और वल्लभ-वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर यत्किंचित् साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद है। जैसा कि दोनों दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों की समता को प्राप्त वल्लभदर्शन के सिद्धान्तों पर शांकर वेदान्त का प्रभाव निःसंकोच कहा जा सकता है।

कतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुजाचार्य आदि चार वैष्णव आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य वैष्णव भी हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। इन वैष्णव भक्त एवं आचार्यों में चैतन्य महाप्रभु, जीवगोस्वामी एवं बलदेवविद्याभूषण प्रमुख हैं। यहां इन वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा। इनके अतिरिक्त इन वैष्णवों के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ जो साम्य एवं वैषम्य मिलता है, उसका भी स्थान-स्थान पर निरूपण किया जाएगा।

की दृष्टि से सत् है, परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है, क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है।[1] शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शांकर वेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद पर आक्षेप करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करना है।[2] वैसे, माया के दायित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है। शांकर वेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है तो वाल्लभवेदान्त में भी माया का उल्लेख भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में किया गया है।[3] परन्तु दोनों की माया शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३) और वाल्लभ वेदान्त की माया मिथ्या न होकर पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदान्त की माया का मिथ्यात्व अनिवर्चनीयता पर आधारित है। परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया को अद्वैत वेदान्त में अनिवर्चनीय कहा गया है। शांकर वेदान्त और वल्लभ दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शांकरवेदान्तसम्मत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान् की माया शक्ति की सहायता से आविर्भूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कार्य रूप जगत् के ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा का फल होने के कारण उसका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कार्यकारणवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठान-वाद[4] एवं अध्यारोपवाद[5] का समर्थन किया है उसका भी वल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप का फल है। इसके विपरीत वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है[6] और शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं माया उपादान कारण है।[7] इस प्रकार शांकर वेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अद्वैत वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहकर विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवर्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शांकर वेदान्त एवं वल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है। अंशांशि भाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।[8] इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है—शांकर

---

१. गौ० का० ४।५८।
२. अणु भाष्य १।१।६।
३. मायायाअपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमदभिन्नत्वात्।—प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१, २।१।२८ तथा देखिए वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—४६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
६. देखिए—पुरुषोत्तमाचार्य की टीका—अणुभाष्य, पृष्ठ ९०।
७. वेदान्त सार, ११।
८. अणु भाष्य २।३।४३।

वेदान्त में जीव की सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ-दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[1] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभुत्व का भी शांकर वेदान्त में विरोध है। शांकर वेदान्त के अनुरूप विभुत्व जीव में न होकर ब्रह्म में है। वल्लभ-वेदान्त और शांकर वेदान्त के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकर वेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। इस मत के अनुसार भक्ति का पर्यवसान भी ज्ञान में ही होता है। स्वयं कृष्ण ने भी भक्त की अपेक्षा ज्ञानी को ही अपना अधिक प्रिय माना है (गीता ७।१७), परन्तु आचार्य वल्लभ का मत शांकर वेदान्त के मत से विपरीत है। जैसा कि वल्लभ दर्शन की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते समय कह आए हैं, भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[2] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भक्ति का अंग बतलाया गया है।

शांकर वेदान्त और वल्लभ-दर्शन की मुक्तिपरक विचारधारा का प्रमुख भेद भी विवेच्य है। वल्लभ दर्शन की भगवत्सायुज्यादिस्वरूपिणी मुक्ति शांकर वेदान्त की जीवैक्य-स्वरूपिणी मुक्ति से तो भिन्न है ही, साथ ही दोनों दर्शनपद्धतियों की आत्मानुभवसम्बन्धिनी दृष्टि में भी मौलिक भेद है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति में जो आनन्दानुभव होता है वह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से अतीत है, क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।[3] इसके विपरीत जैसा कि वल्लभदर्शनानुगत मुक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि शांकर वेदान्त और वल्लभ-वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर यत्किंचित् साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद है। जैसा कि दोनों दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों की समता को प्राप्त वल्लभदर्शन के सिद्धान्तों पर शांकर वेदान्त का प्रभाव निःसंकोच कहा जा सकता है।

कतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुजाचार्य आदि चार वैष्णव आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य वैष्णव भी हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। इन वैष्णव भक्त एवं आचार्यों में चैतन्य महाप्रभु, जीवगोस्वामी एवं बलदेवविद्याभूषण प्रमुख हैं। यहां इन वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त इन वैष्णवों के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त से, जहां जो साम्य एवं वैषम्य मिलता है, उसका भी स्थान-स्थान पर निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

महाप्रभु चैतन्य लिखित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा की जा सके। अतः उनके दार्शनिक सिद्धान्त के यत्किंचिद् बीज उनके चरित-ग्रन्थों में ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। यहां, इन चरितग्रन्थों के आधार पर ही चैतन्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चैतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अतः भगवान् और जगत् में भेद है या अभेद, यह भी अचिन्त्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद पड़ा है।[1] भेदाभेद के अचिन्त्य होने के कारण चैतन्यसम्प्रदाय के अनुरूप जगत्, शांकर वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलयकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन हो जाता है।[2]

शांकर वेदान्त की तरह चैतन्यसम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया सगुण माना गया है। ब्रह्म की अनेक शक्तियां हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के प्रमुख तीन रूप हैं—विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति।[3] विष्णु शक्ति के भी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् भेद से तीन भेद हैं, सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियां पराशक्ति या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चैतन्यदर्शन का ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विशिष्ट है। श्रीमद्भगवदगीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्तृत्व की विचारणा मिलती है।[4] माया शक्ति से सम्पन्न, चैतन्य दर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है, ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् यद्यपि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'यदुत्पादि तद्विनाशितत्' के अनुसार विनाशशील अवश्य है। यही शांकर वेदान्त और चैतन्य दर्शन के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का भेद है। शांकर वेदान्त का जगत् परमात्मा की अविद्या शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत हमें चैतन्य एवं रामानन्द के संवादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के करने पर भग-

---

१. स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदावंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। (जीव गोस्वामी, सर्वसंवादिनी)।

२. 'आत्मावाइद' मित्यादौ वनलीनविहंगवत्।
सत्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः ।। (प्रमेयरत्नावली ३।२)

३. विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ।। विष्णु पुराण ६।७।६१।

४. भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (गीता १८।६१)।

वान् की भक्ति की प्राप्ति होती है।[1] परन्तु भक्तिरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्य चरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार का कथन है कि उत्तमाभक्ति समस्त अभिलाषाओं से शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है। इस प्रकार आनुकूल्य के साथ भगवान् कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।[2] यहां यह उल्लेख्य है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से सहमत नहीं थे कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त असहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वरप्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की वह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत्प्रेम के द्वारा समस्त कर्मविधान का त्याग कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगर्भित स्थिति आती है जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का बाधक न होकर साधक ही है।[3]

पंचधा-भक्ति—भगवान् के प्रति भक्त का जो स्वाभाविक एवं अविच्छेद्य अनुराग होता है, उसे प्रेमाभक्ति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। यह पांच भेद शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य हैं।

शुद्धाभक्ति—चैतन्य ने शुद्धाभक्ति की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है।[4] शुद्धभक्तिसम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामना की पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। शांकर वेदान्त एवं चैतन्य-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य होते हुए भी यह साम्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शांकर वेदान्त के अन्तर्गत कर्म का मुक्ति से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आचार एवं दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चैतन्यविचारपद्धति के अनुसार भी भक्त के लिए आचार की महती उपयोगिता बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ है कि कृष्ण के भक्त को दयालु, सत्यपालक, समानदृष्टिवाला, अनपकारी, उदारचेता, मृदुल, शुद्ध निःस्वार्थी, एवं शान्त होना चाहिए।[5] इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष पर समान रूप से बल दिया गया है।

महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

महाप्रभु चैतन्य लिखित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा की जा सके। अतः उनके दार्शनिक सिद्धान्त के यत्किंचिद् बीज उनके चरित-ग्रन्थों में ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। यहां, इन चरितग्रन्थों के आधार पर ही चैतन्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चैतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अतः भगवान् और जगत् में भेद है या अभेद, यह भी अचिन्त्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद पड़ा है।[1] भेदाभेद के अचिन्त्य होने के कारण चैतन्यसम्प्रदाय के अनुरूप जगत्, शांकर वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलयकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन हो जाता है।[2]

शांकर वेदान्त की तरह चैतन्यसम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया सगुण माना गया है। ब्रह्म की अनेक शक्तियां हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के प्रमुख तीन रूप हैं—विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति।[3] विष्णु शक्ति के भी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् भेद से तीन भेद हैं, सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियां पराशक्ति या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चैतन्यदर्शन का ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विशिष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्तृत्व की विचारणा मिलती है।[4] माया शक्ति से सम्पन्न, चैतन्य दर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है, ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् यद्यपि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'यदुत्पादि विनाशितत्' के अनुसार विनाशशील अवश्य है। यही शांकर वेदान्त और चैतन्य दर्शन के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का भेद है। शांकर वेदान्त का जगत् परमात्मा की अविद्या शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत हमें चैतन्य एवं रामानन्द के संवादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के करने पर भग-

---

१. स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदावंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमतेतु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। (जीव गोस्वामी, सर्वसंवादिनी)।

२. 'आत्मावाइद' मित्यादौ वनलीनविहंगवत्।
सत्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः॥ (प्रमेयरत्नावली ३।२)

३. विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥ विष्णु पुराण ६।७।६१।

४. भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (गीता १८।६१)।

वान् की भक्ति की प्राप्ति होती है।[1] परन्तु भक्तिरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्य चरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार का कथन है कि उत्तमाभक्ति समस्त अभिलाषाओं से शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है। इस प्रकार आनुकूल्य के साथ भगवान् कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।[2] यहां यह उल्लेख्य है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से सहमत नहीं थे कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त असहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वरप्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की वह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत्प्रेम के द्वारा समस्त कर्मविधान का त्याग कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगर्भित स्थिति आती है जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का बाधक न होकर साधक ही है।[3]

पंचधा-भक्ति—भगवान् के प्रति भक्त का जो स्वाभाविक एवं अविच्छेद्य अनुराग होता है, उसे प्रेमाभक्ति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। यह पांच भेद शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य हैं।

शुद्धाभक्ति—चैतन्य ने शुद्धाभक्ति की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है।[4] शुद्धभक्तिसम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामना की पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। शांकर वेदान्त एवं चैतन्य-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य होते हुए भी यह साम्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शांकर वेदान्त के अन्तर्गत कर्म का मुक्ति से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आचार एवं दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चैतन्यविचारपद्धति के अनुसार भी भक्त के लिए आचार की महती उपयोगिता बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ है कि कृष्ण के भक्त को दयालु, सत्यपालक, समानदृष्टिवाला, अनपकारी, उदारचेता, सहृदय, शुद्धनिःस्वार्थी, एवं शान्त होना चाहिए।[5] इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष पर समान रूप से बल दिया गया है।

जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप

जीवगोस्वामी का कथन है कि मूलतः तो ब्रह्म भगवान् एवं परमात्मा में भेद नहीं है परन्तु फिर भी एक मूल सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन होने के कारण और तदनुरूप उपासक पुरुष के अनुभव के कारण ब्रह्म, भगवान् या परमात्मा शब्दों का व्यवहार होता है।[1] जब पूर्ण सत्य रूप ब्रह्म और उसकी शक्तियों का भेद नहीं दिखायी पड़ता तो उसे ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जब यह मूल सत्ता (ब्रह्म) अपनी मूल एवं स्वरूपस्थित शक्ति के द्वारा अन्य विभिन्न शक्तियों का आधार बन जाती है और भक्त को विविध शक्तियों से मण्डित दिखाई पड़ती है तो उसे भगवान् कहते हैं। इस प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार आनन्द विशेष्य, समस्त शक्तियां विशेषण, एवं भगवान् विशिष्ट हैं।[2] यही भगवान् जब जीवों और उनकी क्रियाओं का नियन्ता होता है तो परमात्मा कहलाता है। जीवगोस्वामी के मतानुसार भगवान् ब्रह्म का ही पर्याय-वाची है—(भगवान् ब्रह्म संज्ञितः। षट् सन्दर्भ, पृष्ठ २५४)।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म अद्वैत वेदान्त दर्शन के समान शुद्ध चित् एवं विषय, माया अथवा अज्ञान का आश्रय नहीं है, अपितु उसका माया से अचिन्त्य सम्बन्ध है। अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मा स्वयं जगत् का निमित्त कारण एवं अपनी शक्तियों के कारण उपादान कारण है।[3]

परमात्मा ही संकर्षण या महाविष्णु (समस्त जीवों एवं प्रकृति का स्वामी) प्रद्युम्न (समष्टि जीवान्तर्यामी) एवं प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी रूप को स्वयं धारण करता है।

भगवान् की शक्तियां

भगवान् की मूल शक्ति अचिन्त्य है। दुर्घटघटकता की सामर्थ्य होने के कारण ही भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य कहा गया है।[4] अचिन्त्य शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है। भगवान् की शक्ति के प्रधान रूप से नीचे लिखे तीन भेद मिलते हैं—

(१) अन्तरंग स्वरूप शक्ति (२) तटस्थ शक्ति और (३) वहिरंग माया शक्ति।

अन्तरंग स्वरूप शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है।[5] भगवान् की द्वितीय तटस्थ शक्ति का प्रतिनिधित्व जीव करते हैं। इस प्रकार शुद्ध जीव तटस्थ शक्ति के प्रतीक हैं। जगत् भगवान् की वहिरंग माया शक्ति के ही विकास का फल है। इन शक्तियों में प्रथम स्वरूप शक्ति एवं तृतीय वहिरंग माया शक्ति में परस्पर वैषम्य स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी जीवगोस्वामी के मतानुसार उनका एक निधान परमात्मा ही है।[6] यही भगवान् का दुर्घटघटक अचिन्त्य-शक्तित्व है। वहिरंग माया शक्ति का प्रभाव जीवों पर ही हो सकता है, भगवान् पर नहीं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त का ईश्वर मायावी होते हुए भी माया से अस्पृष्ट रहता है। परन्तु दोनों की

---

१. जीवगोस्वामी, षट् सन्दर्भ पृष्ठ ५०।

२ आनन्द मात्रं विशेष्यम्, समस्ताः शक्तयः विशेषणानि, विशिष्टो भगवान्।—षट् सन्दर्भ, पृ० ५०।

३. षट् सन्दर्भ, पृ० २५०।

४. दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्।

५. षट् सन्दर्भ, पृ० ६५।

६. षट् सन्दर्भ, पृ० ६१।

आनन्द स्वरूपवान् परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करते हुए अद्वैतस्थिति को प्राप्त होता है। आनन्द की इस अनुभूति के द्वारा भक्त के समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है।

मुक्ति का विचार करते हुए यह भी द्रष्टव्य है कि परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले मुक्त पुरुष का जगत् के प्रति कैसा व्यवहार होता है। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचार योग्य है कि मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का लोप नहीं हो जाता। मुक्त पुरुष का यही वैशिष्ट्य है कि वह जगत् को ईश्वर का ही अंश समझता है। उसके लिए जगत् के समस्त सम्बन्ध एवं आकर्षण मिथ्या प्रतीत होते हैं। जहां तक मुक्त पुरुष के कर्म फल भोग का प्रश्न है वह केवल प्रारब्ध कर्मों के फल का ही भोग करता है, परन्तु इन प्रारब्ध कर्मों के फल के भोग में ही न उसकी इच्छा होती है और न उससे वह बद्ध होता है।

परमात्मसाक्षात्कार की उपर्युक्त स्थिति में माया का अविद्याकार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार माया की पूर्ण निवृत्ति ही मोक्ष की पूर्णता की स्थिति है।

मुक्ति के अन्य रूप—मुक्ति की उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त जीवगोस्वामी ने सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य, और सायुज्य रूप से मुक्ति के पांच भेद और माने हैं, परन्तु जीवगोस्वामी का कथन है कि सच्चा भक्त परमात्मा की मुक्ति से ही सन्तुष्ट रहता है, उसे उपर्युक्त मुक्तियों की अपेक्षा नहीं है।[1]

जीवगोस्वामी और भक्ति का स्वरूप—भक्त का भगवान् में पूर्णतया लीन हो जाने का नाम ही भक्ति है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुमुक्षु को ज्ञान-वैराग्य आदि अभ्यास की अपेक्षा है, परन्तु भक्त को ज्ञान एवं वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है।[2] भक्ति का एक दूसरा रूप भी है जिसके अनुरूप ज्ञान के द्वारा भक्त का चित्त सांसारिक विषयों से हट कर परमात्मा में लीन होता है। इनमें भक्ति का प्रथम रूप ही प्रशस्त है। दोनों प्रकार की भक्ति का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना ही है, अतः कुल मिलाकर भक्ति अहेतुकी भी कहलाती है। क्योंकि सच्चे भक्त का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। जीवगोस्वामी ने भक्ति को ही मुक्ति का रूप दिया है।

भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के द्वारा ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव है।[3] भक्त को समस्त कर्त्तव्यादि कर्मों एवं वैराग्यादि के पोषक कर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भक्त को प्रत्येक कर्म भगवदर्पण बुद्धि से करना चाहिए। इस प्रकार भक्त्यनुष्ठान को जीवगोस्वामी ने कर्मानुष्ठान की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। जीवगोस्वामी ने भक्ति को जीवन्मुक्ति से भी श्रेष्ठ कहा है। जीवगोस्वामी का कथन है कि जीवन्मुक्त पुरुष पुनः बन्धन को प्राप्त हो सकते हैं,[4] परन्तु भक्त का पतन नहीं होता। भक्त्यनुष्ठान में तो सदा आनन्द की ही स्थिति देखी जाती है।

भगवन्नाम का महत्त्व—जीवगोस्वामी का मत है कि वैसे तो एकमात्र भगवन्नाम ही जीव के घोरातिघोर पापों के विनाश में समर्थ है, परन्तु, यदि किसी में कौटिल्य, अश्रद्धा एवं

---

१. षट् सन्दर्भ, पृ० ६६१।
२. भजताम् ज्ञानवैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्ति। षट् सन्दर्भ पृ० ४८१।
३. षट् सन्दर्भ, पृ० ४५४।
४. षट् सन्दर्भ, पृ० ५७५।

इस प्रकार की वस्तुओं में अनुराग है जो भगवद्भक्ति में बाधक हैं तो उसमें भगवान् के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।[1] यदि किसी व्यक्ति के पूर्वकृत पाप नहीं हैं तो उसे एक बार भगवान् का नामसंकीर्तन करना ही पर्याप्त है। यदि वह एक बार नामसंकीर्तन करने के पश्चात् फिर घोर पाप नहीं करता है तो उसे एक बार का ही नाम संकीर्तन पर्याप्त है।[2] मृत्युकाल के समय तो यदि कोई एक बार ही भगवान् का नाम ले लेता है तो उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह भगवान् के साथ अत्यन्त निकटसामीप्य को प्राप्त करता है।[3]

भक्ति की नौ विशेषताएं—जीवगोस्वामी ने श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन रूप से भक्ति की नौ विशेषताएं बतलाई हैं।[4]

भक्ति के भेद—प्रयोजनीय लक्ष्य की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद हैं—सकाम भक्ति, कैवल्यकाम भक्ति और भक्तिमात्रकामा भक्ति। सकाम भक्ति के अनुरूप मनुष्य साधारण अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की भक्ति करता है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रतीत होता है, कैवल्यकाम भक्ति का अनुयायी भक्त जीव और परमात्मा के ऐक्य रूप कैवल्य के उद्देश्य से भक्ति करता है। इस भक्ति के अन्तर्गत भक्त ज्ञान एवं योग का आश्रय भी लेता है। तृतीय भक्तिमात्रकामा भक्ति के अनुसार भक्त के समस्त ज्ञान एवं कर्मों का उद्देश्य एक मात्र भगवान् की भक्ति ही है, अन्य कोई लौकिक अथवा अलौकिक कामना नहीं यही भक्ति का प्रशस्त रूप है।

शरणागति भाव और उसके प्रमुख तत्त्व—भक्ति परम्परा के अन्तर्गत शरणागति का भाव प्रमुख भाव है। इस भाव के अनुसार मनुष्य सब ओर से निराश होकर एकमात्र भगवान् की ही शरण ग्रहण करता है।

वैष्णव तन्त्र के आधार पर शरणागति का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने शरणागति भाव के प्रमुख तत्व—भगवान् के अनुकूल संकल्पना, भगवान् के प्रतिकूल विषयों का त्याग, भगवान् के रक्षकत्व में पूर्ण विश्वास, अपनी रक्षा के लिए भगवान् को वरण करना, आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य बतलाए हैं।[5]

उपर्युक्त शरणागति के समस्त तत्त्वों में भगवान् में आत्मरक्षा का विश्वास करना सर्वसुन्दर तत्त्व है। अन्य तत्त्व येनकेनप्रकारेण इसीसे सम्बद्ध हैं।

भक्तों की विभिन्न कोटियां—जीवगोस्वामी ने प्रमुख रूप से भक्तों की तीन कोटियां बतलाई हैं, प्रथम कोटि के भक्त वे हैं जो समस्त जीवों में ईश्वर के ही दर्शन करते हैं। ये जगत् के जीवों को अपने एवं ईश्वर के ही अंश के रूप में मानते हैं। ये भक्त अपने आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए सांसारिक जीव इनके अंश कहे गए हैं। ये उत्तम कोटि के भक्त कहलाते हैं। द्वितीय कोटि के भक्त वे हैं जो ईश्वर के प्रति प्रेम, भगवान् के अधीन भक्तों के प्रति मैत्री, अबोधों के प्रति दया और शत्रुओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखते

1. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३३-५३४
2. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।
3. षट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।
4. षट् सन्दर्भ, पृ० ५४१।
5. षट् सन्दर्भ, पृ० ५६३।

हैं[1] ये भक्त मध्यम कोटि के भक्त कहलाते हैं। तीसरी कोटि के भक्त वे हैं जो श्रद्धापूर्वक भगवान् की ही पूजा करते हैं, परन्तु भगवान् के भक्तों एवं अन्य पुरुषों के सम्बन्ध में उनमें किसी विशेष भाव का उदय नहीं देखा जाता।[2] ये अधम कोटि के भक्त कहलाते हैं।

उत्तम भक्त का लक्षण जीवगोस्वामी ने यह भी बतलाया है कि जिसके चित्त में सकाम कर्मों का भाव नहीं उदित होता और जो सदा भगवान् में ही अनुरक्त रहता है, वह उत्तम कोटि का भक्त है।[3] एक अन्य प्रकार से उत्तम भक्त का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने कहा है कि जिसमें अपने पराये का भेद नहीं है और जो समस्त जीवों का मित्र एवं शान्त है वही उत्तम कोटि का भक्त है।[4] इसके अतिरिक्त जिनके हृदय को भगवान् वरण कर लेते हैं और तदनुसार जिनका हृदय भगवान् के चरणकमलों में प्रेम करता है उन्हें भी जीवगोस्वामी ने उत्तम कोटि का भक्त कहा है।[5]

अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण)

जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रमुख आधार वैष्णव भक्ति है, परन्तु फिर भी अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। यहां जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख करेंगे।

जीवगोस्वामी एवं अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और उसके साक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भक्त विभिन्न गुणों एवं शक्तियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब भक्त अपने शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार करता है तो उसे ब्रह्म के शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है।[6] यह विषय अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अनुसार भी जब जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसे ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार स्वयं हो जाता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आत्मबोध का नाम ही ब्रह्मसाक्षात्कार या परमात्मसाक्षात्कार है। अविद्या के कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अज्ञाननाश को ही अद्वैत वेदान्त में मोक्ष कहा गया है।[7] यही स्वरूपज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी के ब्रह्मसाक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है।

जीवगोस्वामी और अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मसाक्षात्कार विषयक सिद्धान्त में उपर्युक्त समानता होते हुए भी यह वैषम्य है कि जहां अद्वैतवेदान्तानुगत सिद्धान्त के अनुसार जीव को, स्वरूप बोध के लिए तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अनुशीलन की उपादेयता बतलाई गई है वहां

---

१. ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्स्वपि।
प्रेममैत्रीकृपापेक्षा यः करोति स मध्यमः॥—षट् सन्दर्भ, पृ० ५६२।

२. वही, पृ० ५६४।

३. वही, पृ० ५६४।

४. षट् सन्दर्भ, पृ० ५६५।

५. षट् सन्दर्भ, पृष्ठ ५६५।

६. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol : IV, P. 397.

७. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ १२६।

जीवगोस्वामी के अनुसार निरन्तर भक्ति अथवा भगवत्कृपा के द्वारा ही ब्रह्म साक्षात्कार संभव है। भगवत्कृपा भी भक्ति का ही फल है।

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है। इस विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। इसके अतिरिक्त माया को त्रिगुणात्मिका[१] एवं जड भी कहा गया है। अद्वैत वेदान्त की ही तरह जीवगोस्वामी की दार्शनिक विचार धारा के अनुसार भी माया परमात्मा की शक्ति है—माया शब्देन शक्तिमात्रमपिमन्यते (षट् सन्दर्भ, पृष्ठ ७३) साथ ही साथ जीवगोस्वामी अद्वैतवेदान्त के ही समान माया को त्रिगुणात्मक भी मानते हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार यह त्रिगुणात्मिका माया जड भी है।[२] इस प्रकार माया का शक्तित्व, जड़त्व एवं त्रिगुणत्व अद्वैत वेदान्त एवं जीव-गोस्वामी के दार्शनिक विचार में समान है। जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के विषय में भी साम्य है कि अविद्या ही जीव में द्वैतबुद्धि की जननी है। इसके अतिरिक्त दोनों दर्शन पद्धतियों की यह समानता भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायावी ईश्वर स्वयं माया से स्पृष्ट नहीं होता[३], उसी प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार भी भगवान् की माया भगवान् पर अपना प्रभाव डालने में अक्षम है।[४] शंकराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा भी संसारमाया से स्पृष्ट नहीं है। (ब्र० सू०, शा० भा० २।१।९)।

परमात्मा के क्षेत्रज्ञत्व का विचार भी दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उपलब्ध है, परन्तु दोनों का यह अन्तर भी निर्दिश्य है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत निर्विशिष्ट चित्स्वरूप ईश्वर क्षेत्रज्ञ है और जीवगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित दर्शनपद्धति के अनुसार क्षेत्रज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा है।[५]

अद्वैत वेदान्त ही की तरह जीवगोस्वामी के मतानुसार भी परमात्मा जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और जीवगोस्वामी के मतानुसार अनन्त शक्तियों के द्वारा परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त और अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत यह सिद्धान्त साम्य भी विचार्य है कि दोनों दर्शन पद्धतियों के ही अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई मिथ्या दृष्टि का ही विनाश होता है।

विकार होने के कारण सत्य है। अतः शाक्त मत के अनुसार द्वैत भी है और अद्वैत भी। द्वैत इसलिए है कि जगत् के समस्त दृश्यमान पदार्थ सत्य हैं और अद्वैत इसलिए है कि चित् शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र एवं सर्वदा है।[१] परन्तु यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि शाक्तसम्प्रदाय उक्त सिद्धान्त की स्थापना में सफल नहीं हो सका है। मूलतया ब्रह्मरूपिणी चित् शक्ति से विकार की उत्पत्ति की कल्पना ही निरर्थक है। जहां तक साधना पक्ष की बात है, वहां न द्वैत सहायक है और न अद्वैत ही। कुलार्णव तन्त्र में शिव ने स्वयं कहा है कि कुछ द्वैत और कुछ अद्वैत प्रिय हैं, परन्तु ये दोनों ही मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते, जो द्वैताद्वैतविवर्जित है।[२]

तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थों में कलियुग में तान्त्रिक उपासना का विशेष महत्त्व बताया गया है। कहीं-कहीं तो यह भी कह दिया है कि कलियुग में बिना आगममार्ग के गति ही नहीं है।[३] कलियुग अन्य युगों की अपेक्षा पाप एवं अनाचार का युग है। ऐसे युग में ज्ञान के द्वारा मुक्ति की उपलब्धि अत्यन्त दुःसाध्य है। इसीलिए तन्त्र ग्रन्थों में, तान्त्रिक उपासना का कलियुग में विशेष महत्त्व बतलाया गया है। तन्त्र शास्त्र की शाक्त आराधना का विषय पारलौकिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है। इस शास्त्र की इससे अधिक लौकिकता और क्या हो सकती है कि इसमें मैथुन भी आराधना का अंग है।[४] शाक्त मत के अन्तर्गत स्त्रीपूजा के समर्थकों का विचार है कि जिस प्रकार रंगरेज रंग के द्वारा किसी वस्त्र के वर्णचिह्नों को दूर कर देता है, उसी प्रकार सम्भोगादि 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार साधक की वृत्ति को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं।[५] अतः यह निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि तन्त्र मत की स्त्री-उपासना या शक्ति-उपासना के कारण शाक्त साधना ज्ञानपुष्ट अद्वैत साधना की अपेक्षा अधिक सरल है। किसी-किसी समालोचक ने तो स्त्री-उपासना से सम्बन्धित कोमलता को ही शाक्त आराधना के प्रचार प्रसार का प्रधान कारण माना है।[६]

वेदान्तिक अद्वैतवाद और काश्मीरी शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद

क्रमणिका—शैव तन्त्र की साधना का प्रमुख तत्व शिव तत्व है। वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्य में शिव तत्व की साधना के अनेक रूप मिलते हैं। यद्यपि एस० के० बेलवल्कर एवं आर० डी० रानाडे प्रभृति भारतीय दर्शन के समालोचक विद्वानों ने शैव तन्त्र का मूल उद्गम महाभारत से ही माना है,[७] परन्तु इस लेखक के दृष्टिकोण से शिव तत्त्व का मूल

---

१. चिद्गगनचन्द्रिका, श्लोक ५६।
२. कुलार्णव तन्त्र, १।११०।
३. सत्यंसत्यंपुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते।
   विनाह्यागममार्गेण कलौ नास्तिगतिः प्रिये—महानिर्वाण तन्त्र २।७।
४. कर्पूरादिस्वतराज १०। तथा देखिए—कर्पूरादिस्तवराज १० की व्याख्या—गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास।
५. Poussin's Opinions, pp. 403, 405, 406.
६. *D. C. Sen* : History of Bengali Language & Literature, p. 251.
७. *S. K. Belvalkar and Ranade* : History of Indian Philosophy, Vol. VII, p. 5, Poona 1933.

स्रोत हमें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद में ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में रुद्र के स्वरूप का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[1] ऋग्वेद के अन्तर्गत ही रुद्र शिव को सर्वोच्च शक्ति का रूप दिया जा चुका था।[2] यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय तो शिवाराधना के लिए प्रसिद्ध ही है। इस अध्याय के अन्तर्गत एक रुद्र के स्थान पर अनेक रुद्रों की चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के लिए पशुपति, कपर्दी, शर्व भव, शम्भु और शिव आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अथर्ववेद के अन्तर्गत रुद्र के स्वरूप का वर्णन और उच्चतर स्थिति के रूप में किया गया है। अथर्ववेद में भी रुद्र के अनेक नामों की चर्चा है, परन्तु वहां रुद्र के पृथक्-पृथक् नामों के अनुसार पृथक्-पृथक् देवताओं की कल्पना भी की गई है। उदाहरण के लिए, रुद्र के नामों में से भव और शर्व को अथर्ववेद में पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में चित्रित किया गया है और इन्हें द्विपदों एवं चतुष्पदों का शासक कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण एवं कौषीतकि ब्राह्मण में रुद्र को उषस् का पुत्र बतलाया गया है।[4] उक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति द्वारा दिए गए रुद्र के अष्ट नामधेयों—रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशान नामों की चर्चा भी मिलती है। इनमें रुद्र, शिव, उग्र और अशनि संहार शक्ति के सूचक हैं और भव, पशुपति महादेव और ईशान आरम्भक शक्ति के। गृह्य सूत्रों में रुद्र का उल्लेख भयानक देव के रूप में मिलता है।[5] उपनिषदों में भी रुद्र शिव के स्वरूप का वर्णन विविध रूप से मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत महेश्वर को मायी कहा है।[6] केनोपनिषद् में संकेत रूप से शिव की पत्नी के रूप में उमा की चर्चा मिलती है (केनोपनिषद् ३।१२)। उत्तरकालिक उपनिषद् अथर्वशीर्ष में रुद्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। अथर्वशीर्षोपनिषद् में रुद्र का ब्रह्म रूप में भी वर्णन मिलता है।[7] वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में शिव-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के पाशुपतास्त्र मांगने और उसके प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन भी मिलता है। शिव पुराण का तो प्रधान विषय ही शिव के स्वरूप, महात्म्य एवं साधना का निरूपण है।

ऊपर किए गए विवेचन से हमें शैव दर्शन की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में जो रुद्र शिव एवं शिव के अनेक रूपों से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, उनमें शैव दर्शन के बीजतत्त्व—शिव का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है। अनेक शैवागमों की रचना भी शैव सिद्धान्त के उत्तरोत्तर विकास का ही फल है।

भेद से चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।[१] शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में माहेश्वरों के मत का उल्लेख किया हैं।[२] माहेश्वर शब्द को स्पष्ट करते हुए भामतीकार एवं रत्नप्रभाकार ने वामन पुराण के कालदमन के स्थान पर कारुणिक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय की चर्चा की है। अन्य सम्प्रदाय वामन पुराण के समान ही माने हैं।[३] कारुणिक सिद्धान्ती के ही स्थान पर शांकर भाष्य के टीकाकारों ने कारुक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय का भी संकेत किया है।[४] रामानुज तथा केशव काश्मीरी ने कारुक सिद्धान्ती के स्थान पर कालामुख नामक सिद्धांत का उल्लेख किया है।[५] यामुनाचार्य ने भी कालामुख नामक सम्प्रदाय का निर्देश किया है।[६] मेरे विचार से कालामुख कारुक का ही संस्कृत रूपान्तर है। इस प्रकार पाशुपत, शैव, कालामुख, और कापालिक, शैवों के ये चार विशेष सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त वीर शैव मत एवं काश्मीर शैव-मत के नाम से दो और उत्तरकालिक सम्प्रदाय मिलते हैं। वीर शैव मत का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ था और काश्मीर शैव मत का प्रचार-प्रसार उत्तर भारत में किया गया था।

उपर्युक्त षट् सम्प्रदायों में से पाशुपत एवं शैव सम्प्रदाय द्वैतवाद के समर्थक हैं। उक्त दोनों सम्प्रदायों के अन्तर्गत जीव (पशु) एवं शिव दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। इन सम्प्रदायों में प्रधान को जगत् का उपादान कारण सिद्ध किया गया है। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि उत्तर कालिक शैव सिद्धान्त द्वैतवादी न होकर विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थक प्रतीत होता है। वायवीयसंहिता आदि उत्तरकालिक शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार शिव उस शक्ति से सम्पन्न कहा गया है, जिसमें जीव और जगत् के मूल तत्व वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त कापालिक एवं कालामुख सम्प्रदाय भी द्वैतानुसर्ता ही हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक शंकराचार्य और कापालिका का विरोध तो प्रसिद्ध ही है। जहां तक कालामुख सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह भी कापालिक सम्प्रदाय का ही उत्कृष्ट रूप है। जहाँ तक वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त की समस्या है, इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को 'स्थल' कहा गया है। यह 'स्थल' भी अद्वैतवादियों के ब्रह्म की तरह सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। परन्तु दोनों सिद्धांतों में यह विशेष अन्तर है कि वीरशैवसिद्धान्त के अनुरूप 'स्थल' अपनी सूक्ष्म शक्ति के द्वारा लिंगस्थल एवं अंगस्थल रूपों में विभक्त हो जाता है। लिंगस्थल स्वयं शिवरूप तथा आराध्य है और अंग स्थल जीव का स्वरूप है। वीरशैव सिद्धान्त के उक्त कथन के विपरीत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव ब्रह्म का अंश या भाग न होकर अविद्योपाधिक है। इसके साथ ही साथ अद्वैत मत के अनुयायी एवं वीर शैव मतानुयायी के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुरूप जहां परमात्मा की शक्ति माया मिथ्या है, वहां वीर शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत 'स्थल' रूप भी शक्ति में जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व वर्तमान हैं। अतः

---

१. वामन पुराण ६।८६।९१।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७।
३. चत्वारोमाहेश्वराः—शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति। रत्नप्रभा ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७ तथा देखिए—ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७। पर भामती।
४. Collected Works of Sir R. C. Bhandarkar, Vol. IV, p. 172.
५. वही p. 172.
६. आगमप्रामाण्य, पृष्ठ ४८-४९।

वीर शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के समीप न होकर—रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समीप है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवाद एवं वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त में भी यह सूक्ष्म भेद विचारणीय है कि विशिष्टाद्वैतवाद मत में ब्रह्म के चिदचिद् विशिष्ट होने के कारण उसमें जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व स्थित हैं, जब कि वीरशैव सिद्धान्त के अन्तर्गत यह शिव की शक्ति ही है, जिसके द्वारा वह सृष्टि करता है।[1] उपर्युक्त पाशुपतादि पांच सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त काश्मीरी शैवदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवाद का बहुत कुछ समर्थन मिलता है। अतः यहां प्रथम काश्मीर शैव दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा और फिर वेदान्तिक अद्वैत के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

काश्मीर-शैवदर्शन का सैद्धान्तिक रूप

उत्तरकालिक अद्वैतिक शैवदर्शन का प्रचार क्षेत्र काश्मीर होने के कारण ही इस दर्शन का नाम काश्मीर शैवदर्शन पड़ गया है। सूक्ष्म समीक्षा करने पर काश्मीरी शैव दर्शन के भी दो शास्त्रीय रूप मिलते हैं—एक स्पन्द दर्शन और दूसरा प्रत्यभिज्ञा दर्शन। अतः यहां दोनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन करना उपयुक्त होगा।

स्पन्द दर्शन—स्पन्द दर्शन के प्रवर्तक स्पन्दकारिका के लेखक वसुगुप्त हैं। वसुगुप्त के ही शिष्य कल्लट स्पन्द दर्शन के प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त क्षेमराज आदि स्पन्ददर्शन के कतिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं। स्पन्ददर्शन के अनुसार शिव सर्वोच्च तत्त्व है। यह शिव तत्त्व कर्ता एवं कर्म तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप है।[2] यद्यपि यह शिव तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में गतिशील रहता है परन्तु इसका ज्ञातृत्व कभी नष्ट नहीं होता। स्पन्ददर्शन का परमात्मा शिव सुख-दुःख, ज्ञान, ज्ञातृत्व एवं जडत्वादि से रहित होकर अद्वैततत्त्व रूप है।[3]

स्पन्ददर्शन के शिव तत्त्व को संसार की सृष्टि के लिए न 'प्रधान' जैसे उपादान कारण की आवश्यकता है और न अद्वैत वेदान्तियों की मिथ्या माया की ही आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त स्पन्द दर्शन के अनुयायियों का शिव तत्त्व स्वयं उपादान कारण भी नहीं है। यह स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमात्मा संकल्प मात्र से अपने अद्वितीय स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति और संहार का कारण है।[4] यदि कहा जाए कि बिना उपादान कारण आदि की सहायता के परमेश्वर शिव किस प्रकार जगत् की सृष्टि-रचना में समर्थ होता है, तो इस सम्बन्ध में यह कहना संगत होगा कि जिस प्रकार मृत्तिका एवं बीजादि कारण के बिना ही योगियों की इच्छा मात्र से घट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर भी बिना उपादानादि कारण के जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है।[5] स्पन्द शास्त्र

के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त ने भी परमेश्वर को उपादानादि सामग्री एवं भित्ति के विना जगत् रूप चित्र का निर्माता कहा है[१]।

जहां तक अनेक जीवों का प्रश्न है, यह परमेश्वर शिव के ही रूप हैं। परमेश्वर शिव अपनी माया शक्ति के द्वारा अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है और अपनी व्यतिरिक्त पराशक्ति को ज्ञान एवं ज्ञेय भाव से अवभासित करता हुआ जाग्रत्, स्वप्न दशा के व्यवहार का संचालन करता है।[२]

स्पन्ददर्शन के आधार पर भगवान् शिव एवं जगत् की अद्वैतता का निरूपण करते हुए स्पन्दकारिका के टीकाकार क्षेमराज का कथन है कि भगवान् शिव अपने स्वातन्त्र्य भाव से अपृथक् जगत् के रूप को स्वभित्ति पर उसी प्रकार पृथक् रूप से प्रकाशित करता है, जिस प्रकार कि दर्पण नगर वास्तविक नगर से अपृथक् होते हुए भी पृथक् रूप से प्रकाशित होता है।[३] जहां तक परमात्मा शिव का जगत् के व्यवहारों से लिप्त होने का प्रश्न है, वह जगत् के व्यवहारों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार कि दर्पण प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थों से अस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार स्पन्ददर्शन के आचार्यों ने शिव की परमार्थ एवं अद्वैत तत्त्व के रूप में स्थापना करते हुए अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। स्पन्ददर्शन के अनुसार जीव और शिव में अभेद है। परन्तु जीव 'मल' के कारण शिव रूपता को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। इस 'मल' के भी तीन भेद हैं—आणव, मायीय और कार्मण। आणव मल के कारण जीव अज्ञान के कारण अपने व्यापक स्वरूप को भुलाकर अपने में अपूर्णता का अनुभव करता है। इसके साथ ही साथ आणव मल के कारण जीव देहादि को आत्मरूप मान लेता है। दूसरे प्रकार का मल 'मायीय' मल है। मायीय मल के प्रभाव के कारण जीव देह रूप में संसार में भ्रमण करता है। अन्तःकरणादि की प्रेरणा से जब इन्द्रियां क्रियाशील होती हैं तो कार्मण मल की उत्पत्ति होती है। कार्मण मल की उत्पत्ति का कारण वह कर्म हो सकता है, जिसके विषय में कर्ता की सुख एवं दुःख के दाता सत् और असत् कर्म की धारणा बन गई है।[४]

उपर्युक्त 'मल' का मूल 'नाद' है। नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। उसी से शब्द की उत्पत्ति होती है। नाद के मल का मूल होने का कारण यह है कि शब्द के विना कर्म के

---

१. अतएवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः—
निरुपादानसम्भारमभित्तावेवतन्वते।
जगच्चित्रम् नमस्तस्मै कलाश्लाघ्यायशूलिने॥
—माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ १७४-१७।

२. परमेश्वर एव स्वमायावशान्नानाक्षेत्रज्ञ रूपतयावभासमानः स्वामेव व्यतिरिक्तां परां शक्तिं ज्ञानज्ञेयभावेनावभासयन् जागरस्वप्नदशा व्यवहारमुद्भावयति। —स्पन्दकारिका १८ पर राम की टीका; तथा देखिए—*N. B. Utagikar*: Report on Search for Sanskrit for 1883-84. (Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. 2, page, 201.).

३. अपितु स एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामपि अतिरिक्तामिव जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः।—स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका, स्पन्दनिर्णय।

४. देखिए—क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी, सूत्र, १,२ और ३ (Published by the Kashmir Government).

आधार भूत भाव कारक एवं प्रेरक नहीं हो सकते। जब गम्भीर चिन्तन एवं सुदृढ़ योग के द्वारा साधक के हृदय में परमेश्वर का रूप प्रकट होता है और तत्फलस्वरूप समस्त सीमित भावों का विलय हो जाता है तो समस्त मलों की निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति में जीव परमात्मा रूप को प्राप्त हो जाता है। स्पन्द दर्शन में परमात्मा के साक्षात्कार को 'भैरव' कहते हैं।[1] स्पन्ददर्शन की यही संक्षिप्त रूप रेखा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी स्पन्द दर्शन के समान अद्वैत मत का ही समर्थक है। माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा के निम्नलिखित तीन अर्थ बतलाए हैं —

(१) बाह्याभ्यन्तर ज्ञान सुखादि समस्त सम्पत्तियों की सिद्धि तथा तत्वप्रकाश और उसकी पूर्ण प्राप्ति जिस प्रत्यभिज्ञा से हो, ऐसे महेश्वर की प्रतिमा के अभिमुख ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञा है।

(२) प्रत्यभिज्ञा का एक लौकिक व्यवहार भी देखने में आता है। उदाहरण के लिए, लोक व्यवहार में 'सोऽयं चैत्रः' (यह वही चैत्र है) इत्यादि स्थलों में अभिमुख वस्तुविषय के जो ज्ञान हैं उन्हें प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

(३) तीसरे प्रकार की प्रत्यभिज्ञा, दर्शन से सम्बन्धित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत पुराण, आगम एवं अनुमानादि से ज्ञात तथा परिपूर्ण शक्तिमान् परमेश्वर के अभिमुख होने पर, स्वकीय आत्मा के विषय में, अनुसन्धान द्वारा 'मैं वही परमेश्वर हूं' इस प्रकार का जो ज्ञान उदित होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[2]

प्रत्यभिज्ञा का उपर्युक्त तृतीय स्वरूप अद्वैत वेदान्त के 'स्वरूप ज्ञान' का रूप है। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव, जो स्वरूपतः परेश्वर शिव का रूप है, अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को पहिचानने में अशक्त रहता है। जिस प्रकार कि कोई नायिका प्रेमी नायक के गुणों को सुन, उस पर आसक्त एवं कामातुर होकर, विरह पीड़ा के सहने में असमर्थ हो मदनलेखा के आलम्बन से अपनी विरह विदीर्ण अवस्था का निवेदन करती है तथा वेगपूर्वक नायक के पास पहुंच कर उसका अवलोकन करने पर भी पूर्व-अपरिचित एवं जनसाधारण के समान होने के कारण, अपने भाव को व्यक्त नहीं कर सकती, परन्तु किसी के द्वारा यह विदित होने पर कि 'तुम्हारा प्रिय पुरुष यही है' अपने हृदयगत भाव को स्पष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्वात्मा में विश्वेश्वरात्मा भासित होने पर भी, विश्वेश्वरात्मा का प्रकाश गुणपरामर्श के बिना पूर्णता का सम्पादन नहीं करता। परन्तु जब गुण-वचनादि से सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि रूप परमेश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान हो जाता है तो जीवात्मा पूर्णतया आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[3] यदि कहा जाए कि पूर्ण प्रकाश स्वरूप परमात्मा जीव रूप को प्रकाशित करने में क्यों असमर्थ रहता है तो इस विषय में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार प्रेमी नायक अनेक प्रार्थनाओं द्वारा प्रेमिका के समीप स्थित होने पर भी अपरिचित होने के कारण एवं साधारण पुरुषों के समान होने के कारण रमण करने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप से प्रकाशमान विश्वेश्वर भी पूर्ण-

अपरिचित होने से निज वैभव प्रकट नहीं करता। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत परमेश्वर अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन अनन्त शक्तियों में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां विशेष हैं। परमेश्वर अपनी चित् शक्ति से प्रभावित होकर ही विभिन्न जागतिक विषयों के रूप में भासित होता है। यह परमेश्वर का योगी रूप है। इस प्रकार योगी रूप में परमेश्वर अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता।[१] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव अद्वैत सत्य रूप हैं। आनन्द शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वाभाविक आह्लाद का निरपेक्ष अनुभव करता है। इच्छा शक्ति के कारण परमेश्वर स्वतन्त्र तथा अबाधित इच्छा शक्ति से सम्पन्न है। ज्ञान शक्ति से वह आनन्द ज्ञान सम्पन्न है और क्रिया शक्ति से उसमें सर्वाकार ग्रहण करने की योग्यता है।[२]

अद्वैत सत्य रूप परमेश्वरशिव को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्य- नहीं है, क्योंकि वह सर्वप्रमाण पुष्ट है। तन्त्रालोककार ने शिव तत्त्व का वर्णन मायाण्ड संज्ञित ब्रह्म के रूप में किया है।[३] तन्त्रालोक के उक्त प्रकरण में मायाण्ड के द्वारा मायीय शिव की सृष्टि बतलाई गयी है, परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि तन्त्रालोककार अभिनव गुप्त द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा की माया अद्वैत वेदान्त एवं सांख्यादि की माया से भिन्न है। उन्होंने माया को गोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छा शक्ति के रूप में चित्रित किया है।[४] इसके अतिरिक्त राजानक क्षेमराजाचार्य ने परमेश्वर की माया के स्वरूप का निरूपण प्रकृति,[५] आवरणशक्ति,[६] एवं शक्ति[७] के रूप में ही बहुलता के साथ किया है।

स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रायः काश्मीरशैवदर्शन के मूल लेखकों एवं आलोचकों ने स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् निरूपण एवं विवेचन न करके दोनों सिद्धान्तों को मिला दिया है। स्वयं माधवाचार्य ने ही स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है। यद्यपि डा० बुहलर ने माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत विवेचित शैवदर्शन को स्पन्ददर्शन का ही रूप माना है[८] परन्तु बुहलर महोदय का उक्त कथन नितान्त असंगत है। अपने मत की पुष्टि में मेरा तर्क है कि माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्पष्ट करते हुए शिव सूत्र—'चैतन्यमात्मा' तथा वसुगुप्त की एक कारिका को उद्धृत किया है।[९] इसके विपरीत माधवाचार्य ने सर्व दर्शन संग्रह के अन्तर्गत शैव दर्शन का विवेचन करते समय स्पन्द दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त अथवा उनके किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन को स्पन्द दर्शन

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञासूत्र, ५-६।
२. शिव सूत्र विमर्शिणी, पृ० ५।
३. तन्त्रालोक ४।१८६।
४. तन्त्रालोक ४। २५४ तथा इसी स्थल पर देखिए जयरथ की टीका।
५. प्रत्यभिज्ञा हृदय—१।
६. वही, १७।
७. वही, ५।
८. Dr. Buhler's Report, 1875-1876.
९. Bibl. Ind. Ed. 91-95.

का मौलिक एवं सही सैद्धान्तिक रूप नहीं कहना चाहिए। इनके अतिरिक्त माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन एवं वसुगुप्त के स्पन्द दर्शन में भेद भी है। उदाहरण के लिए, शैव दर्शन में शिव केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं,[१] परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव संकल्प मात्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। जहां तक स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सैद्धान्तिक भेद का प्रश्न है, नीचे दिए गए विवेचन के अनुसार वह पूर्णतया स्पष्ट है।

स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह मौलिक भेद है कि स्पन्द शास्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा साधक को पहले भैरव या महेश्वर का चित्त में दर्शन होता है और फिर समस्त मलों की निवृत्ति होती है, जिससे परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत जीव का अपने को ईश्वर रूप जानना ही परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन है।[२] प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्रतिपादक आचार्य सोमानन्दनाथ का मत है कि एक बार प्रत्यक्षादि प्रमाण अथवा गुरुवाक्य यद्वा दृढ युक्तियों से सर्वभावस्थ शिवत्व का ज्ञान होने पर फिर अन्य साधनों अथवा भावना का प्रयोजन नहीं है। उदाहरण के लिए, सुवर्णादि का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके साधन कसौटी आदि से प्रयोजन नहीं होता।[३]

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु उक्त दोनों शैव दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत अद्वैतवाद की ही पुष्टि मिलती है। दोनों ही दर्शन पद्धतियों में जीव एवं परमात्मा के ऐक्य की बात कही गई है। दोनों ही के दार्शनिक विचारों के अनुसार जीव परमशिव रूप होते हुए भी अज्ञान वश अपने स्वरूप को भूला रहता है। सृष्टि, परमेश्वर की इच्छा शक्ति का फल है, यह सिद्धान्त भी दोनों ही पद्धतियों में मान्य है। इस प्रकार स्पन्दवादी एवं प्रत्यभिज्ञावादी, दोनों ही ईश्वराद्वयवाद के समर्थक हैं। यहां काश्मीरी शैव दर्शन के इन स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञवाद सिद्धान्तों का वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का ईश्वराद्वयवाद और वेदान्तिक अद्वैतवाद (तुलनात्मक विवेचन)

काश्मीरी शैव दर्शन के अन्तर्गत स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं। परन्तु इन शैव सिद्धान्तों एवं वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त में समानता के साथ ही असमानता भी है। यहां इन दर्शन सिद्धान्तों की अद्वैतवाद सिद्धान्त के साथ समानता तथा असमानता के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और स्पन्दवाद तथा प्रत्यभिज्ञावाद, इन तीनों सिद्धान्तों में तत्वतः

---

१. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 9, p. 202, 203.

२. वही, Vol. IV, p. 187.

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनया सकृत्।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्॥ —शिवदृष्टि (सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ १६६ से उद्धृत)

जीव एवं परमात्मा का ऐक्य स्वीकार किया गया है। यह बात दूसरी है कि वेदान्तिक अद्वैत-वाद के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म कहलाती है और इन शैव सिद्धान्तों में सर्वोच्च सत्ता को शिव कहा गया है। शैव दर्शन के ग्रन्थों में शिव का ब्रह्मरूप में वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसार अविद्या जीव के स्वरूपज्ञान में बाधक है, उसी प्रकार स्पन्दशास्त्र के अन्तर्गत आणव, मायीय और कार्मण मल जीव के पर-मेश्वर-साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करते हैं। अद्वैत वेदान्त की अविद्या निवृत्ति के समान ही स्पन्द दर्शन में भी जब उक्त त्रिविध मल का नाश हो जाता है तो जीव को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। इस त्रिविध मलका निरूपण हम स्पन्द दर्शन का विवेचन करते समय कर चुके हैं। स्पन्द दर्शन में आचार्य क्षेमराज ने जगत् के सम्बन्ध में जो दर्पणनगर का दृष्टान्त दिया है,[1] उसमें परमात्मा के, जगत् से अस्पृष्ट रहने का तात्पर्य ही प्रमुख है।[2] शांकर वेदान्त के अन्तर्गत भी परमात्मा माया और मायिक जगत् से अस्पष्ट ही रहता है।[3]

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर स्पन्ददर्शन पर वेदान्तिक अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं स्पन्द दर्शन के अद्वैतवाद में भेद भी मिलता है। उदाहरण के लिए, अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म, माया शक्ति के द्वारा जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है, परन्तु स्पन्ददर्शन के अनुसार परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है।[4] वह तो संकल्प मात्र से ही जगत् की सृष्टि करता है। इसके साथ-साथ वेदान्तिक अद्वैत-वाद एवं स्पन्दवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद में जगत् मायिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु स्पन्द दर्शन के अनुसार जगत् परमेश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। यहां यह विशेष रूप से विचारणीय है कि जगत् के शिवस्वरूप होने के कारण स्पन्द दर्शन की अद्वैतता में बाधा नहीं पड़ती।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रत्यभिज्ञा अद्वैत वेदान्त के स्वरूपज्ञान का ही अपर नाम है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप जीव वस्तुतः शिव रूप ही है, परन्तु अज्ञानवश शिवरूपता को भूला रहता है। जब जीव को अपने शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। यही बात वेदान्त के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी है। जीव अविद्यावश अपने स्वरूप ब्रह्म को भूला रहता है और जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद दोनों के ही अनुसार जीव स्वरूपतः शिव एवं ब्रह्म रूप है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन और वेदान्तिक अद्वैतवाद में उप-युक्त साम्य होते हुए भी भेद की रेखा भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बिना किसी उपादान के

---

१. जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः।

—स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका—स्पन्द निर्णय।

२. The illustration of a mirror is onlly applicable to this extent that he is not affected by his creation.—Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 2, p. 203.

३. एवं परमात्मापि संसार मायया न संस्पृश्यते।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।९।

४. मर्वंगदेन उपादानादिनैरपेक्ष्यं कर्तृत्वं नितम्।

—स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका।

महेश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति वेदान्तिक अद्वैतवाद के विपरीत है। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन में, वेदान्तियों के अद्वैतवाद की तरह परमेश्वर माया के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शनानुगत महेश्वर की इच्छा एवं क्रिया शक्तियां भी अद्वैत वेदान्त के पारमार्थिक एवं कूटस्थ ब्रह्म के लक्षणों के विपरीत है।

अभी जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि काश्मीरशैवदर्शन के स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ईश्वराद्वयवाद के सिद्धान्त शंकराचार्यप्रतिपादित अद्वैतवाद से अभिन्न एवं भिन्न दोनों हैं। परन्तु उपर्युक्त साम्यमूलक अध्ययन के आधार पर यह कहना पक्षपात पूर्ण न होगा कि काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वराद्वयवाद का सिद्धान्त शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से पूर्णतया प्रभावित है।

वेदान्त का अद्वैतवाद और योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद : तुलनात्मक विवेचन

योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद एवं कल्पनावाद तथा योगवासिष्ठानुसार जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म अनुशीलन न होने के कारण कतिपय समालोचक योगवासिष्ठ के अद्वैतवादी विचार को शांकर अद्वैतवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। निःसन्देह इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ ऐसी समानताएं हैं, जिनके आधार पर ये दोनों सिद्धान्त समान प्रतीत होते हैं। योगवासिष्ठ एवं शांकर अद्वैतवाद में समानता के अधोलिखित स्थल मिलते हैं।

(१) शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद, दोनों ही दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

(२) जीव और ब्रह्म के ऐक्य के द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है।

(अ) शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुरूप परमार्थ सत्ता ब्रह्म को 'सत्' तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में असद्वाद या शून्यवाद सम्बन्धी भ्रम के निवारणार्थ शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि दिक्, देश, गुण, गति और फल भेद से शून्य, परमार्थसत् अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत् के समान प्रतीत होता है।[1] आचार्य शंकर का कथन है कि ब्रह्म ही चरम सत्य है, न कि अभाव।[2] इसके विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को सत् न मानकर शून्य रूप कहा गया है।[3] यहां यह उल्लेख करना भी न्याय संगत होगा कि योगवासिष्ठ में ब्रह्म को शून्य एवं अशून्य तथा सत् एवं असत् से विलक्षण भी कहा है।[4] परन्तु इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म, जैसा कि ऊपर कहा गया है सत् तथा असत् से विलक्षण न होकर पूर्ण तथा सत् है। इस प्रकार शांकर अद्वैत एवं योगवासिष्ठगत अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के अन्तर्गत ब्रह्म के सत् पक्ष के सम्बन्ध में महान् अन्तर है।

(आ) योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर जगत् की स्वप्नता एवं विज्ञान मात्रता का उल्लेख मिलता है।[5] द्वितीय अध्याय में कल्पनावाद का विवेचन करते समय भी यह विस्तार से कहा जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् मानसिक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत योगवासिष्ठ के उक्त मत का विरोध मिलता है। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने जगत् की बाह्य सत्ता को निःसंकोच स्वीकार किया है।[6] इस प्रकार योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, स्वप्नवाद एवं विज्ञानवाद शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया गया है।

(इ) जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते समय योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में स्वप्न स्त्री सुरत, (यो० वा० ३।५४।२०) केशोण्ड्रक (६/२।१३९०।१३) तथा शशशृंग (यो० वा० १।५७।१६) के जो दृष्टान्त दिए हैं, वे अद्वैतवेदान्तिक दृष्टि के विरुद्ध हैं। शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक है। परन्तु यह माया शून्य या कल्पनामात्र न होकर सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (शशशृंगादिवदसत्) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। इस सम्बन्ध में डा० गंगानाथ झा का तर्क युक्तिपरक ही है कि यदि हम अविद्या के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करेंगे तब तो हमें आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना पड़ेगा।[7] इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के द्वारा स्वीकृत जगत् की उपादानकारणभूता माया और उससे उत्पन्न जगत्, योगवासिष्ठ[8] के समान अलीक नहीं हैं।

---

१. छा० उ०, शा० भा० ८।१।१ का प्रास्ताविक।
२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।
३. अस्मद्दृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम्।—यो० वा० ३।१०।३६।
४. ६/१-४८।१२—योगवासिष्ठ।
५. यो० वा० ६/२।५२।११, ३।५४।२०, ३।६२।५, ३।५७।२०, ३।५७।५४।
६. तस्माद् यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुम्—ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।
७. ......Were we to deny this, we should have to deny the inward self as well. Indian Thought, 1907, edited by *Dr. Thibout and G. N. Jha.*
८. अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते।
अलीकमेवाभ्येति तथालीकं विलीयते॥—यो० वा० ३।६७।७६।

(ऊ) शांकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठ प्रतिपादित अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी सिद्धान्त में भी भेद है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और अनिर्वचनीय माया का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय, वाह्य तथा अवर्णनीय है। इसके विपरीत योगवासिष्ठकार के मतानुसार जगत् के अनेक रूप शुद्धचित्रूप ब्रह्म की स्पन्द शक्ति के परिणाम हैं। यहां यह साश्चर्य विचारणीय है कि योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत शुद्धचित्रूप ब्रह्म की स्पन्दक्रिया के सम्बन्ध में किसी सैद्धान्तिक व्यवस्था का निर्देश नहीं मिलता। शुद्धचित् तत्त्व की स्पन्द क्रिया को योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार आकस्मिक या 'काकतालीय' कहा गया है।[1] डा० दासगुप्त ने उक्त न्यूनता को योगवासिष्ठ दर्शन का प्रमुख दोष माना है।[2]

(ए) योगवासिष्ठ का मुक्ति सम्बन्धी विचार भी शांकर अद्वैतवाद के मुक्ति विषयक विचार से बहुत कुछ भिन्न है। शांकर अद्वैतमत के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है। अतः शांकर दर्शन में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने के कारण मुक्त पुरुष भी ब्रह्म बोध हो जाने पर ब्रह्मरूपता को प्राप्त होकर आनन्दस्वरूप हो जाता है। इसके विपरीत योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का कोई निश्चित लक्षण न होने के कारण ब्रह्मज्ञानस्वरूप मुक्ति भी पाषाणवत् ही है।[3]

योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत कर्म एवं ज्ञान का समुच्चय सम्भव है। योगवासिष्ठकार ज्ञान एवं कर्म को जिज्ञासु के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हैं।[4] इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैत मत में कर्म केवल चित्तशुद्धि का साधन है। मुक्ति तो शांकर वेदान्त में ज्ञान द्वारा ही प्राप्तव्य है, कर्म द्वारा नहीं।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि योगवासिष्ठ का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद होते हुए भी वेदान्तिक अद्वैतवाद से कितना और किस प्रकार विलक्षण है। योगवासिष्ठ, किसी दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन की दृष्टि से लिखा हुआ ग्रन्थ न होने के कारण, उसके सिद्धान्तों में परस्पर एवं इतर सिद्धान्तों के साथ वैलक्षण्य एवं विरोध पाया जाना स्वाभाविक ही है।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और बौद्ध दर्शन (विज्ञानवाद एवं शून्यवाद): तुलनात्मक अध्ययन

बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदाय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन सिद्धान्तों में योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवाद के अत्यन्त समीप हैं, इस तथ्य का समर्थन आगामी विवेचन से स्वतः हो जाएगा। वैसे तो, शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं बौद्धों के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में प्राप्त साम्य के आधार पर ही मतप्राय समालोचकों ने अद्वैतवादी शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह दिया है। समालोचकों की इस धारणा का निर्णय शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक विवेचन स्वयं कर देगा। अतः इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् ही कुछ कहना औचित्यपूर्ण होगा। इस अवसर पर तो यह उपयुक्त

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta*: Indian Philosophy, Vol. 2, p. 271.
२. वही।
३. वही, पृष्ठ २७२।
४. वही।

होगा कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक विवेचन करने से पूर्व दोनों बौद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाए। अतः पहिले विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय

मैत्रेयनाथ और उनके शिष्य असंग विज्ञानवाद सिद्धान्त के मूल प्रतिपादक हैं। इन की कृति—महायानसूत्रालंकार विज्ञानवाद का मौलिक ग्रन्थ है। महायान सूत्रालंकार के अन्तर्गत प्रतिपादित विज्ञानवाद का विचार विज्ञानवादी अद्वयवाद एवं असंग के अद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

योगाचार और 'विज्ञान' का अर्थ—योगाचार सम्प्रदाय का ही दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञानवाद है। बौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम सत्य की उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही सम्भव बतलाई गई है, इसलिए इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार प्रचलित हुआ है। इस प्रकार योगाचार शब्द इस सम्प्रदाय के साधना पक्ष पर विशेष बल देता है, जब कि विज्ञानवाद उसके दार्शनिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

जहां तक 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत चित् तथा मन को विज्ञान का पर्यायवाची बतलाया गया है।[1] चित्त, मन तथा विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत कहा गया है कि चित्त 'आलय विज्ञान' है। इस प्रकार चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण ही 'चित्त' संज्ञा का प्रचलन हुआ है। मनन क्रिया करने के कारण मन संज्ञा का प्रचार हुआ है और विषय-ग्रहण में कारण होने के कारण विज्ञान शब्द का प्रवर्तन हुआ है।[2] त्रिंशिका के अन्तर्गत वसुबन्धु ने जगत् को आत्मधर्म का उपचार तथा विज्ञान का ही परिणाम माना है—"आत्मधर्मोपचारादि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञान परिणामोऽसौ।" बोधिचर्यावतार पंजिका में भी ज्ञान को अप्राप्त लक्षण कहा है—अप्राप्ति लक्षणं ज्ञानम्। इस प्रकार विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर विज्ञान का चित्त रूप होना निश्चित ही है।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् उपर्युक्त चित्त अथवा विज्ञान का ही रूप है। दशभूमीश्वर का यह वाक्य—'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रयदुत त्रैधातुकम्,'[3] जगत् की सत्ता को चित्त मात्र ही सिद्ध करता है। इस प्रकार विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् को चित्तमात्र स्वीकार करना योगवासिष्ठ के कल्पनावाद सिद्धांत के अत्यधिक समीप है। जिसके अनुसार जगत् चित्त के संकल्प मात्र का फल है।[4] योगवासिष्ठ के इस कल्पनावाद सिद्धान्त का विवेचन अभी पीछे किया जा चुका है। कल्पनावाद की ही तरह विज्ञानवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की वस्तुसत्ता का निराकरण किया गया है।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता पृथक्भूता नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को विज्ञानवादी ने संवृत्ति सत्य के अन्तर्गत माना है। विज्ञानवादी ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को न भावरूप मानता है और न अभाव रूप।[१]

ज्ञाता और ज्ञेय अथवा ग्राहक एवं ग्राह्य विज्ञानवादी के मतानुसार पृथक्-पृथक् न होकर चित्त मात्र ही हैं।[२] विज्ञानवादी ने चित्त को आलय विज्ञान का रूप दिया है। आलय विज्ञान समस्त क्लेशों को उत्पन्न करने वाले धर्मों का मूल स्थान है। इस प्रकार स्थिरमति के अनुसार आलय और स्थान दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।[३] लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत आलय विज्ञान को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि आलयविज्ञान समुद्र रूप है। सांसारिक विषय पवन रूप तथा सप्तविध विज्ञान तरंग रूप हैं।[४] जिस प्रकार कि पवन से प्रेरित होकर समुद्र में तरंगों का नृत्य दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आलय विज्ञान में भी विषयरूप वायु से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के विज्ञान उत्पन्न होते हैं।[५] जैसे कि समुद्र और उसकी तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान और अन्य विभिन्न विज्ञानों में भी कोई भेद नहीं है। यहां यह और कथ्य है कि विज्ञानवादी का यह आलय विज्ञान उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित है। उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित आलयविज्ञान की यह अवतारणा जागतिक विषयों की समस्या के स्पष्टीकरणार्थ की गयी प्रतीत होती है। इसीलिए डाक्टर दासगुप्त ने इसे आनुमानिक कहा है।[६]

विज्ञानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि जागतिक विषयों का जो प्रत्यक्ष हमें दिखाई पड़ता है, वह हमारे विज्ञानों का ही अनुभव है।

क्षणिक विज्ञानवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद

विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानवाद का समर्थक है। क्षणिकविज्ञानवाद के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विज्ञान एक दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके[७] नष्ट हो जाता है।[८] विज्ञानों की उत्पत्ति और निरोध का क्रम सतत रूप से चलता है। यही प्रतीत्यसमुत्पादवाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। विज्ञानवादी के मतानुसार विज्ञानों का उत्पन्न होना और निरोध होना ही परम तत्व है।[९] कुछ-एक विज्ञानवादी आचार्यों ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का द्विविध रूप स्वीकार किया है।

---

१. असंग—महायान सूत्रालंकार, पृ० ५८-५९।
२. चित्तमात्रं नदृश्योऽस्ति द्विधाचित्तंहिदृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥—लंकावतार सूत्र ३।६५।
तथा देखिए—सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ० १२।
३. तत्रसर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानात् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ।—त्रिंशिका भाष्य, पृष्ठ १८।
४. लंकावतार सूत्र २।१००।
५. वही, १।६६।
६. *Dr. S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 146.
७. E. R. E. Vol. IX, p. 850.
८. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ४४६।
९. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ६६६।

प्रतीत्य समुत्पादवाद के दो रूप व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद और आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद हैं। व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का विषय जगत् के भौतिक विषयों का विवेचन है। जागतिक विषय व्यावहारिक या बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद रूप हैं। इसके अतिरिक्त अविद्या, तृष्णा, कर्म और स्कन्ध एवं उनसे उत्पन्न आयतन आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1]

विज्ञानवादी का सांवृत्तिक सत्य—अद्वैत वेदान्त में जागतिक सत्य को, आविधिक होने के कारण व्यावहारिक कहा है। परन्तु विज्ञानवादी के दर्शन में शंकराचार्य का व्यावहारिक सत्य सांवृत्तिक है। दोनों का तुलनात्मक समीक्षण आगे यथा अवसर किया जाएगा। विज्ञानवादी के सांवृत्तिक सत्य (जागतिक सत्य) का मूल 'संवृत्ति' है। बौद्ध दर्शन की यह 'संवृत्ति' अविद्या रूप है। संवृत्ति यथार्थ तत्व के परिज्ञान की आवरक है। इस प्रकार अविद्या रूपा यह संवृत्ति असत् पदार्थ के स्वरूप की आरोपिका तथा वस्तुओं के स्वभाव दर्शन में आवरण के समान बाधक है।[2]

विज्ञानवादी की इस 'संवृत्ति' के भी दो भेद हैं—एक तथ्य संवृत्ति और दूसरा मिथ्या संवृत्ति। तथ्य संवृत्ति के अन्तर्गत वे जागतिक विषय आते हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा अबाध प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार संवृत्ति के अन्तर्गत वस्तुओं के भौतिक यथातथ्य रूप का प्रत्यक्ष होता है। 'मिथ्या संवृत्ति' अद्वैत वेदान्त की प्रातिभासिक सत्ता के सदृश है। मृगमरीचिका आदि के समान जगत् में जिन पदार्थों का दोषपूर्ण प्रत्यक्ष होता है, वे मिथ्या संवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से तथ्यसंवृत्ति मिथ्यासंवृत्ति की अपेक्षा कुछ सत्य है, परन्तु परमार्थ सत्य की उपलब्धि होने पर उक्त दोनों ही संवृत्तियां मिथ्या सिद्ध होती हैं। परमार्थ सत्य तो वस्तु स्वभाव के अधिगम का नाम है। अतः उसके जानने पर तो उक्त दोनों ही संवृत्तियों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानवादी भी अद्वैतवादी है। द्वैत का निराकरण करते हुए विज्ञानवादी का कथन है कि वस्तुतः द्वैत नहीं है मायाहस्ती की आकृति के ग्रहण के समान ही द्वैत की अनुभूति होती है, अतः ग्राह्यग्राहकरूप द्वैत जगत् सत्य नहीं है।[3] इस प्रकार जगत् के समस्त भाव विज्ञानवादी की दृष्टि से मायोपम हैं।[4] अब यहां परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

परमार्थ सत्य—मिथ्यादर्शी का विषय उपर्युक्त सांवृतिक सत्य है और तत्त्वद्रष्टा का विषय परमार्थ सत्य है। विज्ञानवाद के अनुसार परमार्थ सत्य, भावाभाव से विनिर्मुक्त एवं भाव और अभाव दोनों से अतीत है। इसके साथ-साथ वह तुच्छ और गुण की कल्पना का विषय भी नहीं है।[5] आचार्य असंग ने परमार्थ सत्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह

(परमार्थ सत्य) सत्—असत् तथा अतथा, जन्ममरण, ह्रास-वृद्धि, शुद्धि-अशुद्धि आदि कल्पनाओं से मुक्त है।[1]

विज्ञानवादी आचार्यों ने इस परमार्थ सत्य को विशेष रूप से विज्ञप्तिमात्र, आलय विज्ञान एवं भूततथता शब्दों के द्वारा अभिहित किया है। विज्ञानवादी आचार्य असंग और वसुबन्धु ने उस परमसत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र कहा है और लंकावतार सूत्र में उक्त तत्व को आलय विज्ञान रूप कहा गया है। अश्वघोष ने 'भूततथता' के रूप में चरम सत्य का विवेचन विशेष रूप से किया है। यहां उक्त तीनों मतों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

असंग और वसुबन्धु का 'चरम सत्य'—असंग और वसुबन्धु जब चरम सत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र कहते हैं तो वे क्षणिक विज्ञानवाद के समर्थक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विज्ञप्तिमात्रता की दृष्टि से निर्वाण काल में विज्ञान में सक्रियता नहीं रहती। चरमसत्यरूप विज्ञप्ति विशुद्ध चैतन्य, आनन्द रूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है।

लंकावतार सूत्र में 'चरम सत्य' का रूप—जैसा कि ऊपर कहा गया है, लंकावतार सूत्र में चरमतत्व का विवेचन 'आलय विज्ञान' के रूप में मिलता है—आलय विज्ञान का स्वरूपोल्लेख भी ऊपर कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहां केवल यही वक्तव्य है कि लंकावतार सूत्र के अनुसार ज्ञाता एवं ज्ञेय में अभेद है। इस प्रकार ज्ञाता रूप से देखने पर 'आलय विज्ञान' अहन्ता को प्राप्त होता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त ज्ञेय रूप से देखने पर वही आलय विज्ञान पदार्थ रूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

अश्वघोष और 'चरम सत्य'—अश्वघोष ने चरम सत्य को 'भूततथता' कहा है। भूततथता शाश्वत तथा स्वभाव सत्य है। भूत तथता न सत् है और न असत्। वह एक तथा अनेक भी नहीं है। इसी प्रकार वह भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों ही है।[2]

विज्ञानवादियों की उक्त भूततथता भी अद्वैतता की ही पोषिका है, क्योंकि जगत् की समस्त वस्तुओं में अद्वैतरूपा भूततथता ही सत्य है।[3] विज्ञानवादी की यह भूततथता भाषा द्वारा अवर्णनीय है। आलोचक सोजन के शब्दों में तो सत्य की स्थिति उसी प्रकार अवर्णनीय है, जिस प्रकार कि किसी भयानक युद्ध क्षेत्र का अथवा एक दृष्टि से देखे गये रमणीक दृश्य का वर्णन अवर्णनीय होता है।[4]

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक ही चरम तत्व का वर्णन विज्ञानवादियों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है। अब, जैसा कि आरम्भ में ही कह चुके हैं बौद्ध विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

---

१. न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
नवर्धते नापिविशुद्धयते पुनः विशुद्धते तत्परमार्थ लक्षणम्॥—महायान सूत्रालंकार ६।१।

२. Systems of Buddhistic Thought, p. 257-258.

३. भूततथता implies oneness of the totality of things or धर्मधातु—the great all including whole; the quintessence of the doctrine. For, the essential nature of the soul is uncreated and eternal. *Suzuki*, The Awakening of Faith in Buddhism, p. 55-56.

४. Systems of Buddhistic Thought, p. 253.

विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद—वैसे तो, अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए उनका निराकरण प्रबल तर्कों के आधार पर किया है।[1] परन्तु शंकराचार्य द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण होने पर भी विज्ञानवाद एवं शांकर अद्वैतवाद में बहुत-सी समानताएं मिलती हैं। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समानता का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक उपलब्धि नहीं है, क्योंकि दोनों ही का मूल पृष्ठाधार एक ही उपनिषद् साहित्य है। अतः शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद के अन्तर्गत वैधर्म्य के साथ साम्य स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए, शांकर अद्वैतवाद[2] एवं बौद्ध विज्ञानवाद,[3] दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थ सत्य की अद्वैतता को स्वीकार किया गया है। इसके साथ-साथ परमतत्त्व की सर्वव्यापकता भी शांकर अद्वैतवाद[4] एवं विज्ञानवाद[5] दोनों सिद्धान्तों में स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार परमार्थ सत्य वाङ्मनसातीत तो है, परन्तु शांकर अद्वैत दर्शन के अनुसार वह अभाव रूप नहीं है।[6] अद्वैती शंकराचार्य ने स्पष्ट ही परमार्थ सत्य ब्रह्म को सत् रूप स्वीकार किया है। इसके विपरीत विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने परम तत्त्व को सत्, असत् एवं सदसद् से विलक्षण कहा है।[7]

विज्ञानवादी बौद्ध एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। परन्तु दोनों के जगन्मिथ्यात्व में अत्यधिक अन्तर है। विज्ञानवादी बाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करता है। जैसा कि विज्ञानवाद विचार का स्पष्टीकरण करते समय कह आये हैं, बाह्य जगत् की सत्ता चित्त की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवादी 'विज्ञप्तिमात्रता' का पक्षपाती है, परन्तु अद्वैती शंकराचार्य का दृष्टिकोण विज्ञानवादी के उक्त विचार से भिन्न है। अद्वैतवादी शंकराचार्य बाह्य जगत् को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार जगत् विज्ञानवादी की तरह कल्पनामात्र नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व के द्वारा शंकराचार्य जगत् के नामरूपात्मक प्रपंच का ही निषेध करते हैं।[8] इसीलिए शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (अलीक) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत सब कुछ अनिर्वचनीय ही है।[9]

वाह्य जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान सिद्ध करते हुए विज्ञानवादी का विचार है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि का ज्ञान वाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में परिणत होता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का प्रत्ययत्व समान ही है।[1] इस प्रकार विज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् कालके प्रत्ययों में समानता मानकर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधर्म्य की स्थापना की है, परन्तु शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत यह साधर्म्य मान्य नहीं है। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था के ज्ञान हों, यह युक्त मत नहीं है। अपने मत की पुष्टि में शंकराचार्य का कथन है कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य बाध एवं अबाध रूप है। स्वप्नकाल की उपलब्धि का जाग्रत् काल में बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो वह जाग्रत् में यही कहता है कि मुझे जो महाजनसमागम की उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। इस प्रकार जाग्रत काल में स्वप्नकालिक ज्ञान का बाध हो जाता है।[2] इसके विपरीत जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु का किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता। अद्वैती आचार्य शंकर का तर्क है कि स्वप्नकालिक अनुभव स्मृति रूप हैं और जाग्रत् काल के अनुभव उपलब्धि रूप हैं।[3] इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् का वैधर्म्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं संवृत्ति रूप दो सत्तायें मान्य हैं। परन्तु शांकर अद्वैतवादी पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक रूप से तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं। परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि का निरूपण इस विवेचन के आरम्भ में ही किया जा चुका है। जहां तक संवृत्ति सत्य का प्रश्न है, यह अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता के बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या है, उसी प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति भी अविद्या रूप है। अविद्या रूप संवृत्ति वस्तुओं के स्वभाव सत्य की आवरण स्वरूप है। संवृत्ति ही अविद्यारूप से असत् पदार्थ की आरोपिका है।[4] इस प्रकार जहां अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहलाता है, वहां विज्ञानवाद दर्शन में उसे सांवृत्तिक सत्य कहा गया है। ऊपर स्वभावावरण एवं असदारोप रूप जो कार्य संवृत्ति के बतलाए गए हैं, वे अद्वैतवादी की अविद्या-माया के भी हैं। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियाँ शांकर वेदान्त में प्रसिद्ध हैं। आवरण शक्ति विज्ञानवादी की संवृत्ति के समान स्वरूपशक्ति की आवरणकर्त्री है और विक्षेप शक्ति मिथ्या जगत् की निर्मात्री है।[5] संवृत्ति की तरह असत्वस्तु का आरोप अद्वैतवादी की अविद्या का प्रधान कार्य है। अविद्या, अद्वैत वेदान्त में अध्यास रूप है[6]—

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।
२. वही, २।२।२९।
३. वही, २।२।२९।
४. संव्रियतआव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद्आवृतः प्रकाशनाच्चानयेतिसंवृत्तिः। अविद्यात्मसत् पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृत्तिरुपपद्यते। —बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।
५. विवेक चूडामणि, १४१, १४१, १४५।
६. अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। —ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

और अध्यास की परिभाषा 'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' है। इस प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति और अद्वैतवादी की अविद्या में बहुत कुछ साम्य है। परन्तु यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत दर्शन की अविद्या एवं विज्ञानवाद दर्शन की संवृत्ति तथा अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक सत्य एवं विज्ञानवाद दर्शन के सांवृत्तिक सत्य में परस्पर बहुत कुछ साम्य होने पर भी यह मौलिक भेद अवश्य द्रष्टव्य है कि अद्वैत दर्शन के अनुरूप जहां व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है, वहां सांवृत्तिक सत्य की स्थिति मिथ्या दृष्टि वालों के लिए है—मृषादृशां संवृत्तिसत्यमुक्तम् (बोधिचर्यावतार)।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख विज्ञानवादी द्वारा नहीं किया गया, परन्तु संवृत्ति का मिथ्यासंवृत्ति भेद, जिसका उल्लेख 'संवृत्ति' का विवेचन करते समय पीछे किया जा चुका है, प्रातिभासिक सत्ता की ही ओर संकेत करता है। प्रातिभासिक सत्ता की ही तरह मिथ्या संवृत्ति के उदाहरण मृगमरीचिका आदि हैं।[१]

ऊपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि विज्ञानवाद, अद्वयवाद का ही रूप होते हुए भी शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रबल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।[२]

बाह्य जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान सिद्ध करते हुए विज्ञानवादी का विचार है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि का ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में परिणत होता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का प्रत्ययत्व समान ही है।[1] इस प्रकार विज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् कालके प्रत्ययों में समानता मानकर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधर्म्य की स्थापना की है, परन्तु शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत यह साधर्म्य मान्य नहीं है। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था के ज्ञान हों, यह युक्त मत नहीं है। अपने मत की पुष्टि में शंकराचार्य का कथन है कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य बाध एवं अबाध रूप है। स्वप्नकाल की उपलब्धि का जाग्रत् काल में बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो वह जाग्रत् में यही कहता है कि मुझे जो महाजनसमागम की उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। इस प्रकार जाग्रत काल में स्वप्नकालिक ज्ञान का बाध हो जाता है।[2] इसके विपरीत जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु का किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता। अद्वैती आचार्य शंकर का तर्क है कि स्वप्नकालिक अनुभव स्मृति रूप हैं और जाग्रत् काल के अनुभव उपलब्धि रूप हैं।[3] इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् का वैधर्म्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं संवृत्ति रूप दो सत्तायें मान्य हैं। परन्तु शांकर अद्वैतवादी पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक रूप से तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं। परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि का निरूपण इस विवेचन के आरम्भ में ही किया जा चुका है। जहां तक संवृत्ति सत्य का प्रश्न है, यह अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता के बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या है, उसी प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति भी अविद्या रूप है। अविद्या रूप संवृत्ति वस्तुओं के स्वभाव सत्य की आवरण स्वरूप है। संवृत्ति ही अविद्यारूप से असत् पदार्थ की आरोपिका है।[4] इस प्रकार जहां अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहलाता है, वहां विज्ञानवाद दर्शन में उसे सांवृत्तिक सत्य कहा गया है। ऊपर स्वभावावरण एवं असदारोप रूप जो कार्य संवृत्ति के बतलाए गए हैं, वे अद्वैतवादी की अविद्या-माया के भी हैं। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियाँ शांकर वेदान्त में प्रसिद्ध हैं। आवरण शक्ति विज्ञानवादी की संवृत्ति के समान स्वरूपशक्ति की आवरणकर्त्री है और विक्षेप शक्ति मिथ्या जगत् की निर्मात्री है।[5] संवृत्ति की तरह असत्वस्तु का आरोप अद्वैतवादी की अविद्या का प्रधान कार्य है। अविद्या, अद्वैत वेदान्त में अध्यास रूप है[6]—

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

२. वही, २।२।२९।

३. वही, २।२।२९।

४. संव्रियतेऽआव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद्आवृतः प्रकाशनाच्चानयेतिसंवृत्तिः। अविद्याऽसत् पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिरुपपद्यते। —बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।

५. विवेकचूडामणि, १४१, १४२, १४५।

६. अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। —ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

और अध्यास की परिभाषा 'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' है। इस प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति और अद्वैतवादी की अविद्या में बहुत कुछ साम्य है। परन्तु यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत दर्शन की अविद्या एवं विज्ञानवाद दर्शन की संवृत्ति तथा अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक सत्य एवं विज्ञानवाद दर्शन के सांवृत्तिक सत्य में परस्पर बहुत कुछ साम्य होने पर भी यह मौलिक भेद अवश्य द्रष्टव्य है कि अद्वैत दर्शन के अनुरूप जहां व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है, वहां सांवृत्तिक सत्य की स्थिति मिथ्या दृष्टि वालों के लिए है—मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् (बोधिचर्यावतार)।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख विज्ञानवादी द्वारा नहीं किया गया, परन्तु संवृत्ति का मिथ्यासंवृत्ति भेद, जिसका उल्लेख 'संवृत्ति' का विवेचन करते समय पीछे किया जा चुका है, प्रातिभासिक सत्ता की ही ओर संकेत करता है। प्रातिभासिक सत्ता की ही तरह मिथ्या संवृत्ति के उदाहरण मृगमरीचिका आदि हैं।[1]

ऊपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि विज्ञानवाद, अद्वयवाद का ही रूप होते हुए भी शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रबल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।[2]

शून्यवाद—एक दिग्दर्शन

का परमार्थ तत्व सदसद् से विलक्षण है, परन्तु वह नितान्त अभाव रूप नहीं है, यही उसकी अनिर्वचनीयता है। जगत् का स्वरूप भी अनिर्वचनीय है। शून्यवादियों ने जगत् को भी सत् तथा असत् से विलक्षण माना है। जगत् की सत्ता को शून्यवादी यदि परमार्थ सत्य रूप नहीं मानते तो सांवृत्तिक सत्य रूप तो मानते ही हैं। जगत् को नितान्त अभाव रूप शून्यवादी भी नहीं मानते। इस प्रकार शून्यवादी की दृष्टि से भी जगत् सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार शून्यसम्बन्धी सिद्धान्त परमार्थ सत्य एवं जगत् दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से चरितार्थ होता है। यह बात दूसरी है कि अन्य सिद्धान्तों की तरह शून्यवाद के भी विविध अवान्तर पक्ष मिलते हैं। अतः इस विवेचन के आरम्भ में संकेतित शून्यवाद सम्बन्धी विरोध के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि शून्यवाद का एक पक्ष यदि जगत् की सत्यता का निराकरण करता है तो दूसरा पक्ष परमार्थ सत्य को शून्य रूप कहता है। शून्यवादियों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद सिद्धान्त के द्वारा भी उक्त कथन का ही समर्थन होता है। शून्यवाद का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पादवाद ग्रहण करने पर उक्त विरोध को अवसर नहीं रहता, क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार जागतिक विषयों की सत्ता प्रातीतिक है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न हैं एवं अनष्ट हैं।

इस प्रकार जगत् के पदार्थों की स्थिति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त ज्ञान ही शून्यता का ज्ञान है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पन्न रूप शून्यता का ज्ञान होने पर एक ओर तो जागतिक पदार्थों की सत्यता का निराकरण होता है और दूसरी ओर परमार्थ सत्य रूप प्रत्युत्पन्न शून्यता का बोध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शून्यवाद के उपर्युक्त पक्षों में विरोध मानना उचित नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्वरूप

शून्यता, उपादाय प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपत्—ये शून्य की ही संज्ञाएं हैं।[१] शून्यवादियों के अनुसार जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है, वही शून्यता का अर्थ है, परन्तु शून्यता-अभाववाचक कदापि नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएं प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्नता का आशय यह है कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न ही हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुओं का भी जो समुच्छेद प्रतीत होता है, वह भी प्रतीत्यसमुच्छेद ही है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद रूप शून्यता के स्वीकार कर लेने पर वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके विनाश का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। शून्यता के अनुसार सभी वस्तु जगत् की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त विच्छिन्न प्रवाह के मान लेने पर शून्यवादी की अनात्मवादिता स्पष्ट है। परन्तु अनात्मवादी होने पर भी शून्यवादी भौतिकवादी भी नहीं है। उसने पदार्थों के क्षणिक विनाश एवं क्षणिक प्रादुर्भाव रूप प्रवाह को माना है। इस प्रकार शून्यवाद आत्मवाद एवं भौतिकवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है।

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥ —मा० का० २४।१८।

(१५) **उपलम्भ शून्यता**—उपलम्भ शून्यता के द्वारा भूतादि कालत्रय की शून्यता की पुष्टि होती है।

(१६) **अभाव-स्वभाव शून्यता**—अनेक धर्म संयोग से उत्पन्न पदार्थ का अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं होता। अभाव-स्वभाव शून्यता के अन्तर्गत उक्त तात्पर्य ही अन्तर्निहित है।

(१७) **भाव-शून्यता**—भाव-शून्यता के द्वारा स्कन्ध सत्ता का निषेध किया गया है।

(१८) **अभाव-शून्यता**—आकाशादि, जिनकी सांसारिक सत्ता नहीं है, अभाव रूप होने से शून्य रूप ही हैं।

(१९) **स्वभाव शून्यता**—साधारणतया वस्तुओं का जो स्वभाव दिखाई पड़ता है वह भी शून्य रूप ही है।

(२०) **परभाव शून्यता**—परमार्थ तत्व की किसी वाह्य कारण (परभाव) द्वारा उत्पत्ति स्वीकार करना नितान्त अनुचित है, यही परभाव शून्यता के निरूपण का उद्देश्य है।

इस प्रकार बीस प्रकार की शून्यता के द्वारा शून्यवाद-दर्शन में शून्यता का विशद रूप से वर्णन किया गया है। अब यहां शून्यवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए, शून्यवाद सम्मत धर्म निःस्वभावता, सत्यद्वयकल्पना एवं निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

धर्मनिःस्वभावता—शून्यवाद दर्शन के अनुसार सभी संस्कार मृषा एवं मोषधर्मा हैं। केवल निर्वाण ही मोषधर्मा न होकर सत्य है।[1] जगत् के समस्त धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं। इस प्रकार निःस्वभावता ही शून्यता है।

शून्यवादी की सत्यद्वयकल्पना—विज्ञानवादी की तरह शून्यवादी भी दो प्रकार का सत्य मानता है—एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य।[2] विज्ञानवादी के अनुसार परमार्थ सत्य 'विज्ञान' है और शून्यवादी के दर्शन में 'शून्य'। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति सत्य एवं परमार्थ सत्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि संवृत्ति सत्य मिथ्या दृष्टि का विषय है और परमार्थ सत्य सम्यक् द्रष्टा का विषय।[3] यह सम्यक् द्रष्टा का विषय ही परम तत्व है। परन्तु स्वरूपतः यह भी असिद्ध है।

संवृत्ति सत्यानुवर्तिनी मिथ्या दृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत शुद्ध तथा नीरोग इन्द्रिय सम्पन्न व्यक्ति का वाह्य विषयक ज्ञान आता है और दूसरे प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत दोषपूर्ण इन्द्रियों वाले व्यक्ति का ज्ञान आता है। इन दोनों में भी आपेक्षिक दृष्टि से दूसरे प्रकार का सांवृत्तिक सत्य मिथ्या है। यहां यह कह देना और संगत होगा कि शून्यवादी के अनुसार सांवृत्तिक पदार्थों की सत्यता केवल लोकदृष्टि से ही विचार्य है, परमार्थ दृष्टि से तो यह कृत्रिम ही है।[4]

जहां तक परमार्थ सत्य का प्रश्न है, वह शून्यवादी के अनुसार वाणी एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह तो स्वसंवेद्य सत्य है। अतः इस तत्व का उपदेश भी असम्भव है, क्योंकि यह

---

१. एतद्धि खलु भिक्षवः परमं सत्यं यदिदममोषधर्म निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माण इति।—मा० का० वृ०, पृष्ठ २३७।

२. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥—मा० का० २४।८।

३. मा० का० ६।२३।
मध्यमकावतार ६।२४, २८।

(१) अपर प्रत्यय—शून्य उपदेशादि द्वारा ज्ञातव्य न होकर स्वसंवेद्य है। अद्वैतवादियों का अद्वैत तत्व ब्रह्म भी इसी प्रकार का है। इस विषय का विवेचन अभी आगे यथास्थान किया जाएगा।

(२) शान्त—निर्वाण रूप शून्य शान्त होने के कारण समस्त धर्मों एवं स्वभावों से रहित है।

(३) प्रपंचाप्रपंचित—शून्य तत्व वाणी द्वारा व्याख्येय नहीं है। शून्यवादी नागार्जुन ने इस विषय का विवेचन करते हुए जहां प्रपंच शब्द का उल्लेख किया है, वहां उसका अर्थ वाणी ही है।[1]

(४) निर्विकल्प—शून्य तत्व निर्विकल्प होने के कारण चित्त के समस्त सत् एवं असत् विकल्पों से रहित है।

(५) अनानार्थ—सधर्म वस्तुओं की तरह शून्य तत्व नानार्थ नहीं है। वह अधर्मा है। इसीलिए अनानार्थ है।

इस प्रकार निर्वाण रूप शून्यता समस्त क्लेशों की निवृत्ति एवं परम सुख के अनुभव का नाम है।

निर्वाण की असत्यता—जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष की विवेचना पारमार्थिक नहीं है, उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत भी निर्वाण की सत्यता असिद्ध बतलाई गई है। शून्यवादी आचार्य चन्द्रकीर्ति निर्वाण की अपारमार्थिकता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि निर्वाण सम्बन्धी समस्त देशना अनिर्वाण की ही देशना है। आचार्य चन्द्रकीर्ति का कथन है कि निर्वाण की समस्त देशना का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार की आकाशकृत ग्रन्थि आकाश द्वारा ही मोचित होती है।[2]

अब हम यहां शून्यवाद एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन करेंगे।

शून्यवाद और अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। साम्य का कारण तो यह है कि दोनों दार्शनिकों की उपनिषद्विचाररूपिणी मौलिक पृष्ठभूमि एक ही है। जहां तक दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों के वैषम्य का प्रश्न है, बौद्ध एवं अद्वैती दोनों के चिन्तन की दिशा का क्रम पूर्णतया भिन्न है। अतः शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक ही है। यहां इन दोनों सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का विवेचन किया जाएगा। शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ने ही परमार्थ सत्य को अद्वैत कहा है। शून्यवादी का यह सत्य शून्य है तो अद्वैतवादी का ब्रह्म। शून्यवादी ने शून्य की निःस्वभावता सिद्ध करके उसी निर्गुणता का पिष्टपेषण किया है, जो उपनिषदों की भाषा में पूर्णतया संकेतित हुई है।[3] शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार परमार्थ

---

१. माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

२. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः ॥—म० का० वृ०, पृष्ठ ५४०।

३. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।१।१, बृ० उ० २।५।१९, ३।८।८, कठ० उ० १।३।१५। ईशावास्योपनिषद् ४,६,७, मुण्डकोपनिषद् १।६, माण्डूक्योपनिषद् ७ तथा देखिए शांकर भाष्य।

तत्त्व को अपर प्रत्यय, शान्त, प्रपंचाप्रपंचित, निर्विकल्प एवं अनानार्थ कहा गया, है, उसी प्रकार अद्वैतवाद के प्रस्थापकों ने भी परमार्थ तत्त्व को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्यय साररूप, प्रपंचोपशम रूप, शान्त, शिवरूप तथा अद्वैत सत्य कहा हैं।[१] उक्त लक्षणों के ही कारण शून्यवादी का शून्य[२] एवं अद्वैतवादी का अद्वैत तत्त्व वाङ्मनसातीत हैं।[३] जिस प्रकार अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म एवं मुक्ति में भेद न होकर ब्रह्म ही मुक्ति स्वरूप है,[४] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी शून्यता ही निर्वाण है।[५] जैसा कि शून्यवादी की सत्य-द्वय कल्पना की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ की देशना नहीं की जा सकती।[६] इस प्रकार शून्यवादी परमार्थ की उपलब्धि के लिए व्यवहार की भी देन मानता है।[७] अद्वैतवादी भी शून्यवादी के समान असत्य की उपत्ति स्वीकार करता है।[८] अद्वैती शंकराचार्य ने तो लोक व्यवहार को स्पष्ट ही सत्यानृत का मिथुन कहा है।[९] यह विचार दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समान ही है कि परमार्थ की उपलब्धि हो जाने पर तत्त्व-वेत्ता के लिए शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं अद्वैतवादी के व्यावहारिक सत्य की सत्ताएं शेष नहीं रह जातीं। इस प्रकार शून्यवादी के शून्य एवं अद्वैतवादी के परमार्थ सत्य—ब्रह्म सम्बन्धी विचार में पर्याप्त समानता है। इसी समानता के कारण एकाधिक विद्वानों ने शून्यवादी बौद्ध को अद्वयवादी[१०] और शून्यवाद को अद्वैतवाद कहा है।[११] परन्तु शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के अन्तर्गत कुछ ऐसा विरोध मिलता है कि दोनों की पृथक् स्थिति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। अब दोनों सिद्धान्तों के विरोध का विवेचन किया जाएगा।

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर साम्य होने पर भी यह भेद स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहां परमार्थ सत्य ब्रह्मनिश्चित रूप से 'सत्' घोषित किया गया है, वहां शून्यवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार से शून्य की अनिर्वचनीयता[१२] का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभयात्मक तत्त्व[१३] की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चय ही अद्वैतवादी

---

१. माण्डूक्योपनिषद ७ तथा शांकर भाष्य।
२. बोधिचर्यावतार ९।२।
३. कठोपनिषद् १।२।२३।
४. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था—ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।५२।
५. शून्यतैव सर्वप्रपंचलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते।—मा वृ०, पृष्ठ ३५१।
६. मा० का० २४।१०।
७. वही, २४।१०।
८. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।
९. सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः
—ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
१०. नामलिंगानुशासनम्—१।१४, नैषधीय चरितम्, २१।८७।—चण्डिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित–१९५१, प्रथम संस्करण।
११. अद्वैतवाद सुगतस्य हन्तिपदकमो यन्त्र जडद्विजानाम्।—धर्मशर्माभ्युदय, १७।९६।
१२. खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।
१३. माध्यमिक कारिका, १।७।

के 'सत्' ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत दर्शन में तो सदसद्‌भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के बतलाए गए हैं।[१] इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कहकर माया को ही अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्य को अनिर्वचनीय मानने के कारण शून्यवाद को अद्वयवाद या अद्वैतवाद न कहकर अनिर्वचनीयवाद कहना अधिक संगत है। परन्तु शून्यवादी द्वारा शून्य की अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में स्थापना होने पर शून्यवाद को अभावमूलक या असद्‌वादमूलक दर्शन नहीं समझना चाहिए। इसीलिए शून्यवाद के समालोचकों ने शून्य की सत्ता मानने में संकोच नहीं किया है।[२] शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहां अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहां शून्यवादी ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, शून्यवाद दर्शन में तो शून्यता ही निर्वाण रूप है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य होते हुए भी, बहुत कुछ मौलिक वैषम्य मिलता है। अतः दोनों सिद्धांतों का पार्थक्य स्पष्ट ही है।

सत्ता सम्बन्धी विचार

शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना का विवेचन करते समय शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शून्यवादी की ही तरह अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता को तो स्वीकार करता ही है, साथ ही वह प्रातिभासिक सत्ता का भी पक्षपाती है। शून्यवादी ने पृथक् रूप से प्रातिभासिक सत्ता को तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु शून्यवादी की मिथ्या संवृत्ति अद्वैतवादी की प्रातिभासिक सत्ता के पूर्ण रूप से समीप कही जा सकती है।[३]

संवृत्ति एव अविद्या

शून्यवादी के जिस सांवृत्तिक सत्य का ऊपर हमने उल्लेख किया है, उसका मूल संवृत्ति है। इसी प्रकार अद्वैतवादी के जिस व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी संवृत्ति को अविद्या रूप माना है। यही तक नहीं, जिस प्रकार कि अद्वैतवाद दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तत्त्व की आवरणरूपिणी और विक्षेप शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टि कर्त्री मानी गयी है,[४] उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्यारूपिणी संवृत्ति यथार्थ परिज्ञान की आवरण कर्त्री तथा असत् पदार्थ की आरोपिका बतलाई गई है।[५] इस प्रकार शून्यवादी

---

१. विवेक चूडामणि, १११।
२. There is in the midst of all then negative descriptions an inconcievable positive which is Sunya. (M.M.Harprasad Shastri, Journal of the Buddhist Text Society, Vol. 2, p. III, p.6.)
३. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।
४. विवेक चूडामणि १४१, १४२।
बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ३५२।

की संवृत्ति एवं अद्वैतवादी की अविद्या में भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जगत् के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। यहां तक कि अद्वैत मत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर केवल यही है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त में जहां जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है,[१] वहां शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है।[२] इस प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गए हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' मानता है। इसीलिए उसका शून्यवाद सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पादवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का निरूपण शून्यवाद का विवेचन करते समय किया जा चुका है।

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरमसाध्यावस्था का नाम है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते,[३] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है।[४] शून्यवादी ने तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहा है।[५] इसके अतिरिक्त शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिकसत्तागत ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही दर्शन सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण एवं मुक्तिकाल में प्रपंचप्रवृत्ति का विलय स्वीकार किया गया है।[६] अद्वैतवादियों के जीवन्मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी बौद्धों को भी यह मान्य ही है कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। उक्त कथन का उल्लेख भगवान् बुद्ध द्वारा बड़े बलपूर्वक किया गया है।[७] इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत परिनिर्वाण और अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत विदेह मुक्ति का सादृश्य भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मुक्ति विषयक स्थिति का यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था को प्राप्त होकर स्वयं ब्रह्म

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।
२. उदयोनास्ति नव्ययः, माध्यमिक कारिका, XXIV.
३. आत्मोपनिषत्, ३१।
४. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम् ॥—म० का० वृ०, पृ० ५४०।
५. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S), पृ० १०१, १०८।
६. Nirvana is nearly the cessation of the seeming phenomenal flow (Prapancha pravrtti). *S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol.I, p. 142.
७. अंगुत्तर निकाय, तिकनिपात।—देखिए बुद्धवचन, पृ० १७।

के 'सत्' ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत दर्शन में तो सदसद्भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के बतलाए गए हैं।[१] इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कहकर माया को ही अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्य को अनिर्वचनीय मानने के कारण शून्यवाद को अद्वयवाद या अद्वैतवाद न कहकर अनिर्वचनीयवाद कहना अधिक संगत है। परन्तु शून्यवादी द्वारा शून्य की अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में स्थापना होने पर शून्यवाद को अभावमूलक या असद्वादमूलक दर्शन नहीं समझना चाहिए। इसीलिए शून्यवाद के समालोचकों ने शून्य की सत्ता मानने में संकोच नहीं किया है।[२] शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहां अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहां शून्यवादी ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, शून्यवाद दर्शन में तो शून्यता ही निर्वाण रूप है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य होते हुए भी, बहुत कुछ मौलिक वैषम्य मिलता है। अतः दोनों सिद्धांतों का पार्थक्य स्पष्ट ही है।

सत्ता सम्बन्धी विचार

शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना का विवेचन करते समय शून्यवादी के सांवृतिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शून्यवादी की ही तरह अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता को तो स्वीकार करता ही है, साथ ही वह प्रातिभासिक सत्ता का भी पक्षपाती है। शून्यवादी ने पृथक् रूप से प्रातिभासिक सत्ता को तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु शून्यवादी की मिथ्या संवृत्ति अद्वैतवादी की प्रातिभासिक सत्ता के पूर्ण रूप से समीप कही जा सकती है।[३]

संवृत्ति एव अविद्या

शून्यवादी के जिस सांवृतिक सत्य का ऊपर हमने उल्लेख किया है, उसका मूल संवृत्ति है। इसी प्रकार अद्वैतवादी के जिस व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी संवृत्ति को अविद्या रूप माना है। यही तक नहीं, जिस प्रकार कि अद्वैतवाद दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तत्त्व की आवरणरूपिणी और विक्षेप शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टि कर्त्री मानी गयी है,[४] उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्यारूपिणी संवृत्ति यथार्थ परिज्ञान की आवरण कर्त्री तथा असत् पदार्थ की आरोपिका बतलाई गई है।[५] इस प्रकार शून्यवादी

---

१. विवेक चूडामणि, १११।
२. There is in the midst of all then negative descriptions an inconciev-able positive which is Sunya. (M.M.Harprasad Shastri, Journal of the Buddhist Text Society, Vol. 2, p. III, p.6.)
३. आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।
४. विवेक चूडामणि १४१, १४२।
. बोधिचर्यावतार पञ्जिका, पृ० ३५२।

की संवृत्ति एवं अद्वैतवादी की अविद्या में भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जगत् के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। यहां तक कि अद्वैत मत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर केवल यही है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त में जहां जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है,[१] वहां शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है।[२] इस प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गए हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' मानता है। इसीलिए उसका शून्यवाद सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पादवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का निरूपण शून्यवाद का विवेचन करते समय किया जा चुका है।

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरमलक्ष्यावस्था का नाम है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते,[३] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है।[४] शून्यवादी ने तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहा है।[५] इसके अतिरिक्त शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिकसत्तागत ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही दर्शन सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण एवं मुक्तिकाल में प्रपंचप्रवृत्ति का विलय स्वीकार किया गया है।[६] अद्वैतवादियों के जीवन्मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी बौद्धों को भी यह मान्य ही है कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। उक्त कथन का उल्लेख भगवान् बुद्ध द्वारा बड़े बलपूर्वक किया गया है।[७] इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत परिनिर्वाण और अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत विदेह मुक्ति का सादृश्य भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मुक्ति विषयक स्थिति का यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था को प्राप्त होकर स्वयं ब्रह्म

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।
२. उदयोनास्ति नव्ययः, माध्यमिक कारिका, XXIV.
३. आत्मोपनिषत्, ३१।
४. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम् ॥—म० का० वृ०, पृ० ५४०।
५. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S), पृ० १०१, १०८।
६. Nirvana is nearly the cessation of the seeming phenomenal flow (Prapancha pravrtti). *S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol.I, p. 142.
७. अंगुत्तर निकाय, तिकनिपात।—देखिए बुद्धवचन, पृ० १७।

रूप हो जाता है और ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः मुक्तावस्था सच्चिदानन्द स्वरूप सम्पन्न है। इसके विपरीत शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत निर्वाण को न भावरूप स्वीकार किया गया है और न अभाव रूप।[1] इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों ने जहां मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द की चर्चा की है, वहां बौद्ध दर्शन में भी निर्वाण काल में परमसुख का अनुभव स्वीकार किया गया है।[2] परन्तु यहां यह और विचारणीय है कि बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उक्त परमसुख या आनन्द निर्विषय मन का सुख या आनन्द है और अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत वह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शून्यवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहां जीव का मोक्ष माना गया है वहां शून्यवादी के अनुसार चित्त का निर्वाण स्वीकार किया गया है।[3]

ऊपर शून्यवाद एवं अद्वैतवाद का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे, एक ओर तो शून्यवाद एवं अद्वैतवाद सिद्धान्तों की शृंखला का योग सिद्ध होता है और दूसरी ओर दोनों की मूल विचारभूमियों का विरोध प्रतीत होता है। दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के मौलिक सादृश्य के कारण ही विद्वानों एवं अनेक आलोचकों ने अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह दिया है। यहां उक्त समस्या की ओर दृष्टिपात करना अप्रासांगिक न होगा।

क्या अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' हैं ?

ऊपर, द्वैतवाद दर्शन एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय अद्वैतवाद तथा उक्त बौद्ध सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिले हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनेक आचार्यों एवं समालोचकों ने अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों के मौलिक वैषम्य की ओर ध्यान न देकर, उक्त सिद्धान्तों की कतिपय साम्यताओं के आधार पर ही शंकराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन के मूल में बौद्ध दर्शन के विचार-तथ्यों के दर्शन किए हैं। इसके अतिरिक्त इन समालोचकों ने अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। इस सम्बन्ध में हम यहां कतिपय प्रमुख मतों का उल्लेख करेंगे।

पद्म पुराण का मत—पद्मपुराण के अन्तर्गत शंकराचार्य के मायावाद को 'असत् शास्त्र' कहते हुए उनपर प्रच्छन्न बौद्धत्व का आरोप लगाया गया है।[4]

रामानुजाचार्य का मत—श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने शंकराचार्य को वेदवा-

---

1. न चाप्रवृत्तिमात्रं भावाभावेति परिकल्पितुं पार्यते, एवं न भावाभावं निर्वाणम्।
—माध्यमिक वृत्ति, पृ० १९७।
2. निब्बाणं परमं सुखं। मागन्दियसुत्तन्त —मज्झिम० २।३।५ धम्मपद १५।८ थेरीगाथा, गाथा ४७६।
3. पदीपस्सेव निब्बाणं विमोक्खो अहु चेतसो। थेरीगाथा, गाथा ११६।
तथा देखिए—आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५।
4. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥—पद्मपुराण।
तथा देखिये N. *Shastri* : A Study of Sankara, p. 92.

ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध के साथ प्रकट बौद्ध भी कह दिया है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है—

ब्रह्म को शून्यत्व की ओर ले जाने के कारण, आत्मा को शाश्वत विज्ञान का रूप देने के कारण, शंकर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे।[1]

समालोचना

ऊपर हमने शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' सिद्ध करने वाले जिन प्राचीन आचार्यों एवं अन्य समालोचकों के मत दिए हैं, उनके मतों का आधार शांकर मायावाद, अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धान्तों की यत्किंचित् समानता तथा अध्ययन की अनुकरणमूलक प्रवृत्ति है। शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दर्शन के पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का अभाव भी उपर्युक्त आचार्यों एवं समालोचकों के मतों का एक प्रधान कारण है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त समालोचकों की दृष्टि, निज-मत-स्थापन के सम्बन्ध में, पक्षपातपूर्ण भी हो गई है।

पद्मपुराण के अन्तर्गत मायावाद को असत् शास्त्र कहकर उस पर प्रच्छन्नबौद्धत्व का आरोप किया गया है। मेरे विचार से, जैसा कि मायावाद को स्पष्ट करते समय कहा जा चुका है मायावाद असत् शास्त्र कथंचित् नहीं है। यहां यह कहना ही पर्याप्त होगा कि बौद्ध दर्शन के विपरीत मायावाद के अन्तर्गत सदसद्वाद से विलक्षण अनिर्वचनीय सत् की प्रतिष्ठा की गई है। अतः मायावाद असत् शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पद्मपुराण का उक्त मत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त की ज्ञानमात्र की परमार्थता के आधार पर शंकराचार्य को 'वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। वैसे तो, रामानुजाचार्य के कथन की पुष्टि में यह कहना सत्य ही है कि शांकर वेदान्त में जहां ब्रह्मज्ञान परमार्थ सत्य है, वहां विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञप्ति मात्र ही परमार्थ सत्य है। परन्तु जैसा कि विज्ञानवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन का भेद प्रदर्शित करते समय पीछे कहा जा चुका है, विज्ञानवादी के मतानुसार बाह्य जगत् भी विज्ञानमात्र ही है, जब कि शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत बाह्य जगत् की प्रत्यक्ष व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। यहां तक कि अद्वैत वेदान्त मत के अन्तर्गत जीव के मुक्त होने पर भी प्रत्यक्ष जगत् का निराकरण नहीं होता।

भास्कराचार्य का भी मायावाद को महायानिक बौद्ध दर्शन से गृहीत बतलाना संगत नहीं प्रतीत होता। इस कथन के समर्थन में हमारा तर्क है कि मायावाद के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में महायान बौद्ध दर्शन की तरह शून्यता का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु जैसा कि कह चुके हैं, व्यावहारिक जगत् की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अद्वैतवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय इस विषय का निरूपण किया जा चुका है।

जहां तक, शंकराचार्य के प्रच्छन्नबौद्धत्व के सम्बन्ध में, डा० दासगुप्त, डा० बी० एम० बरुआ, राहुल सांकृत्यायन एवं भरतसिंह उपाध्याय के मतों का प्रश्न है, इन समालोचक विद्वानों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की यत्किंचित् समानता के आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद, बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से पूर्णतया भिन्न है, इस तथ्य का समर्थन अभी

---

१. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०४५।

पीछे किया जा चुका है। अतः, यहां तो हम यह कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० दास गुप्त का शांकर दर्शन के मूल में बौद्ध विज्ञानवाद की विचारभूमि खोजना उचित नहीं है। जहां तक शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद को शून्यवाद कहकर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने की बात है, मेरे विनम्र विचारानुसार यह भ्रममात्र ही है। इस भ्रम की आशंका आचार्य शंकर को भी थी। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि दिग्-देश-गुण-गति-फलभेदशून्य परमार्थ सत्य अद्वयब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत्-सा प्रतीत होता है।[1] शंकराचार्य के उक्त कथन से शून्यवाद तथा अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद का भेद स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित होता है। अतः जिन शंकराचार्य की समालोचक दृष्टि के अनुसार वैनाशिकों का सिद्धान्त सर्वथा अनुपपन्न है,[2] उन्हीं के सिद्धान्त के मूलरूप का शून्यवाद की पृष्ठभूमि में दर्शन करना निर्मूल एवं तर्कापुष्ट धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जैसा कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर देखा जा चुका है माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) एवं अद्वैतवाद में पर्याप्त विरोध है। अतः डा० बरूआ का शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं मायावाद को शून्यवाद के पूर्णतया समान मानकर माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असंभव मानना या शांकर मायावाद को नागार्जुन के शन्यवाद का ही नामान्तर कहना सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त भरतसिंह उपाध्याय का शंकराचार्य को 'प्रकट बौद्ध' कहना शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन के अभाव का फल या पूर्वग्रह का परिणाम मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः, जैसा कि अद्वैतवाद और विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सिद्धान्तों के पारस्परिक मौलिक वैषम्य से स्पष्ट किया जा चुका है, अद्वैतवादी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना किसी प्रकार संगत नहीं है। संक्षेपतः, अपने मत की पुष्टि में हम निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) बौद्ध दर्शन के प्रस्थापक और अद्वैतवादी आचार्य शंकर दोनों ने ही उपनिषद्-रूपिणी माता का स्तन्यपान किया था, अतः दोनों के सिद्धान्तों में समानता होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस समानता के आधार पर आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्धकहना कदापि संगत नहीं है। दोनों उपनिषद् विद्या के ऋणी हैं। शांकर अद्वैतवाद तो उपनिषद् विद्या की व्याख्या है ही। बौद्ध दर्शन के समालोचकों ने भी मूल बौद्ध दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया है।[3]

(२) शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है। यह विरोध इसी से स्पष्ट है कि अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का निराकरण किया है।[4]

---

१. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हिपरमार्थ सत्अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम् असद् इव प्रतिभाति। —छा० उ० शा०, भा० ८।१।१ का प्रास्ताविक।

२. ब्र० सू० शा० भा० २।२।३२।

३. It appears that early Buddhism was fundamentally influenced by the Upanishads which gave to it its early tendencies towards idealism and Absolutism. Studies in The origin of Buddhism, p. 556, *Dr. G. C. Pandya* (University of Allahabad, 1957).

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८-३२।

ब्रह्म के तादात्म्य का नाम मोक्ष है और शब्दाद्वयवादी के अनुसार शब्द ब्रह्म के साथ तादात्म्य ही जीव का मोक्ष है। शब्दाद्वयवादी के अनुसार मोक्ष में भी शब्दात्मा की स्थिति रहती ही है।[1] इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार मुक्तावस्था में सच्चिदानन्दस्वरूपिणी ब्रह्मात्मता की स्थिति सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त शब्दाद्वयवाद एवं शांकर अद्वैतवाद का यह भेद भी विचारणीय है कि शब्दाद्वयवाद के अनुरूप शब्द जगत् की उत्पत्ति का कारण तो है, परन्तु शांकर अद्वैतवादियों के ब्रह्मतत्व की तरह उपादान कारण नहीं।[2] शांकर अद्वैतवाददर्शन में तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है। ब्रह्म की उपादानकारणता माया के कारण है।[3]

गौडपादाचार्य का अजातवाद और शांकर अद्वैतवाद

गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत विस्तार से किया जा चुका है। गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाएं समान रूप से मिथ्या हैं। इस दृष्टि से तो गौडपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं की एकता का शांकर मत से कोई वैपरीत्य नहीं है। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से तो शांकर मत के अनुसार भी परमार्थ अवस्था में जाग्रत् जगत् के अनुभव भी स्वप्नवत् ही हैं। इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का मिथ्यात्व शांकर वेदान्त में भी समान ही है।[4] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शंकराचार्य को स्वप्न अथवा जाग्रत् अवस्थाओं का वैधर्म्य स्वीकार न था। इस वैधर्म्य का प्रतिपादन तो आचार्य शंकर ने बड़े बलपूर्वक किया था।[5] इस विषय का विवेचन भी इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। जहाँ तक गौडपादाचार्य का प्रश्न है, उन्हें भी स्वप्न एवं जाग्रत् का भेद स्वीकार ही है।[6] इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के सिद्धान्तों में समालोचकों का भेद देखना समुचित नहीं प्रतीत होता।

आचार्य गौडपाद एवं शंकराचार्य दोनों ही जगन्मिथ्यात्व के समर्थक हैं, परन्तु दोनों के मिथ्यात्व प्रतिपादन में कुछ अन्तर है। आचार्य गौडपाद ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए जो स्वप्नमाया एवं गन्धर्वनगर के दृष्टान्त दिए हैं,[7] वे शांकर सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। शांकर सिद्धान्त के अनुसार जगत् स्वाप्निक माया एवं गन्धर्वनगर के समान असत् न होकर व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत आता है। इसी प्रसंग में यह कहना भी संगत होगा कि

---

१. वैयाकरणमते शब्दब्रह्मणा तादात्म्यमेवजीवस्य मोक्षः, मोक्षोऽपि शब्दात्मनोपस्थितिरितियावत्। —भावप्रदीप, वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १११।
२. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।२८।
३, विशेष देखिए—कुटुम्बशास्त्री का वेदान्तांक (कल्याण) के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद लेख, पृष्ठ २७३।
४. शा०भा०, मा० का० २।४।
५. ब्र०सू०, शा० भा, २।२।२९।
६. गौ० का०, २।४।
७. स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथाविश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥—मा० का० २।३१।

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहाँ माया को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है,[1] वहाँ अजातवादी गौडपादाचार्य ने माया को असत् ही कहा है।[2] इस प्रकार गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी यत्किंचित् भेद है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गौडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के मूल सिद्धान्तों में ऐक्य होने पर भी दोनों के दृष्टिकोण में किंचित् भेद है। शंकराचार्य की तरह गौडपादाचार्य भी अद्वैतवादी हैं, परन्तु उन्होंने अद्वैतवाद का समर्थन अजातवाद के सहारे किया है और शंकराचार्य ने अनिर्वचनीयवाद के आधार पर। दोनों ही मायावादी भी हैं, परन्तु एक (गौडपादाचार्य) की माया असत् है और दूसरे (शंकराचार्य) की माया सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीया है।

---

१. महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा —विवेकचूडामणि १११।
२. सा च माया न विद्यते। —गौ० का० ४।५८।

अष्टम अध्याय

(उपसंहार)

अद्वैतवेदान्त पर एक विहंगम दृष्टि

इस प्रबन्ध के अन्तर्गत अभी तक हमारा प्रयत्न अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करने का रहा है। अपने इस प्रयास में हमारी दृष्टि अपेक्षानुसार सर्वथा आलोचनात्मक रही है। फलतः अद्वैतवाद सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन करते समय, इन पंक्तियों का लेखक इस परिणाम पर पहुंचा है कि अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग एवं सैद्धान्तिक प्रतिपादन तो शंकराचार्य ने ही किया है, परन्तु इस सिद्धान्त की बीजात्मक पृष्ठभूमि ऋग्वेद से ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार इस प्रबन्ध में, ऋग्वेद से लेकर शंकराचार्य के उत्तरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों एवं आधुनिक काल के विनोबा प्रभृत्ति दार्शनिकों के काल तक का, अद्वैतवाद का ऐतिहासिक विकासक्रम तो सप्रमाण विवेचित हुआ ही है, साथ ही भारतीय—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियों, क्सेनोफेन, डील्स, परमेनिद्, जेनो, प्लेटो एवं अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों, इस्लामी दर्शन-पद्धति एवं डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्निज, कान्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल तथा शोपेनहार प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ अद्वैतवाद का साम्यसम्बन्ध एवं वैषम्य देखना भी इस अध्ययन की प्रमुख दिशा रही है। दूसरे शब्दों में, उक्त दिशा इस अध्ययन के विविध तुलनात्मक पक्षों में से एक पक्ष है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रियास्वरूप पुष्पित-पल्लवित होने वाली विभिन्न वैष्णवपद्धतियों के प्रवर्तक रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभुचैतन्य, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ-साथ इन सिद्धान्तों के साथ अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की तुलनात्मक समीक्षा भी इस अध्ययन के अन्तर्गत की गई है। इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए तथा अद्वैतसम इतर दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर अद्वैतवाद के भ्रम निवारण के लिए, इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद तथा शाक्तद्वैतवाद, बौद्धविज्ञानवाद, शून्यवाद, योगवासिष्ठगत कल्पनावाद, गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद सिद्धान्तों की स्थापना की गई है और इन सिद्धान्तों के साथ शांकर अद्वैतवाद की समताओं एवं विषमताओं पर भी विचार किया गया है। प्रमुखतया ये विचार सूत्र ही प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठाधार रहे हैं। उपर्युक्त विचार सूत्रों की समालोचनात्मक एवं वैज्ञानिक व्याख्या के यथाशक्ति सम्पन्न करने का प्रयास तो किया जा चुका है, अब उपसंहारात्मक दृष्टि से यहां उपर्युक्त विचार सूत्रों की व्याख्या द्वारा उपलब्ध निर्णयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाएगा।

संहिताएं भारतीय वाङमय की प्राचीनतम निधि हैं। जब हम संहिताओं में अद्वैत-सिद्धान्तसम्बन्धी विचारों की खोज करते हैं, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद या आत्मवाद का स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक उल्लेख न होने पर भी इनमें उत्तरोत्तर अद्वैतवाद की मूल पृष्ठभूमि अवश्य मिलती है। इतना ही नहीं, अद्वैत सिद्धान्त की पोषक मायावाद आदि विचारधाराओं का मूल स्रोत भी संहिताओं में मिलता है। इम्पीरियल गजेटियर के निम्नोद्धृत कथन में भी यही आशय निबद्ध है।

Even at this time the deepest thinkers began to see dimly that the Atman, or spirit, pervaded all things and that the world and even the gods themselves were but menifestations of it.[१]

इस लेखक के मतानुसार संहिताओं के विविध अद्वैतपोषी तत्त्वों के अतिरिक्त संहितागत देवतावाद में भी अद्वैतवाद की बीजात्मक पृष्ठभूमि मिलती है।

ऋग्वेद में दार्शनिक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से नहीं उपलब्ध होता, किन्तु शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म शब्द का दार्शनिक अर्थ में व्यवहार मिलता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय एवं पंचविंशादि अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अद्वैतवाद सिद्धान्त के स्पष्ट बीज मिलते हैं। इस प्रकार संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों के अद्वैतिक विचार कुछ अधिक स्पष्ट एवं सिद्धान्तपूर्ण हैं।

कदापि न हो पाता। अतः इस विषय में यह लेखक प्रो० कोलब्रुक एवं मैक्समूलर के इस मत से सहमत है कि प्राचीन उपनिषदों में मायासम्बन्धी विचारधारा का विकास जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इस प्रकार उपनिषदों में अद्वैतवाद दर्शन का स्वरूप देखने पर, उनमें अद्वैतवाद से सम्बन्धित-आत्मवाद, जीव, जगत्, कार्य-कारणवाद एवं जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति आदि विभिन्न सिद्धान्तों का स्पष्ट एवं विकसित स्वरूप मिलता है।

अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि के रूप में बादरायण के ब्रह्मसूत्र का योगदान महान् है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत जगत् प्रपंच के मिथ्यात्व, मायात्व एवं ब्रह्म की परमार्थसत्यता का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। यह बात दूसरी है कि ब्रह्मसूत्र में अद्वैतवाद के प्रमुख मायासम्बन्धी विचार का उल्लेख केवल एक बार (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) ही मिलता है और वहां भी माया का अर्थ उत्तरकालिक अद्वैती आचार्यों द्वारा गृहीत सदसद्विलक्षणा 'अनिर्वचनीया' माया न होकर, स्वाप्निक प्रपंच मात्र है। कुल मिलाकर, ब्रह्मसूत्र अद्वैती शंकराचार्य के सिद्धान्तों का मूल पृष्ठाधार है। इसके अतिरिक्त शाण्डिल्य सूत्रादि में भी अद्वैतवाद से सम्बन्धित कतिपय विचार सूत्र उपलब्ध होते हैं।

अद्वैतवाद के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से पुराण साहित्य का महत्त्व भी किसी प्रकार कम नहीं है। पुराण साहित्य भारतीय धर्मदर्शन का वह रम्य कानन है, जिसमें धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के असंख्य सुतरू वर्तमान हैं। फलतः, पुराणों के अन्तर्गत सामाजिक एवं अन्य विषयों के साथ-साथ अद्वैतवाद का निरूपण शताधिक स्थलों पर मिलता है। पुराणों जैसे प्रवृत्तिप्रधान साहित्य में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का सांगोपांग एवं सैद्धान्तिक प्रतिपादन खोजना समुचित नहीं प्रतीत होता। इसीलिए पुराण साहित्य के अन्तर्गत एकमात्र अद्वैतवाद सिद्धान्त का समन्वयात्मक प्रतिपादन नहीं मिलता। वैसे, अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म, जीव, जगत्, आत्मवाद, विवर्तवाद एवं अध्यारोपवाद आदि सिद्धान्तों का निर्देश पुराण साहित्य के अन्तर्गत प्रचुर रूप में मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अद्वैतवाद का प्रमुख पृष्ठाधार मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत यद्यपि अद्वैत शब्द का उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु 'ब्रह्म' का प्रयोग अनेक बार हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मणा', 'ब्रह्मणः' आदि शब्द भी गीता में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। हमारे विचार से श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त की प्रामाणिक एवं सैद्धान्तिक विचारधारा का समन्वयात्मक निरूपण प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत ज्ञानकर्मसमुच्चय का निरूपण किया गया है। 'सर्वोपनिषदो गावः' के अनुरूप गीता तो उपनिषदों का ही सार है। अतः गीता में अद्वैतवेदान्त का निरूपण मिलना स्वाभाविक ही है। इसीलिए अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य शंकर ने अपने भाष्यग्रन्थों में स्थान-स्थान पर गीता के उद्धरण दिए हैं। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता भी अद्वैत सिद्धान्त का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। स्वयं शंकराचार्य का गीता पर भाष्य लिखना ही उक्त तथ्य का प्रमाण है।

अद्वैतवादी शंकराचार्य एक महान् तान्त्रिक एवं शक्तितत्त्व के उपासक थे, यह एक सुविदित तथ्य है। इतना ही नहीं, उन्होंने सौन्दर्यलहरी प्रभृति कई-एक तन्त्र ग्रन्थों का

---

१. देखिए—श्रीमद्भगवद्गीता—३।१५, ४।२४, ४।३१, ५।६, ५।१६, ७।२६, ८।१, ८।३, ८।१३, ८।२४, १०।१२, १३।१२, १३।३०, १४।४, १८।५।

निर्माण भी किया था। साधनापक्ष के अतिरिक्त तन्त्र का दर्शन पक्ष तो अद्वैतवाद का ही समर्थक है। इसीलिए तान्त्रिकों का दार्शनिक सिद्धान्त भी शक्त्यद्वैतवाद के नाम से प्रचलित है। शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत शक्ति को ब्रह्म रूप ही कहा गया है। इस प्रकार तन्त्र के दार्शनिक पक्ष के अन्तर्गत शिव और शक्ति का अविनाभावसम्बन्ध भी अद्वैतवाद का ही पोषक है। परन्तु शांकर अद्वैतवाद तान्त्रिक अद्वैतवाद से सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न है, यह तथ्य भी उल्लंघनीय नहीं है। उदाहरण के लिए, अद्वैतवादी की सदसद्विलक्षणा अनिर्वचनीया माया की तरह शक्त्यद्वैतवादी की 'शक्ति' अनिर्वचनीया नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन सप्तम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन शास्त्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय ग्रन्थ है। योगवासिष्ठ के अन्तर्गत अद्वैतदर्शनसम्बन्धी प्रायः सभी सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। परन्तु योगवासिष्ठ पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिए शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठ के अद्वैतवाद में भी कुछ भेद हो गया है। शांकर मायावाद के विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् को 'कल्पना' मात्र सिद्ध किया गया है। अतएव योगवासिष्ठ का सिद्धान्त मायावाद न होकर कल्पनावाद है। इस विषय की तुलनात्मक समीक्षा भी सप्तम अध्याय के अन्तर्गत की गई है। परन्तु शंकराचार्य एवं योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों में भेद होते हुए भी यह निःसंकोच स्वीकार्य होना चाहिए कि योगवासिष्ठ में शांकर अद्वैत-दर्शन की विस्तृत पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्यादि कुछ ऐसे ऋषि-महर्षि भी मिलते है, जिनकी उक्तियों में अद्वैतवाद की अनेक अस्त-व्यस्त एवं असैद्धान्तिक विचार-रेखाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बोधायन, उपवर्ष, गुहेदव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दी, टंक, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त एवं सुन्दर पाण्ड्य आदि कतिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं, जिनकी विचारोक्तियों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीज मिलते हैं। इन आचार्यों में शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद अद्वैत दर्शन के अत्यन्त प्रमुख आचार्य हैं। अद्वैतवाद सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित प्रतिपादन का भार सर्व प्रथम आचार्य गौडपाद ने ही संभाला था, जिसको आगे चलकर शंकराचार्य ने पूर्ण रूप से वहन किया था। प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि शंकराचार्य को अद्वैतवाद की पूर्ण सैद्धान्तिक प्रस्थापना के लिए गौडपादाचार्य की दार्शनिक देन के रूप में, अद्वैत दर्शन की एक संक्षिप्त रूपरेखा उपलब्ध हुई थी। इसीलिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रमाण रूप से भी गौडपादाचार्य को उद्धृत किया है। परन्तु जैसा कि सप्तम अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, गौडपादाचार्य के अजातवाद एवं स्वप्नवादपोषित अद्वैतवाद एवं शंकराचार्य के मायावाद समर्थित अद्वैतवाद में भी अन्तर आ गया है।

जैसा कि, अभी तक उपसंहृत विषय से स्पष्ट हुआ है, शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अद्वैतवाद दर्शन के लिए उत्तरोत्तर सघन पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई थी, परन्तु शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्त के सिद्धान्त में अद्वैत दर्शन की पूर्ण व्यवस्थित एवं समन्वित सिद्धान्त योजना का अभाव था। इसी की पूर्ति शंकराचार्य ने की थी। शंकराचार्य ने मायावाद से पुष्ट अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना करके एक ओर तो उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र का समन्वित दर्शन प्रस्तुत किया था और दूसरी ओर अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म ईश्वर, जीव, जगत्, माया एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों की सामंजस्यपूर्ण प्रतिष्ठा की थी। शांकर अद्वैतवाद का सांगोपांग विवेचन तृतीय

अध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की विशेषताओं का निरूपण इसी अध्याय में आगे किया जाएगा।

शंकराचार्य के पश्चात्‌वर्ती अद्वैतवाद के समर्थक एवं प्रतिपादक आचार्यों में, सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दबोधभट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मयति, विमुक्तात्मा, चित्सुख, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि आचार्य प्रमुख हैं। यद्यपि ये आचार्य अद्वैतवाद के ही समर्थक हैं, परन्तु ब्रह्मवाद, अधिष्ठानवाद, जीववाद, मायावाद एवं मुक्ति प्रभृति अनेक सिद्धांतों के सम्बन्ध में उपर्युक्त आचार्यों में से कतिपय आचार्यों का दृष्टिकोण शंकराचार्य के दृष्टिकोण से कहीं-कहीं भिन्न हो गया है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त गंगापुरी भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्ष मिश्र रामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्दगिरि, अखण्डानन्द, मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रंगराजाध्वरी, अप्पय दीक्षित, भट्टोजी दीक्षित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठ सूरि, सदानन्द योगीन्द्र आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, कश्मीरक सदानन्दयति, रंगनाथ, अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्न दीक्षित आदि आचार्यों की भी अद्वैत वेदान्त को एक समृद्ध देन प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के अद्वैत दर्शन के शास्त्रीय विचारकों एवं लेखकों में, महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री प्रमुख हैं। उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी के नयी परम्परा के अद्वैती दार्शनिकों में, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्दघोष एवं विनोबा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे तो, टैगोर एवं महात्मा गांधी आदि विचारकों पर भी औपनिषद वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता ही है। वर्तमान में, डा० राधाकृष्णन् एवं महामहोपाध्याय, गोपीनाथ कविराज आदि विद्वान् भी अद्वैत वेदान्त की इतिहास परम्परा में अपना स्वतन्त्र स्थान रखते हैं।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली वैष्णव दर्शन पद्धतियों के जन्म दाता आचार्यों में, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण अत्यंत प्रमुख हैं। शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण इन आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण का शांकर अद्वैतवाद के विरुद्ध होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों ने शांकर दर्शन का ही आधार लेकर अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना की थी। अतएव शांकर अद्वैतवाद एवं उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों में साम्य पाया जाना भी स्वाभाविक ही है। इस साम्य का उल्लेख षष्ठ अध्याय में हो चुका है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद का वैष्णव आचार्यों के विशिष्टाद्वैतवाद., द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि सिद्धान्तों पर प्रभाव भी परिलक्षित होता है। विविध वैष्णव सिद्धान्तों पर अद्वैतवाद के प्रभाव का उल्लेख भी षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के अतिरिक्त कतिपय अन्य ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त भी मिलते हैं, जिन्हें समालोचकों ने अद्वैतवाद का ही रूप दिया है। परन्तु यह सिद्धान्त शांकर अद्वैतवाद से भिन्न हैं। यहां इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अंगुलिनिर्देश मात्र ही पर्याप्त होगा।

काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य वसुगुप्त द्वारा प्रवर्तित स्पन्दवाद एवं सोमानन्दनाथ

द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त, अद्वैतवाद के अधिक समीप हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वयं माधवाचार्य ने स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् समुचित विवेचन न करके दोनों को मिलाकर एक कर दिया है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है। जहां अद्वैतवाद और स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के वैषम्य की बात है, शैव दर्शन के यह दोनों सिद्धान्त अद्वैतवाद से बहुत कुछ भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है, परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के विपरीत स्पन्द-दर्शन में जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। इसी प्रकार अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी परमेश्वर की उपादान कारणता अभीष्ट नहीं है।

बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद को भी अनेक समालोचकों ने अद्वयवाद का रूप दिया है। परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। जहां विज्ञानवादी के मतानुसार जगत् विज्ञप्ति मात्र है, वहां अद्वैतवादी दर्शन के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। इसी प्रकार शून्यवाद के विरुद्ध अद्वैतवाद के अन्तर्गत परमार्थ सत्य शून्य न होकर सत्-तत्त्व-स्वरूप ब्रह्म है। इन सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन सप्तम अध्याय के अन्तर्गत हो चुका है।

इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का सिद्धान्त पूर्णतया न भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद है न गौडपादाचार्य का अजातवाद, न बौद्धों का विज्ञानवाद और न शून्यवाद, न योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, न काश्मीर शैव दर्शन का स्पन्दवाद और न प्रत्यभिज्ञावाद, और न शाक्तों का शक्त्यद्वैतवाद। उपर्युक्त सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन भी सप्तम अध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की स्वतन्त्र धारा तो ऋग्वेद से उत्पन्न हुई है और संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता एवं तन्त्रादि तथा बादरि प्रभृति प्राचीन आचार्यों से सार ग्रहण करती हुई शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थों में आकर ज्ञान गंगा के रूप में प्रवाहित हुई है।

अब यहां अद्वैतवाद एवं न्यायादि दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

वैसे तो, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से सैद्धान्तिक विरोध स्पष्ट ही है, परन्तु इन सभी दर्शनपद्धतियों के सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से उत्तर मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्त अद्वैतवाद के बहुत कुछ समान हैं। न्याय और अद्वैत वेदान्त की मुक्ति, वैशेषिक का वस्त्ववस्तुविपर्यय और अद्वैत वेदान्त का अध्यारोपवाद, सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अविद्या एवं अध्यास के सिद्धान्त, योगदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त के चित्तवृत्तिनिरोध तथा अविद्या एवं अध्यारोप के सिद्धान्त एवं पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का यह सिद्धान्त कि ईश्वरार्पण बुद्धि से क्रियमाण कर्म मोक्ष का हेतु होता है, आदि अनेक सिद्धान्त हैं जिनमें यत्किंचत् भेद होते हुए भी पर्याप्त साम्य मिलता है। इस साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत हमने यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों की अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों से तुलना करते समय अनेक स्थलों पर सिद्धान्त साम्य देखा है। इस सम्बन्ध में हमने पर्मेनाइडीज़, ज़ीनो, परमेनिड्, जेनो, प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों से साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के फलस्वरूप हम यहां केवल यही

कह सकते हैं कि यूनानी दर्शन पर भारतीय दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव है और इस प्रभाव को मेगस्थनीज प्रभृति यूनानियों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

अद्वैतवाद का डेकार्ट, स्पिनोज़ा एवं लाइब्निज आदि पश्चिमी विद्वानों पर भी अक्षुण्ण प्रभाव मिलता है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्नज़, बर्कले, कान्ट, फिकते, शेलिंग, हेगल एवं शोपेनहार के दार्शनिक सिद्धान्तों की अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ तुलना करते समय उक्त दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट किया जा चुका है।

स्पिनोज़ा का स्वतन्त्रसत्वसम्बन्धी सिद्धान्त और अद्वैतवाद का ब्रह्मतत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त, लाइब्निज का 'मैटिरियाप्राइमा' वाला सिद्धान्त और अद्वैतवादी का मायाविषयक सिद्धान्त, अद्वैतवादी का दृष्टि-सृष्टिवाद और बर्कले का जगत् सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त, कान्ट का व्यावहारिक सत्ता और वस्तुसारात्मक सत्ता का सिद्धान्त और अद्वैतवादी का व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता का सिद्धान्त, फिकते का 'प्रतिनिवृत्ति' का सिद्धान्त और अद्वैतवादी का माया सम्बन्धी सिद्धान्त, शेलिंग का 'डार्कग्राउण्ड' और अद्वैतवादी का अविद्याविषयक सिद्धान्त, हेगल और अद्वैतवेदान्त का परमात्मतत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त और शोपेनहार और अद्वैतवाद का संकल्पवाद का सिद्धान्त, आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें परस्पर यत्किंचित् विरोध होने पर भी अत्यन्त साम्य मिलता है।

अद्वैतवाद और इस्लामी दर्शन के अनेक सिद्धान्तों में भी पर्याप्त साम्य मिलता है। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त का 'यतोवाइमानि-भूतानिजायन्ते' से सम्बन्धित सृष्टिसिद्धान्त कुरान के 'इन्नालि'ल्लाह् वइन्ना इलैहे राजयून' सिद्धान्त के ही समान है, जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि हम लोग परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और परमात्मा में ही जाएंगे। यही नहीं, इस्लामी दर्शन का 'हमावुस्त' (सब कुछ वही है) का सिद्धान्त भी अद्वैतवादी के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ही समान है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयावस्थाओं के समान ही इस्लामी दर्शन में—नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत अवस्थाएं मानी गई हैं। इस प्रकार के अनेक स्थल प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की तुलना करते समय उद्धृत किए जा चुके हैं। इस लेखक का विचार तो यह है कि यदि भारतवर्ष के मुसलमान एवं हिन्दू अपने दार्शनिक ग्रन्थों के सिद्धान्तों को उचित रूप से समझ लेंगे तो भारतवर्ष की इन दो प्रधान जातियों का वैमनस्य पूर्ण रूप से मिट जाएगा।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्व मीमांसा से ही नहीं है, अपितु, यूनानी दर्शन एवं अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों तथा इस्लामी दर्शन से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दिशा में जैसा कि कहा जा चुका है, अद्वैत दर्शन का प्रभाव भी उपर्युक्त दर्शनों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

अद्वैतवाद की विशेषताएं

वेदान्त दर्शन के सम्राट् सिद्धान्त अद्वैतवाद की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं. जो अन्य विविध दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होतीं। यह विशेषताएं ही अद्वैत दर्शन के महत्त्व की प्रकाशिका हैं। यहां इन विशेषताओं का संक्षेप में निरूपण किया जाएगा।

(१) ब्रह्म की सगुणता एवं निर्गुणता

वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं— एक 'पर' और दूसरा 'अपर'। 'परब्रह्म' निर्गुण और अपर ब्रह्म सगुण है। अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर संज्ञा दी गई हैं। वस्तुतः, यदि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की सत्ता न स्वीकार की गई होती तो देवादि की उपासना के लिए कोई स्थान न रह जाता। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके अद्वैतवादियों ने उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि सम्भव मानकर ईश्वर उपासना की संगति सिद्ध की है। इससे अद्वैत वेदान्त की समन्वयवादिता भी स्पष्ट होती है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन की समन्वयवादिता के कारण ही इस दर्शन में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, तान्त्रिकों एवं मान्त्रिकों तथा अन्य आगामी सिद्धान्तों के लिए भी स्थान प्राप्त होता है।

(२) सृष्टिवैषम्य और ईश्वर

लोक में सृष्टिवैषम्य स्पष्ट है। इस वैषम्य के कारण ही संसार में कोई राजा, कोई भिक्षुक, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई मुमुक्षु और कोई बुभुक्षु दिखाई पड़ता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सृष्टिवैषम्य ईश्वर का दोष नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर धर्म एवं अधर्म की अपेक्षा करके ही विषम सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार सृष्टि वैषम्य का मूल धर्माधर्म मानने के कारण, अद्वैत वेदान्त में कर्म का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है।

(३) आचार का महत्त्व

अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति की उपलब्धि सिद्ध की गई है। इस दृष्टि से तो समस्त कर्मजाल अविद्या है, परन्तु अद्वैतवाद दर्शन के प्रतिपादक शंकराचार्य ने परमसाध्य मोक्ष की उपलब्धि में कर्म के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कर्म द्वारा संस्कृत होने पर ही विशुद्धात्मा आत्मबोध करने में समर्थ होता है।[1] आत्म दर्शन के लिये चित्तशुद्धि, उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार कि मुखदर्शन के लिए दर्पण का नैर्मल्य आवश्यक होता है। इस प्रकार कर्म का महत्त्व स्वीकार करते हुए अद्वैतवादियों ने भारतीय दर्शन में अध्यात्म एवं आचार पक्ष का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। अद्वैत दर्शन में जिस काम्यरहित कर्म का समर्थन किया है, वह भारतीय आचारवाद का ही समर्थक है। मैं इस सम्बन्ध में प्रो० डायसन के इस मत से सहमत नहीं हूं कि उपनिषदों में आचारतत्त्व की प्रतिष्ठा की न्यूनता है।

(४) सत्तात्रय की कल्पना

प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं की स्थापना अद्वैतवाद दर्शन की अत्यंत उपयोगी विशेषता है। इस सत्तात्रय की कल्पना के द्वारा न अद्वैतवाद की हानि होती है और न जगत् की सत्यता का निराकरण होता है। शुक्ति-रजत प्रातिभासिक सत्ता का, जगत् व्यावहारिक सत्ता का और ब्रह्म परमार्थ सत्ता का उदाहरण है। व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य ४।४।२२।

होने के कारण जगत् शून्यवादी की तरह शून्य अथवा नितान्त असत् न होकर सत्य है। परन्तु जगत् परमार्थ दृष्टि से सत् भी नहीं है। परमार्थावस्था में तो जगत् की व्यावहारिक सत्यता का ही निराकरण किया गया है। यही अद्वैत दर्शन का वैशिष्ट्य है। इससे जगत् की व्यावहारिक सत्यता की भी रक्षा हो जाती है और अद्वैतवाद की पुष्टि भी हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन की यह विशेषता उसे व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करती है।

(५) मायावाद की देन

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन की प्रमुख विशेषता है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किए बिना अद्वैतवाद का प्रतिपादन कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव ही कहा जाएगा। शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप माया सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवर्चनीय बतलाई गई है। इस प्रकार अनिर्वचनीय होने के कारण अद्वैतवादी की माया स्वप्न, गन्धर्व नगर, एवं शशश्रृंग आदि की कल्पना से भिन्न है। इसी माया शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर सृष्टि का निर्माता है। माया के कारण ही परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है।

(६) जगत् का मिथ्यात्व

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् को मिथ्या सिद्ध किया गया है। परन्तु यहां यह विचारणीय है कि अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत जगत् शशश्रृंग अथवा आकाश कुसुम के समान अलीक नहीं है, अपितु जैसा कि कहा जा चुका है, व्यावहारिक दृष्टि से सत् है। अतः अद्वैत-वेदान्त में मिथ्यात्व से सदसद्विलक्षणत्व का ही आशय ग्राह्य है। शांकर वेदान्त का यह मिथ्यात्व अनिवर्चनीयत्व पर आधारित है।

(७) विवर्तवाद

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में विवर्तवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन का अनुपम सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अनुरूप जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि बुद्बुदों एवं तरंगादि की सत्ता जल से पृथक् नहीं है। जिस प्रकार जल तरंगादि को जलभिन्न देखना अज्ञान बुद्धि है, उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् को देखना भी अविद्या है। यही विवर्तवाद का सिद्धान्त हैं। अद्वैतमण्डन के लिए यह सिद्धान्त महान् उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(८) अधिष्ठानवाद और अध्यासवाद

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठानवाद और अध्यासवाद के आधार पर ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। इस सिद्धान्तद्वय के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास है। अध्यास अविद्या का रूप है और जगत् का उत्पादक है। परन्तु मृगतृष्णा आदि अनुभव भी बिना अधिष्ठान के नहीं उत्पन्न हो सकते, इसीलिए अद्वैतवाद दर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से असत् जगत् की कल्पना भी अधिष्ठान के अभाव में सम्भव नहीं है। अतएव अद्वैत वेदान्त में, आध्यासिक जगत् की सत्ता सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादियों ने ब्रह्म को अधिष्ठान कहा है।

(९) मुक्ति का सिद्धान्त

मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की योजना एक अनुपम देन है। आत्मबोध हो जाने पर, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्ण न होने के कारण शरीर धारण करने वाला जीव भी अद्वैत वेदान्त में मुक्त कहलाता है। जब जीव के प्रारब्ध कर्मों का भी भोग समाप्त हो जाता है तो वह शरीरत्याग होने पर विदेहमुक्त कहलाता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तसम्मत मुक्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वारा एक ओर तो कर्म-फल-भोग के न्याय का निर्वाह हो जाता है और दूसरी ओर इसी जगत् में अज्ञानबन्धन से मुक्ति सम्भव होने के कारण भारतीय दर्शन की प्रामाणिकता का समर्थन हो जाता है।

(१०) अनिर्वचनीयख्यातिवाद

रामानुजाचार्य के सत्ख्यातिवाद, मीमांसक के अख्यातिवाद नैयायिक के अन्यथा-ख्यातिवाद, बौद्धों के आत्मख्यातिवाद एवं असत्ख्यातिवाद के विपरीत अद्वैतवादी ने अनिर्वच-नीयख्यातिवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त के अनुसार शुक्ति रूप अधिष्ठान में अध्यस्त रजत सत् अथवा असत् न होकर सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त का विशद विवेचन चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस प्रकार अद्वैतवाद दर्शन की उपर्युक्त कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो इसके सैद्धान्तिक स्वरूप को महान् उपयोगी एवं अपेक्षित महत्त्व प्रदान करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण अद्वैतवाद की महत्ता अन्य विविध दार्शनिक सिद्धान्तों से बढ़ी-चढ़ी है।

अद्वैतवाद का दार्शनिक एवं व्यावहारिक महत्त्व

दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों आलोचनादृष्टियों से अद्वैतवाद का महत्त्व परम श्लाघ्य है। अद्वैतवाद की दार्शनिक महत्ता का एक पक्ष तो इसी से सिद्ध है कि प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण भारतीय दर्शन पद्धतियों से अद्वैतवाद के सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतीति होती है। कदाचित् ही कोई भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा हो, जिसमें अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिबिम्ब न मिलता हो। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत हम विशद रूप से अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का, विविध भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ साम्य एवं सम्बन्ध स्पष्ट कर चुके हैं। अद्वैतवाद के दार्शनिक महत्त्व का दूसरा पक्ष उसकी समन्वयवादिता है। अद्वैतवाद की इस समन्वयवादिता के भी दो रूप मिलते हैं। एक समन्वयवादिता तो वह है, जिसके कारण अद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त भारतीय दर्शन पद्धतियों को स्थान प्राप्त है और दूसरी समन्वयवादिता वह है, जिसके कारण अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं प्रतीत होता। अद्वैतवाद सिद्धान्त के दार्शनिक महत्त्व का तृतीय पक्ष परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया एवं स्वरूप का निरू-पण है। वृत्तिनिर्माण द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति का उच्छेद एवं तूलाज्ञान का विनाश करके परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की जो प्रक्रिया अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत बतलाई गई है वह इस दर्शन के अध्यात्म पक्ष को एक व्यवस्थित एवं आकर्षक रूप प्रदान करती है। इसके साथ-ही साथ अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म की अद्वैतता के द्वारा परमात्म साक्षात्कारका जो स्वरूप निश्चित किया गया है, वह बाबुस्मादि की तरह स्थूल कारणों की अपेक्षा न रखता हुआ

चरमसूक्ष्मता का रूप है। अतः यह स्पष्टतया स्वीकार होना चाहिए कि ससीम आधारों पर आधारित सायुज्यादि से प्राप्त आनन्द की अपेक्षा असीम तत्त्व की उपलब्धि से प्राप्त आनन्द कहीं अधिक व्यापक, शाश्वत एवं सघन होगा। इस प्रकार अद्वैतवाद का दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट है।

अद्वैत दर्शन अद्भुत आध्यात्मिक दर्शन होने के साथ-साथ एक विलक्षण व्यावहारिक दर्शन या जीवनदर्शन भी है। अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता का समर्थन करना उसके व्यावहारिक दर्शन या जीवन दर्शन होने की ही मूल पृष्ठभूमि है। अद्वैतवादियों द्वारा जगत् की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना होने के कारण ही इस दर्शन में जीवन-दर्शन के उपयोगी तत्त्वों—जैसे, दया, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा एवं विश्वबन्धुता का समावेश मिलता है। ऐसे असंख्य तत्त्वों का मूल अद्वैतवेदान्तदर्शन का एकात्मवाद का सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत ईर्ष्या, द्वेष, अस्मिता एवं असूया आदि दुर्भावों को किंचित् मात्र भी स्थान नहीं है।

अद्वैतवादियों ने कर्म द्वारा चित्त शुद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार करके अद्वैत दर्शन को पूर्णतया व्यावहारिक दर्शन बना दिया है। अद्वैतवाद के आचार पक्ष के फलस्वरूप पहले मनुष्य एकात्मवाद पर आधारित सत् कर्मों के द्वारा आदर्श नागरिक बनता है और फिर इसी जीवन में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुयायी का उद्देश्य जहां परमसत्य की जिज्ञासा एवं मुक्त होना है, वहां आत्मसंयम, धैर्यशालिता एवं चित्तशान्ति आदि भी उसकी प्रमुख आवश्यकताएं हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रख्यात समालोचक विद्वान् प्रो० उमेशचन्द्र भट्टाचार्य के नीचे उद्धृत कथन में भी यही आशय निहित है—

> The true requirements of a Vedantist according to him, were self restraint, tranquility, etc. and a desire to know the truth and be liberated.[1]

इस प्रकार अद्वैत दर्शन एक सफल जीवन दर्शन भी है। अद्वैत दर्शन सम्मत जीवनदर्शन की यह विशेषता विचार करने योग्य है कि इसके अनुसार जीव को इसी लोक में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति सम्भव बतलाई गई है। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई समालोचक अद्वैत दर्शन को पलायनवादी कहे तो इससे तो उस समालोचक की ही पलायनवादिता का अनुमान लगाना औचित्यपूर्ण होगा।



---

१. देखिए—Indian Historical Quarterly, 1920 के अन्तर्गत उमेशचन्द्र भट्टाचार्य का Vedanta and Vedantist लेख।

परिशिष्ट—१

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृतग्रंथ :—

अग्निपुराण
अथर्वशीर्ष
अद्वैतचन्द्रिका
अद्वैत तत्त्व सुधा (प्रथम तथा द्वितीय भाग)
अर्थसंग्रह
अद्वैत ब्रह्मसिद्धि
अद्वैत सिद्धि
अहिर्बुध्न्य संहिता
अणुभाष्य, प्रकाश टीका (पुरुषोत्तमाचार्य)
अमरकोष
अभिधावृत्तिमातृका
आगम प्रामाण्य
आत्ममीमांसा
आत्मबोध (ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना)
आलवन्दार स्तोत्र (यामुनाचार्य)
इष्टसिद्धि
ईशावास्योपनिषद्
ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्
ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र
उपदेश साहस्त्री (निर्णय सागर)
ऋग्वेद संहिता
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेयारण्यक
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्
ऐतरेयोपनिषद् शांकर भाष्य
कठोपनिषद्
कर्पूरादिस्तवराज
कुलार्णव तन्त्र
कुलचूडामणि तन्त्र
कूर्म पुराण
केनोपनिषद्
कैवल्योपनिषद्
कौपीतकि ब्राह्मण
कौपीतकि उपनिषद्
क्षेमराजकृत उद्योत टीका
खण्डनखण्डखाद्य (लक्ष्मण शास्त्री सम्पादित बनारस १९१४)
ख्यातिवाद (शंकर चैतन्य-भारती, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, काशी)
गरुडपुराण
गन्धर्व तन्त्र
गौडपादकारिका
धर्मशर्माभ्युदय
चिद्गगनचन्द्रिका (आगमानुसंधान-समिति, कलकत्ता १९३७)
चिन्तामणि रहस्य
चैतन्यचरितामृत
छान्दोग्योपनिषद्
तर्कालंकार भाष्य
तन्त्रालोक (काश्मीर सिरीज)
तर्कसंग्रह
तर्कदीपिका
तत्त्व रहस्य दीपिका
तत्त्व कौमुदी

तत्त्व वैशारदी
तत्त्व प्रदीपिका
तत्त्व बोध
तत्त्वनिर्णय (मध्वाचार्य)
तन्त्र रहस्य
तत्वार्थ दीपखण्ड
तांड्य ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीयारण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिंशिका भाष्य
दशश्लोकी (चौखम्बा संस्करण, १९८५)
दुर्गासप्तशती
देवी भागवत पुराण
देवी भागवत—देवी गीता
दैवत ब्राह्मण
दृग्दृश्य विवेक
नयन प्रसादिनी टीका
नारदपंचरात्र
नारदीय पुराण
नैषधीयचरितम्
नृसिंहतापिन्युपनिषद्
नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्
नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
न्याय सूत्र
न्याय वार्तिकतात्पर्यनिर्णय टीका
न्याय भाष्य
न्याय मंजरी
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
न्याय वार्तिक
न्याय रत्नमाला
न्याय मकरन्द
न्याय रत्नावली
न्याय कन्दली
न्याय दशक (वेदान्त देशिक)
पद्म पुराण
पाराशर संहिता (काशी संस्कृत सिरीज)
[illegible]
पंचविंश ब्राह्मण
पंचपादिका विवरण (विजय नगरम् सिरीज)
पंचदशी (बुद्धि सेवाश्रम, रतनगढ़ सं० २०११)
प्रश्नोपनिषद्
प्रशस्तपादभाष्य
प्रत्यभिज्ञा हृदय
प्रपंचहृदय
प्रकरणपंचिका
प्रभाकरविजय
प्रस्थानरत्नाकर
वाजसनेयी संहिता
वाल्मीकि रामायण
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्रह्मगीता
ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
ब्रह्मसिद्धि
ब्रह्माण्डपुराण
भक्ति मार्तण्ड
भक्ति रसामृतसिन्धु
भागवत तात्पर्यनिर्णय
भामती
भास्करभाष्य
भोजवृत्ति
महाभारत
मत्स्यपुराण
मध्वभाष्य (वेदान्तसूत्र)
महानिर्वाण तन्त्र (गणेश एण्ड कं० मद्रास)
मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट की टीका
महायान सूत्रालंकार
मध्यमकावतार
मध्व बृहद्भाष्य
मध्व सिद्धान्तसार
माण्डूक्योपनिषद्

मार्कण्डेय पुराण
माध्यमिकवृत्ति
माध्यमिककारिका
मानमेयोदय
मानसोल्लास (महादेव शास्त्री संपादित मद्रास, १९२०)
मीमांसा न्यायप्रकाश
मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायण्युपनिषद्
यतिपतिमतदीपिका (ब्रज बी० दास एण्ड कं० बनारस)
यजुर्वेद संहिता (परोपकारिणी सभा, संवत् १९९९, षष्ठ संस्करण)
योगसूत्र
योग भाष्य
योगवासिष्ठ
योगवार्तिक
रत्नप्रभा
रहस्यत्रय
रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
वेदान्तसार (रामानुजाचार्य)
वेदान्त संग्रह (रामानुजाचार्य)
राजमार्तण्ड वृत्ति
रामानुजभाष्य-गीता
लघुचन्द्रिका
लक्ष्मी तन्त्र
ललिता सहस्रनाम
लंकावतारसूत्र (लन्दन, १९२३)
वायुपुराण
वाक्य पदीय
वाचस्पत्यम्
वादावलि
वामन पुराण
विष्णु सहस्रनाम—(शांकर भाष्य)
विष्णु पुराण
विवेक चूडामणि
विवरण प्रमेय संग्रह
वेदान्तसार
वेदान्तकौमुदी
वेदान्तपरिभाषा
वेदान्तकल्पतरु
वेदान्तकल्पलतिका
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली (कलकत्ता १९३१)
वेदार्थसंग्रह
वेदान्तकौस्तुभ
वेदान्तमंजूषा
वैशेषिकसूत्र
शतपथब्राह्मण
शरणागतिगद्यम् (रामानुजाचार्य)
शंकरदिग्विजय
शास्त्रदीपिका
शास्त्रदर्पण (वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्)
शांडिल्यसूत्र
शांकरभाष्य-गीता
शांकरभाष्य-कठोपनिषद्
शांकरभाष्य-बृहदारण्यकोपनिषद्
शांकरभाष्य-गौडपाद कारिका (वाणी विलास संस्कृत ग्रंथमाला, काशी १९४२)
शांकरभाष्य, ईशादिदशोपनिषद्
शिवदृष्टि
शिवपुराण
शिवसूत्र विमर्शिणी
शिवगीता
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड (चौखम्बा बनारस)
शैवभाष्य (श्रीकंठाचार्य)
श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्लोकवार्तिक
श्रीभाष्य
श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भागवत पुराण (श्रीधरी टीकासहित
श्रीरंगगद्यम् (रामानुजाचार्य)
श्रीवचनभूषण
श्रुतिप्रकाशिका
षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति
षट्संदर्भ (जीवगोस्वामी)
सर्वसिद्धान्तसंग्रह

सप्तपदार्थी
सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वाचार्यमतसंग्रह (रत्नगोपाल भट्ट द्वारा संपादित, चौखम्बा बुक डिपो बनारस १९६०)
संक्षेप शारीरक
सामवेद संहिता
साम्यसूत्र (विनोबा)
सायणभाष्य, ऋग्वेद
सायणभाष्य, अथर्ववेद संहिता
सांख्यकारिका
सांख्यसूत्र
सांख्यप्रवचनभाष्य
सिद्धान्तलेशसंग्रह (अच्युत ग्रंथमाला काशी, सं० २०११)
सिद्धान्तजाह्नवी
सिद्धान्तरत्न
सुबोधिनी, भागवत
सूक्ष्मटीका, गोविन्द भाष्य
सूतसंहिता
सौन्दर्यलहरी
स्वर्णसूत्र
स्वच्छन्दतन्त्र
स्पन्दकारिका
स्पन्दकारिका, कल्लट की टीका
स्पन्दकारिका, राम-टीका
स्पन्दकारिका, क्षेमराज की टीका सहित
हलायुधकोष
हलायुधकोषविवृत्ति

(ख) आंग्ल ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

A critical History of Greek-Philosophy. Stace, W.T.
A critical Study of the Sankhya-system. Sovani, V.V.
Agam Shastra of Gaudapada. Bhattacharya, B. University of Calcutta, 1943.
Ancient India. Mccrindle, J.W.
An Introduction to Ancient Philosophy. Armstrong, A.H. Mathuen & Co: London, 1947.
A Practical Sanskrit Dictionary. Macdonell. Oxford University, 1924.
A Study of Kant. Ward, J.
A Study of Sankara Shastri, N. Calcutta, 1924.
Aristotle. Ross, Mathuen, London, 1953.
Brahma Sutra Chatussutri. Sharma, H.D. Oriental Book Agency Poona, 1940.
Bhuler's report for Sanskrit 1875 76
Catalogue of Manuscripts of the India office, Part IV.
Collected works of Sir R.G. Bhandarkar
Vol: II, IV, VII.
Complete Works of Swami Vivekananda,
Vol: II, VII.

Constructive Survey of Upanishadic Philosophy. — Ranade, R.D. Oriental Book Agency, Poona, 1926.
Conception of Divinity in Islam & Upanishads. — Wahid Hussain.
Contemporary Philosophy. — Dutta, D.M. the University of Culcutta 1950.
Critique of Pure reason. (ET) — Meikli John, J.M.D. London, G. Belle & Sons, 1930.
Deussen's System of Vedanta (ET)
Dictionary of Philosophy. — Runes. Vision Press, London.
Early Greek Philosophy. — Burnet, Adam & Charles Black
East & West — Radhakrishnan, S. London Allen & Unwin 1954.
Encyclopaedia of Religion & Ethics. Vol. I, IV, V, VII, IX.
Essays in Zen Buddhism. — Suzuki.
Essays on Truth and reality. — Bradley, F.H.
Evolution of Religion Vol: I — Caird, E.
Fifth Oriental Conference Proceedings Lahore.
Gaudapada — Mahadevan, T.M.P.
Hegal's Lectures on the philosophy of Religon.
Hegal's Logic.
Hibbert Lectures for 1890. — Upton.
History of Bengali Language and Literature. — Sen, D.C.
History of Dharmasastra Vol; I — Kane, P.V. Bhandarkar Oriental Research Instt. Poona.
History of Indian Literature. — Weber.
History of Indian Philosophy Vol: VII. — Belvalkar, S.K. & Ranade R.D.
History of Philosophy, Vol: I&II. — Radhakrishnan, S. Allen & unwin, London.
History of Philosophy. — Schreglar, A. Oliver Boyd, Edinburgh
Idealistic thought of India. — Raju, p.T. London, Allen & Unwin 1952.

Imperial Gazetter of India Vol: I
Indian Antiquary, Oct. 1933.
Indian Historical Quarterly, Vol:
VI, 1920:
Indian Language Literature and Philosophy.
Indian Theism. Nical Mecnical, Oxford University Press.
Indian Thought. Thibaut, G. & JHA, G.N.
Institution of Metaphysics. Ferrier.
Indian Pihlosophy : Vol: I, II, III, IV. Das Gupta, S.N. Cambridge University Press.
Indian Philosophy: Vol: I & II. Radhakrishanan, S. London Allen & Unwn.
Indian Philosophy: Vol: I, II, III, IV, V. Maxmuller, F. Sushil Gupta Calcutta.
Indian Philosophy: Vol: I & II Sinha, J.N. Central Agency, Calcutta.
Jha Commemoration Volume Oriental Book Agency Poona.
J.N. Majumdar's paper on the Philosophical religion & Social Significance of the Tantra Shastra. (July, 1915).
Journal of the Amercian Oriental Society 1911, 1913.
Journal of the Annamalai University, Vol: VI No. 1
Journal of the Buddhist Text Society Vol. II.
Journal of Oriental Research Vol; III.
K B. Pathak Commemoration Volume.
Kant's Metaphysics of Experience Vol: I.
Krishna Swami Aiyangar Commemoration volume.
Lectures on the Philosophy of Religion Vol: I
Lectures of Shri Aurobindo Shri Aurobindo Circle Bombay Second Series)
Lights on Vedanta Upadhyaya, V.P. Chaukhamba-

Sanskrit Series Varanasi, 1952.

Mahamaya — Woodroffee, J. & Mukhyopadhyaya, P.N. Madras, 1954.

Misc. essays Vol: I — Colebrooke.

Modern Buddhism. — Mahamahopadhyaya Shastri, H.P.

Monier Williams Sanskrit English Dictionary. — Oxford Clarendon.

N.B. Utgikar's Report on search For Sanskrit 1883–84.

Outlines of Indian philosophy. — Hiriyanna, M. London Allen & Unwin.

Outlines of the History of Greek Philosophy — Zeller, Routledge & Ragan-paul, 1953.

Patanjal Mahabhashya — Edited by Keilhorn.

Pathway to reality Vo. II — Haldane, Gifford Lctures for 1902- Murray.

Philosophy of Upanishads (ET) — Deussen, P. Edinburgh.

Philosophy of the Upanishads. — Gough.

Philospby of Kant. — Caird, E. Glasgow, James Maclepose 1877.

Philosophy of Religion — Pfleiderer, Willams and Norgate, 1887.

Poona Orientalist Vol. I

Post-Prayer Speech of Vinobaji in Bihar.

Poussin's Opinions.

Principles of Nature and Grace. — Liebniz. Oxford Clarendon 1812,

Principles of Human Knowledge. — Berkley.

Principles of Tantra. — Bhattacharya, S.C. Ganesh and Co; Madras.

Proceedings and Transactions of the Seventh All India Oriental Conference, Baroda, 1933.

Religon and Philosophy of the Veda. — Keith, A.B. *Harward Series Vol: 12.*

Sacred Books of the East. Vol: XXXIV. — Thibaut, *G. Oxford Clarendon Press 1890.*

Sacred Books of the East Vol: XV

Sacred Books of The East Vol : XIX.

The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji. — Tandon, V.N. Rajghat Kashi.
The Vedanta. — Ghate, Bhandarkar Oriental Instt. Poona.
The World as Will and Idea. (E.T.) — Haldane.
The World as Power, Power as Matter. — Ganesh and Co: Madras.
Three Great Acharyas. — Aiyer, C.N. and Tattvabhushan, S. Natesan, Madras.
Three Lectures on the Vedanta Philosophy. — Maxmuller, F. Longman's Green London.
Vaisheshika Philosophy. — Ui.
Vedic Mythology. — Macdonell.
Yoga System of Patanjali. — Woods, The Harvard University Press, 1927.
Yoga Vasishtha and modern Thought. — Atreya, B.L. Indian Book Shop Banaras 1954.

(ग) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

अच्युत — (अच्युत ग्रन्थ माला, काशी)
अद्वैतवाद — गंगाप्रसाद (कला प्रेस इलाहाबाद १९५७)
उपनिषदों का अध्ययन — विनोबा (सस्ता साहित्य मण्डल, १९६१)
कल्याण (वेदान्तांक) — गीताप्रेस, गोरखपुर
कल्याण (उपनिषद् अंक) — गीताप्रेस, गोरखपुर
दर्शन दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन (किताब महल इलाहाबाद, १९४७)
बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (भाग १,२) — भरतसिंह उपाध्याय (बंगाल हिन्दी-मण्डल, कलकत्ता)
बौद्धधर्म दर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५६)
भारतीयदर्शन — डा० उमेश मिश्र (सूचना विभाग, लखनऊ, १९५७)
भारतीयदर्शन — बलदेव उपाध्याय
भारतीयदर्शन शास्त्र — डा० देवराज (हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, १९५०)
भारतीयदर्शन शास्त्र (न्याय वैशेषिक) — डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (बनारस)
भूदानयज्ञ···(साप्ताहिक) १९-५-६५ — अ० भा० स० से० सं० राजघाट वाराणसी
मीमांसादर्शन — डा० मण्डन मिश्र शास्त्री
योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त — डा० भीखनलाल आत्रेय (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

रामकृष्ण लीलाप्रसंग—
(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड) स्वामी सारदानन्द (रामकृष्ण-आश्रम धनतोली, नागपुर)
विचारसागर मनसुख राम सूर्यराम सम्पादित
विनोबासम्वाद व्योहार राजेन्द्रसिंह (अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वाराणसी)
शंकराचार्य डा० राममूर्ति शर्मा (साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ)
सर्वोदय दर्शन दादा धर्माधिकारी (अ० भा० से० सं० राजघाट, वाराणसी)
सूफीमत-साधना और साहित्य रामपूजन तिवारी (ज्ञान मण्डल, बनारस २०१५)
स्थितप्रज्ञ दर्शन विनोबा (सस्ता साहित्य मण्डल)

(घ) बँगला ग्रन्थ :

अद्वैतवाद राजेन्द्रनाथ घोष
वेदान्तदर्शन—अद्वैतवाद आशुतोष शास्त्री
वेदान्तदर्शनेर इतिहास (प्रथम भाग) प्रज्ञानानन्द सरस्वती

(ङ) संस्कृत-जर्मन ग्रन्थ :

सेन्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी बोथलिंक एवं रॉथ

(च) अरबी ग्रन्थ :

कुरान (अंग्रेजी अनुवाद)

परिशिष्ट—२

अनुक्रमणिका

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

ऐ

औ

क

फ

ब

१८६

ल

व

श

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७७	३१	प्रदेशेपूवनन्ता:	प्रदेशेष्वनन्ताः
२८७	३७	देहादेवर्मो	देहादेर्धर्मो
३०१	२७	यान	यानि
३१२	३४	स्वभिनौ	स्वभित्तौ
३१५	२३	ईश्वराद्वैयवाद	ईश्वराद्वयवाद
३१६	३२	onlly	only
३१८	३२	वहि	वंहि
३१९	३२	जाग्रन	जाग्रत्
३२४	३१	विशुद्ध्ते	विशुद्ध्यते
३२५	३७	ब्रह्मवादिना:	ब्रह्मवादिनः
३३६	२९	सुत्तवत	सुत्तन्त
३४०	२४	रमणियां	रमणीयां
३४०	२४	सुरत	सुगत
३४३	१	अद्वत	अद्वैत